समाज-दर्शन की रूपरेखा

मूल लेखक

जे० एस० मेकेंज़ी

रूपान्तरकार

डॉ० अजित कुमार सिन्हा

एम० ए० पी०-एच० डी० (इलिनॉय)

अध्यक्ष : दर्शन विभाग बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी

तथा

भीमराज शर्मा शास्त्री, साहित्यरत्न

राजकमल प्रकाशन

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

●

●

प्रथम संस्करण, १९६२
द्वितीयावृत्ति, १९६५

●

मूल्य :
७ रुपये

●

मुद्रक
[illegible] प्रिंटर्स
दिल्ली

भूमिका

लन्दन स्कूल ऑफ इकनामिक्स एण्ड पॉलिटिक्स के १६१६-१७ के सत्र में दिये गए भाषणों से इस पुस्तक का आविर्भाव हुआ। मैंने अपने भाषणों की सामान्य रूपरेखा को सुरक्षित रखा है, परन्तु उनकी सामग्री को बढ़ा दिया है। अब इस पुस्तक को लगभग तीस वर्ष पूर्व लिखे गए एक 'परिचय' के स्थान पर समझा जा सकता है, जिसका प्रकाशित संस्करण अब प्राप्त नहीं। इस पुस्तक का क्षेत्र और रूपरेखा पहले की रचनाओं से पर्याप्त रूप से भिन्न है। मेरा उद्देश्य तो इस विषय के विद्यार्थियों के लिए एक उचित पाठ्य-पुस्तक देना रहा है। यह विषय अब अनेकों लोगो द्वारा पढ़ा जाता है, परन्तु सभी की आयु, प्राथमिक तैयारी और उद्देश्य बहुत भिन्न होते हैं और उन सभी प्रकार के व्यक्तियो के लिए कोई उपयुक्त पुस्तक लिखना कठिन कार्य ही है। मैंने मुख्य-मुख्य सिद्धांतों को ऐसे ढग से विस्तार देने का प्रयास किया हैं जिससे वे आरम्भिक पाठको के लिए बुद्धिगम्य और रोचक हो सकें। और इसके साथ ही कुछ ऐसी सामग्री प्रदान करने की कोशिश की है जो उच्च श्रेणी के छात्रो के लिए लाभदायक सिद्ध हो तथा उन्हें इस विषय मे उठने वाले प्रश्नो पर प्रकाश डालने के लिए दिशा प्रदान करे। इस प्रकार के प्रयासों के लिए कई स्थानों पर प्लेटो के 'रिपब्लिक' का सामान्य आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। मेरा विश्वास है कि यह एक उचित प्रयत्न है और इसी आधार पर मैंने इस कृति का सर्वत्र उल्लेख किया है और परिशिष्ट मे उस पर कुछ टिप्पणियाँ भी जोड़ दी हैं। जो पाठक 'रिपब्लिक' का अध्ययन न कर रहे हो, वे इन टिप्पणियो को छोड़ सकते हैं। प्रारम्भिक पाठक भी इस पुस्तक के प्रथम अध्ययन मे इसके परिचय तथा द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय के अन्त में प्रस्तुत टिप्पणी को छोड़ सकता है।

इस प्रकार के विषय का विवेचन करते हुए अपने देश और काल अर्थात् वर्तमान समस्याओ का प्रचुर मात्रा मे उल्लेख करना उचित और स्वाभाविक ही लगता है, उनमे भी कुछ हाल के वर्षों की घटनाओं को जो उचित महत्त्व दिया गया है, वह भी विशेषतः वाछनीय है। मैंने पक्षपोषक ढग के वक्तव्यों से पृथक् रहने का भी प्रयास किया है। मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि जिन विषयों का मैंने उल्लेख किया है, उन्हे अनेको विभिन्न पक्षो से देखा जा सकता है और

इसके साथ सम्बद्ध समस्याओं को लेखक के इत्तफाकिया प्रयत्न से ही नहीं सुलझाया जा सकता। मेरा सर्वप्रमुख उद्देश्य तो पाठको को सूचना प्रदान करने अथवा उनके सन्देह को दूर करने के प्रयत्न की अपेक्षा उनके विचारो को प्रेरणा तथा अन्वेषण की दिशाओं मे सुझाव देना रहा है। मेरे सामान्य विचार व्यापक रूप से टी० एच० ग्रीन तथा डॉ० बोसांके जैसे लेखको के विचारो पर आधारित है। यदि यह पुस्तक कुछ पाठको को इन पूर्वोक्त तथा अन्य लेखको की नीतिशास्त्रीय तथा राजनीति सम्बन्धी कृतियो से परिचय कराने मे कुछ सहायता कर सकी, तो मेरा मुख्य ध्येय सिद्ध होगा।

जे० एस० मेकॅंजी

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठम अध्याय

तृतीय खण्ड

विश्व-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

परिचय

सामाजिक दर्शन (सोशल फिलासफी) को पूर्ण रूप से एक पृथक् विषय के रूप मे अध्ययन का अवसर वर्तमान काल में ही प्राप्त हुआ है; और इसका एक काफी सुनिश्चित अर्थ मे प्रयोग होने लगा है। इसका समाज-शास्त्र (सोशियालॉजी) से अपना अलग क्षेत्र है। समाज-शास्त्र की व्याख्या यदि व्यापक अर्थो मे की जाए तो समाज-दर्शन को उसके एक निश्चित अंग के रूप मे ग्रहण करना पड़ेगा। समाज-शास्त्र, भाषा-सम्बन्धी शंकाओं से युक्त एक अस्पष्ट शब्द होने पर भी, व्यापक अर्थ वाला माना जाएगा। इससे मानव-समाज के उद्भव, उनके विभिन्न रूपों का अध्ययन, नियम, रूढ़ाचार, सस्था, भाषा, विश्वास, विचारधारा, भावना और कार्य आदि की जानकारी प्राप्त करना है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन की समस्त जानकारी समाज-शास्त्र के अन्तर्गत ही आ जाती है। समाज-शास्त्र का अनेक विभिन्न समस्याओं से उसी तरह का सम्बन्ध है जिस तरह अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, सुजनन-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, नीति-शास्त्र आदि का अपनी समस्याओं से। अतः यह ऐसा विषय है जिसे कठिनाई से ही कोई एक व्यक्ति एक पुस्तक मे पूर्णत वर्णित कर सके। इसे उसी तरह विभागो में बाँटना पड़ेगा जैसे जीव-विज्ञान को वनस्पति विज्ञान, प्राणि-विज्ञान तथा शरीर-रचना-विज्ञान के अनेक उपविभागों में विभक्त करना पड़ता है। समाज-दर्शन का क्षेत्र समाज-शास्त्र से अधिक सीमित है। वह अपनी एक सीमा मे बँधा है। वह समाज-शास्त्र की विशेष शाखाओ से उसी तरह भिन्न है जिस तरह सामान्य रूप मे दर्शन-शास्त्र अन्य विशेष विज्ञानो से पृथक् है।[1]

१. सामाजिक-दर्शन का क्षेत्र

---

१. इस भेद पर प्रो० ई०जे० अरविक ने अपनी पुस्तक 'ए फिलासफी ऑव सोशल प्रॉग्रेस' में अच्छी तरह से प्रकाश डाला है। ब्रिटेनमें समाज-शास्त्र की विभिन्न विशिष्ट शाखाओं पर प्रचुर मात्रा में लिखा गया है, पर वर्तमान काल में इस सम्पूर्ण विषय पर लिखने का कोई अच्छा प्रयास नहीं किया गया, लेकिन अमेरिका में इस तरह का विस्तृत

विज्ञान विशेष तथ्यो या सामान्य सत्यो अथवा इन दोनो का समूह होता है। इसके साथ ही उसे खोजने के लिए कुछ-एक परिमित पदार्थों तक सीमित रहने वाली सयोजित विधियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। उसमे उन तथ्यो और सत्यो को उसी सीमित क्षेत्र मे व्याख्या करने और समझने का दृष्टिकोण भी निहित रहता है। मानव-जीवन, जो बहुत-कुछ अशो मे सदैव सामाजिक होता है, कुछ ऐसे उद्देश्य उपस्थित करता है जिनके अध्ययन से विविध विधियाँ निर्धारित की जा सकें तथा बहुत से रुचिकर एव महत्त्वपूर्ण तथ्यो तथा सत्यो की पुष्टि की जा सके। समाज-शास्त्र का इनसे सम्बन्ध है, परन्तु इसे उनसे उसी प्रकार पृथक् किया जा सकता है जिस प्रकार मानव-जीवन के व्यक्तिगत पहलू को सामाजिक जीवन से। यदि मानव-विज्ञान से मानवता के साधारण अध्ययन का अर्थ लिया जाता है तो उसे दो प्रमुख शाखाओ—व्यक्ति-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र-के रूप मे विभक्त किया जा सकता है। इनमे से भी प्रत्येक को अनेक पृथक् शाखाओ मे विभाजित किया जा सकता है। दूसरी ओर दर्शन-शास्त्र, जिसकी विज्ञान से अपनी पृथक् स्थिति है, कुछ विशेष तत्त्वो के बारे मे चिन्तन का प्रयास है, जो पूर्व से सम्बन्धित है। अपने व्यापक उद्देश्यो के रूप मे वह अपने अनुभवात्मक ससार के विशेष तथ्यो और सत्यो की व्याख्या करने की चेष्टा करता है जो समूचे विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का अंग या पहलू है। समाज-दर्शन, विशेष रूप से, मानव-जाति के सामाजिक सगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस सगठन के साथ वह, मानव-जीवन के सामाजिक पहलुओ के महत्त्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। यह विशेष रूप से जीवन के मूल्यो, उद्देश्यो तथा आदर्शों का अध्ययन है, परन्तु उनका अध्ययन नही जो प्राथमिक रूप से अपेक्षित है, या रहे है, या अपेक्षित हो सकते हैं, किन्तु जीवन के इन रूपों का अर्थ और महत्त्व लिया जाता है। इसका अर्थ यह नही कि कुछ विशेष समाज-विज्ञान जिन बातो की पुष्टि करते हैं, यह उनकी उपेक्षा करता है। दर्शन-शास्त्र मे किसी भी बात की उपेक्षा करना भयावह है। समाज-दर्शन का विशेष कार्य तथ्यो की खोज करना नही क्योकि इसे अन्य विज्ञानो से अपने तथ्य ग्रहण करने पडते हैं,

---

साहित्य प्राप्य है। लेस्टर एफ० वार्ड की रचनाएँ अति सुबोध हैं, और अधिक संक्षिप्त विवरण प्रो० एफ० एच० गिडिङ्गस् महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ सोसाइटी' में मिल सकता है (इसमें एक उत्तम पुस्तक-सूची भी दी हुई है)। आधुनिक कृतियों में प्रो० ए० एफ० स्माल की पुस्तक 'जनरल सोशियालाजी' भी उल्लेखनीय है। प्रो० स्माल और विन्सेण्ट की एक छोटी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टूडी आफ सोसाइटी' इस विषय के प्रारंभिक लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

परन्तु यह उनका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। यह कैसे होता है, क्रमशः आगे मालूम पडेगा; सामान्य वक्तव्य के रूप मे इतना ही पर्याप्त है।[1]

समाज-शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विज्ञानों में समाज-दर्शन का सामान्य स्थान पहले ही देख चुके है। अब हमे इसका सम्बन्ध कुछ विशेष सामाजिक

२. अन्य शास्त्रों के साथ इसका सम्बन्ध

विषयों के साथ देखना है, जिनके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमे से प्रधान शास्त्र है—जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, शिक्षा-शास्त्र, नीति-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, कानून, अर्थ-शास्त्र, इतिहास और धर्म-शास्त्र। इनका सम्बन्ध सक्षेप मे निम्नलिखित प्रकार से है—

मानव-जाति स्पष्टतः जीवन का एक प्रकार हैं। जीवन के सामान्य अध्ययन से उसके स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। विशेषतः विकासवाद की प्रकाशमान विचारधारा हमारे इस अध्ययन मे सहायक हो सकती है, जैसे वह अन्य महत्त्वपूर्ण अध्ययनो मे सहायक रही है। हरबर्ट स्पेन्सर का कार्य अन्य प्रकार से कुछ भी महत्त्व रखता हो, पर मानव जीवन की व्याख्या के रूप मे उसने जो विचार व्यक्त किये तथा उसे जो पुष्टि दी है, उसके लिए वह हमेशा प्रशंसा का पात्र रहेगा। निस्सन्देह उसके मत का पूर्वाभास अरस्तू, हीगल, कॉम्टे और अन्य लोगो की विचारधारा में मिलता है। अनेक दृष्टिकोणों से उनके विश्लेषण, विशेषतः प्रथम दो विद्वानों के, बडे महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु सामान्य जीव-विज्ञान के साथ सम्बन्ध सम्भवतः निश्चित रूप से स्पेन्सर ने ही स्थापित किया है।

मानव-जीवन मे चेतना का अस्तित्व ही उसका सबसे बड़ा महत्त्व और विशेष लक्षण है जो उसके क्रम-विकास की निम्न तथा उन्नत अवस्थाओं में

---

१. समाज-दर्शन को समाज-शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मान लेना उचित है या नहीं, इस विषय पर आधुनिक लेखकों के विचारों में मतभेद है।

कॉम्टे महोदय को विज्ञान का संस्थापक माना जाता है। उन्होंने समाज के सामान्य-दर्शन को प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है, इसी तरह हरबर्ट स्पेन्सर महोदय के बारे में भी कहा जा सकता है। परन्तु इन दोनों विषयों के बारे में यह सन्देहास्पद है कि क्या दर्शन-सम्बन्धी उनकी यह विचार धारा आधार-शिला का रूप धारण करने के लिए पर्याप्त है? प्रो० डरकिम द्वारा प्रतिपादित समाज-शास्त्र-विधि का सामान्य विवरण वास्तव में इस विषय का महत्वपूर्ण कार्य है, पर उसमें भी समाज-दर्शन पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। दूसरी तरफ, प्रो० स्माल ने अपनी पुस्तक 'जनरल सोशियो लाजी', पृष्ठ ८३ में उसे स्थान दिया है। समाज-शास्त्र के विशाल प्रभावात्मक रूप को दृष्टि में रखते हुए मेरा यह विचार है कि उसके सभी विस्तृत विवरणों के प्रारम्भ में और अन्त के सामान्य उपसंहार में समाज-दर्शन के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों के परिचय का समावेश किया जा सकता है।

स्पष्ट दीख पडता है। इस सम्बन्ध मे हमे चेतना की व्याख्या करने वाले विज्ञान से सहायता लेनी पडेगी। मानव-समाज की कार्य-प्रवृत्तियो तथा विकास के बारे मे सोचते समय हम क्षुधा, मनोवृत्ति तथा सवेग आदि की अवहेलना नही कर सकते। मानव-प्रकृति के इन पहलुओ का साधारणत. मनोविज्ञान के विद्वान उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत अभिव्यक्ति मे अध्ययन करते है। परन्तु समाज-मनोविज्ञान को भी अब अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण शाखा मान लिया गया है।[1] भीड मनोविज्ञान इसकी एक विशेष शाखा है।[2] भाषा का अध्ययन इसका अन्य पहलू समझा जा सकता है।[3] मानव-समाज के अध्ययन के समय मानव-प्रकृति मे विशुद्ध पाशविक तत्वो के नियोजन और निर्माण विशेष विचारणीय विषय हैं।

समाज-दर्शन के अध्ययन के दृष्टिकोण से शिक्षा-सिद्धान्त का बडा महत्त्व है। विशेषत वह उस अश तक अधिक महत्वपूर्ण है, जहाँ तक वह उस विधि की ओर सकेत करता है जिससे व्यक्ति अशत प्राकृतिक विकास और अशत. बाह्य पथ-प्रदर्शन से, अपने जीवन के निश्चित लक्ष्यो की पूर्ति करता हुआ, समाज के एक उत्तरदायी सदस्य के रूप मे विकसित होता है।

नीति-विज्ञान उन उद्देश्यो की व्याख्या करता है जो इस जीवन मे लक्षित हैं। अत इसका समाज-दर्शन से, अन्य-विषयो की अपेक्षा, अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः समाज-दर्शन नीति-शास्त्र का एक भाग कहा जा सकता है अथवा नीति-शास्त्र समाज-दर्शन का एक भाग कहला सकता है। साराश मे, इन विषयो का स्पष्टत. सम्बन्ध देखा जा सकता है। पहला उन व्यक्तियो के व्यवहार से सम्बन्धित है, जो कम-से-कम समाज मे तो रहते हैं। दूसरा समुदाय से सम्बन्धित है, परन्तु स्मरण रहे कि वह समुदाय व्यक्तियो द्वारा सगठित होता है। व्यक्तियो और समुदाय के उद्देश्य एक ही हैं। परन्तु इन दोनो विषयो को पृथक्-पृथक् रूप से अध्ययन के लिए सम्बन्धित सामग्री पर्याप्त रूप से मिल सकती है। इन दोनो का आपस मे सम्बन्ध कुछ इसी तरह का है जैसा कि व्यक्ति और सामाजिक मनोविज्ञान मे।

राजनीति-शास्त्र या राज्य के सिद्धान्त समाज के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण पहलू है। सभी समाज अपने न्यूनतम विकास की स्थिति मे सरकार के किसी-न-किसी रूप को प्राप्त कर लेते है। सरकार से सम्बन्धित समस्याएँ इतनी

---

१ इस विषय में और अधिक परिचय के लिए डॉ० मैक्डॉगल की 'सोशल फिलासफी' एक अच्छी पुस्तक है। प्रो० वॉलेस की 'ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स' को भी देखिए।

२ इस विषय पर ली वॉन का कार्य देखिए।

३. श्री वुण्ट महोदय के दो भारी ग्रन्थ 'Volkepsychologie' पूर्णतः भाषा से ही सम्बन्धित हैं।

जटिल, कठिन तथा महत्त्वपूर्ण गुत्थियो से युक्त होती हैं कि उन्हे एक पृथक् विज्ञान के रूप मे विवेचन की आवश्यकता है। इस विषय मे, केवल सामान्य बातो को ही समाज-दर्शन मे स्थान दिया जा सकता है।

समाज-दर्शन का जिन प्रश्नो से सम्बन्ध है, उन सबमे आधारभूत प्रश्न न्याय का है। उससे विधि-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु यहाँ फिर हमारे विषय की परिधि मे बहुत साधारण बातें ही आ पाती है।

उद्योग और वाणिज्य मानव-समाज की गतिविधि का इतने व्यापक अंशो में निर्माण करते हैं कि किसी भी समाज-दर्शन मे उनका स्थान अनिवार्यत साव-धानी से निर्धारित किया जाता है। परन्तु इस विषय मे भी कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ है कि उनका विश्लेषण एक पृथक् विज्ञान के रूप मे करना पडता है— वह है अर्थ-शास्त्र। इस विषय से सम्बन्धित बहुत से प्रश्न मात्रा के रूप वर्णित किये जा सकते है और स्वयं गणित की प्रक्रिया अपना लेते हैं। अतः उनमे सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने वाले अन्य विपयों की अपेक्षा अधिक याथातथ्य व्यक्त करने की शक्ति है। इसी कारण समाज-विज्ञान के अन्य भागो की अपेक्षा विज्ञान के रूप मे यह अधिक उपयोगी सिद्ध होने के कारण विकसित हो सका और व्यवहार-रूप में अधिक लोगो की अत्यधिक रुचि का विषय बन गया। इसके यथातथ्य तथा कार्य-रूप मे परिणत होने के ज्ञातव्य मूल्य अति-शयोक्ति के भय से रहित नही है। इसकी यथातथ्यता तो कुछ सन्दिग्ध मान्य-ताओ पर आधारित है तथा इसका व्यावहारिक रूप भी कुछ विचारणीय परिवर्तन चाहता है। अपने विषय-क्षेत्र मे आने वाले कुछ अन्य प्रश्नो पर संक्षेप मे हम आगे विचार करेंगे।

सामाजिक जीवन के ये सब पहलू समय-समय पर परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। उनकी विशेषताएँ समय और स्थान की अनेकों परिस्थितियो के कारण निश्चित और परिवर्तित होती रहती है। इतिहास इस प्रकार की परिस्थितियों और परिवर्तनों का लेखा-जोखा है और सामाजिक जीवन के अनेको महत्वपूर्ण अगो पर प्रकाश डालता है। दूसरी ओर सामान्य-समाज-दर्शन हमे यह विश्लेषण करने मे सहायक होता है, जिसके बिना इतिहास के चित्र कितने स्वेच्छाचारी और अव्यवस्थित दिखाई देते है।[1] परन्तु ऐतिहासिक विकास का विस्तृत अध्ययन स्पष्टतः हमारे विषय से बाहर है।

---

१ यहाँ हीगेल महोदय की 'फिलासफी आफ हिस्ट्री' विशेप रूप से उल्लेखनीय है। डॉ० बी०टी० क्रोजियर की 'हिस्ट्री आफ सिवलिजेशन' भी इस बारे में महत्त्वपूर्ण है। श्री बी० किड महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स आफ वैस्टर्न सिवलिजेशन' में भी कुछ अच्छी बातें हैं। परन्तु इन दोनों पुस्तकों में प्रतिपादित किये गए विचारों को कुछ सावधानी से ग्रहण करना चाहिए। प्रो० पी० बार्थ ने समाज-शास्त्र पर एक

वे विश्वास, आदर्श और प्रेरणाएँ, जो धर्म के रूप मे आती हैं, मानव-इतिहास मे एक महान स्थान रखती है और मानवता की अन्यतम विशेषताओं का निर्माण करती हैं। उनका कुछ विश्लेषण भी समाज-दर्शन मे आवश्यक है, यद्यपि उसके कुछ भाग नीति-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र से सम्बन्धित हैं और कुछ भाग अध्ययन के पृथक् विषय हैं।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि समाज-दर्शन का अनेक विषयों से सम्बन्ध है और सामग्री एव रुचि दोनो का अभाव भी नही है।

अभी जिस विषय का निर्माण ही हो रहा हो उसके विकास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से आरम्भ में ही कुछ कहना सरल नही है। इसे सिद्धान्तो या पूर्वमान्यताओ के साथ प्रारम्भ करना कठिन है।

३. इसकी विधियाँ

अनुभवात्मक अध्ययन न होने के कारण तथ्यो को इकट्ठा करके प्रारम्भ करना कठिन भी है। यह सम्भव हो सकता है, जैसे हम पहले देख चुके हैं कि इसका नीति-शास्त्र के तारतम्य के रूप मे विवेचन आरम्भ हो। परन्तु पूर्ण रूप से देखने पर यह आवश्यक-सा हो जाता है कि इसे एक स्वतन्त्र विषय के रूप मे प्रारम्भ किया जाए। हम मानव-जीवन के एक विशेष पहलू से सम्बन्धित हैं। इसलिए यह उचित होगा कि उस जीवन की सामान्य विशेषताओं के अध्ययन से इसका प्रारम्भ करे। इसके उपरान्त वे सामान्य विशेषताएँ सामाजिक सगठन के विशेष रूप को कैसे उत्पन्न करती हैं, उन्हे जाँचने के लिए आगे बढेंगे। तब हम इन विशेष रूपो का सुव्यवस्थित ढग से अध्ययन कर सकेंगे। यदि यह सम्भव हो जाता है तो विषय-वस्तु से स्वत ही अध्ययन की विधियाँ निकल आएँगी। इस स्तर पर इसका एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण लाभदायक सिद्ध हो सकता है और इसके अध्ययन के एक सामान्य ढग को उचित सिद्ध कर सकता है, जैसा मैं आगे बता रहा हूँ।

४ इसका प्रारम्भिक रूप

लगभग सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयो का प्रारम्भ प्राचीन यूनानी विचारको की कृतियो मे मिलता है। उनसे पूर्व अनेक अस्पष्ट कल्पनाएँ थी। उनमें से कुछ बहुत अच्छी भी हैं, परन्तु उन्हे वैज्ञानिक महत्त्व का मानना कठिन है। यहाँ तक कि पुराने यूनानी विद्वानो के विचारो मे शुद्ध सारतत्त्व क्या है, यह खोज निकालना भी कठिन है। यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने चारो तरफ की दुनिया को पृथक्-पृथक् रूप मे देखा और उसमे तात्त्विक भेद खोजा, जैसे अग्नि, वायु, जल और अन्य कठोर पदार्थों के मध्य, तथा उनका सामान्य नामकरण

रोचक पुस्तक लिखी है, विशेष रूप से वह इतिहास के दर्शन 'Philosophie der Epeschichte als Soziologie' के दृष्टिकोण से अच्छी है।

पृथ्वी के रूप मे किया। तत्पश्चात् उन्होने आकर्षक और घृणित प्रवृत्तियो मे, स्थायी और परिवर्तनशील में, एकत्व और बहुत्व मे, पदार्थ और आकृति मे और इसी प्रकार अन्य वस्तुओ मे अन्तर प्रदर्शित किया।[1] जीवन का सामान्य तथ्य भी उन आरम्भिक वस्तुओ मे से था जिसने उनका ध्यान आकर्षित किया। उन्होने उसका अपने चारो तरफ के ससार के अन्य तत्वो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। उदाहरणस्वरूप, हेराक्लिटीज़ ने इसे उतार-चढ़ाव की सामान्य प्रवृत्ति मे देखा। उसे ऐसा लगा कि अखिल प्रकृति मे चारो तरफ यही हलचल चल रही है जैसे—भाप के उठने और वर्षा के बरसने मे, गरमी और सरदी मे, जागने और सोने मे, जीवन और मरण मे विकास और विनाश मे, गुण और दोष मे तथा उन्नति और पतन मे। इस प्रकार का चिन्तन प्राचीन यूनानी विद्वानो को विकासवाद के सिद्धान्तो तथा जीवन मे उसके प्रयोग के कुछ निकट ला सका। परन्तु बहुत आरम्भिक अवस्था मे वे मानव-जीवन की अनियमितताओ से, विशेषतया उसके सामाजिक पहलू मे, प्रभावित होने शुरू हो गए होगे। उन्होने प्राकृतिक शक्तियो के सम्बन्ध मे, उनके एक-सा होने के कारण एक काफी सुनिश्चित अवधारणा निश्चित की भी थी। उन्होंने देखा कि अग्नि के जलने का एक निश्चित तरीका है, जैसा यूनान मे वैसा ही फारस मे भी। सारांश मे, यही पौधो के विकास, जानवरो की प्रवृत्ति, नक्षत्रो के चलने तथा अन्य प्राकृतिक हलचलो के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। अतः समझा गया कि यह प्राकृतिक वस्तु की एक विशेषता है जो अभिन्न एवं एक-सी है। अकेला मानव-जीवन ही, विशेषतः अपने सामाजिक पहलू मे, स्पष्ट अपवाद के रूप मे दिखलाई पडता है। चयन की स्वतन्त्रता, जो मानव को प्राप्त है, सर्वप्रथम पूर्ण स्वेच्छाचार-सी दिखाई पडती है। इसमें उच्चतर नियमों की पूर्ति के लिए एक विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता है। यहाँ तक कि वर्तमान समय मे भी हम मानव के कार्यों की अनियमितता तथा प्राकृतिक घटनाओ की नियमितता, जैसे ग्रह-नक्षत्र आदि, की गति मे भेद प्रदर्शित करने को उद्यत हो जाते है। वे न रुक सकते है, न मार्ग मे भटक सकते है, परन्तु हमारी अमर आत्माएँ ऐसा कर सकती है।

पाँचवी शताब्दी (ईसा पूर्व) के मध्य यूनान मे जन-शिक्षको के एक समूह ने, जिसे सामान्यत कुतर्की कहा जाता है, इस प्रतिस्थापना को प्रमुखता दी कि क्या यह प्राकृतिक या स्वाभाविक है अथवा स्वेच्छाचारपूर्ण एव परम्परागत। ये घूमते रहने वाले प्रचारक थे। ये लोग विभिन्न स्थानों के

---

१. इस विषयक एक अच्छा सामान्य विवरण प्रो० बर्ने की पुस्तक 'अर्ली ग्रीक फिलासफी' में उपलब्ध हो सकता है।

विभिन्न रीति-रिवाजो, नियमो तथा सविधान के विशेष रूपो से विशेष प्रभावित हुए। इसीलिए उन्होंने व्यक्त किया कि प्राकृतिक तत्त्वो मे जो साम्यता नही है, उसे केवल परम्परागत समझा जाना चाहिए। वे मानव की स्वीकृति या समझौते पर, या विशेष शासको के स्वेच्छाचारी चुनाव पर आधारित हैं, वास्तविक रूप मे चीजो के स्वभाव पर आधारित नही हैं। इस प्रकार उन्होंने प्राकृतिक नियमो तथा मानव-निर्धारित नियमो के अन्तर से परिचय कराया और उस पर बल दिया।[1]

अब विशेषत., इसी वैधर्म्य या प्रतिस्थापना से सम्बन्ध रखने वाला समाज-दर्शन पर प्रथम ग्रन्थ लिखा गया, जो सबसे पहला तथा अब भी अनेक दृष्टियो से उत्कृष्ट एव रोचक है। प्लेटो का 'रिपब्लिक' मुख्यत. एक प्रश्न से सम्बन्धित अध्ययन है कि क्या मानव-नियम के सम्बन्ध मे यह माना जाए कि उनका आधार कुछ प्राकृतिक नियमो मे है? यह प्रश्न न्याय या सत्य के अर्थ की छानबीन से प्रारम्भ होता है तथा उससे सामाजिक व्यवस्था पर आ जाता। क्या सामाजिक व्यवस्था, जिसमे न्याय भी सम्मिलित है, प्राकृतिक है या कृत्रिम? प्लेटो के रूप मे सुकरात का दृष्टिकोण है कि वह वस्तुत प्राकृतिक है। उसने सामाजिक गठन का जन्म मानव-प्रकृति मे एक विशेष तथ्य से सुविकसित होते हुए दिखाने की चेष्टा की है। वह तथ्य यह है कि मानव आत्म-निर्भर नही है। फलस्वरूप, उसे दूसरो से सहयोग लेना पडता है। इसी आधार पर उसने मानव-सगठन के ढांचे की रूपरेखा खीचने का प्रयास किया है। उसमे सहयोग की उस मांग और आवश्यकता को पूर्णत. दिखाया गया है। इस प्रकार हम आदर्श राज्य के विचार तथा उस राज्य की व्यवस्था के लिए आवश्यक शिक्षा के विचार तक पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे हम आगे बढते जाते हैं, हमे इस प्रकार की अनेक बातें देखने को मिलती हैं।

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का महत्त्व उसकी गम्भीर, विलक्षण बुद्धि, व्यापक दृष्टिकोण एव दूरदर्शिता पर आधारित है। उसने सभी आधारभूत समस्याऐं मानव-जीवन के सभी प्रमुख उद्देश्यो से सम्बन्धित कर दी हैं। परन्तु यहाँ हम अपनी आधारभूत समस्याओ तक ही सीमित रहेगे।[2]

प्रधान रूप से प्लेटो के राज्य का ढांचा, जिससे उसका अत्यधिक परिचय था, छोटा नगर-राज्य है, जो यूनान मे अपने पूर्ण विकास पर था। इस प्रकार

---

१ इस विषय पर भी श्री बर्नें महोदय का 'ग्रीक फिलासफी' थैल्स से प्लेटो तक अध्याय ७ देखिए। उनका प्रारभिक 'अर्ली ग्रीक फिलासफी' पृष्ठ १२-१३ भी उल्लेखनीय है।

२. परिशिष्ट में प्लेटो महोदय के 'रिपब्लिक' पर नोट देखिए।

के राज्य और आधुनिक राज्य, जैसा सामान्यतः हम सोचते हैं, मे अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। इनकी खास विशेषता इनका घनिष्ठ संगठन और एकता थी, जो आधुनिक विशाल साम्राज्यों या आज के अपेक्षाकृत छोटे राष्ट्रो मे उसी प्रकार से नही मिल सकती। आधुनिक राज्यो व उनके नागरिको के सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओ मे काफी अन्तर है, परन्तु छोटे नगर-राज्यो मे नागरिक जीवन और सामाजिक जीवन मे कोई अन्तर नही था। अतः प्लेटो के अनुसार, समाज-दर्शन एवं राजनीति-शास्त्र लगभग एक ही हैं तथा नीति-शास्त्र एवं शिक्षा-सिद्धान्तो से भी इनको पृथक् करना कठिन है। कुछ भी हो, प्लेटो ने सामान्य अध्ययन की आधार-शिला अच्छे और सही ढग से रखी है। और फिर यह कहना भी सत्य ही है कि उससे जितना अच्छा परिचय हम पा सकते हैं उतना किसी अन्य लेखक द्वारा नही।

५. बाद का विकास

समाज दर्शन के विकास के सम्बन्ध मे हमे अधिक व्यापक रूप से कुछ नही कहना है, क्योंकि केवल विरल रूप-रेखा के अतिरिक्त इसे सक्षेप मे रखना भी अति जटिल है।

प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू ने राजनीति तथा नीतिशास्त्र मे एक निश्चित अन्तर दरशाया, यद्यपि उसने तत्त्वतः प्लेटो के ही रूप को समझा। अरस्तू नागरिको के बारे मे लिखता है तो प्लेटो नगर के बारे मे। परन्तु अरस्तू ने जो भेद बतलाया है, वह प्लेटो की अपेक्षा बहुत स्पष्ट है। उसने यह स्पष्ट किया है और प्लेटो ने भी, कि एक मनुष्य किसी राज्य के नागरिक के अतिरिक्त कुछ और भी है। नागरिकता मनुष्य के व्यापक जीवन का एक छोटा अश होना चाहिए। विषयो के हमारे आधुनिक क्रम-निर्धारण के अनुसार अरस्तू के नीति-शास्त्र के कुछ भाग, विशेषतः 'न्याय तथा मित्रता'-सम्बन्धी कुछ अश, नीति-शास्त्र की अपेक्षा समाज-दर्शन के भाग होना अधिक उचित जँचेंगे। वे नीति-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र मे सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ियाँ है।[1]

अरस्तू के पश्चात् ग्रीक-नगर-राज्यो की समाप्ति और पतन से नीति-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र मे कुछ अधिक स्पष्ट भेद पैदा हुआ। विशाल साम्राज्य—चाहे वे मेसिडोनिया के हो या रोम के, उनके नागरिकों की नैतिक प्रेरणा के प्रतीक नही बन सके, जैसा आदर्श रूप छोटे नगर-राज्य प्राप्त कर सकेंगे। अत. स्टोइक और एपिक्यूरियन प्लेटो तथा अरस्तू की तरह नही सोच सके कि एक व्यक्ति का जीवन एक सगठित राज्य के साथ आबद्ध है। स्टोइको के अनुसार

---

१. आगे की विशेष जानकारी के लिए श्री आर्नेस्ट बारकर महोदय की पुस्तक 'दि पोलिटिकल थाट आफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटल' उल्लेखनीय हैं।

मानव का सर्वोत्तम रूप एक 'अच्छे यूरोपियन' बनने मे नही है और न किसी विशेष समाज का नागरिक बनने मे ही है। वास्तव मे ये विश्व-समाज के समर्थक थे। एपिक्यूरियन लोग तो यहाँ तक आगे बढ गए थे कि वे राजनीतिक जीवन के भी कम पक्ष मे थे, वे मित्र-समाज के पोषक थे। यह मित्र-समाज की विचारधारा पुराने राज्यो की विचारधारा की अपेक्षा आधुनिक राज्यो की मित्र-राष्ट्रो की विचारधारा से मिलती-जुलती है।[1]

कुछ अशो मे बाद के विचारको के प्रभाव तथा पुराने विचारो के पुनर्जागरण के कारण राजनीति शास्त्र ने नीति-शास्त्र से अपनी पृथक् निश्चित सीमा स्थापित कर ली और धीरे-धीरे समाज-दर्शन ने भी इनसे पृथक् रूप धारण कर लिया। रोमन कानून-पद्धति, जो विशाल रूपो मे स्टोइक विचारधारा[2] पर आधारित थी, सुविकसित हो जाने पर जो विशेषतः प्रकृति के नियम के रूप मे व्यक्त हुई, राज्य-सम्बन्धी विचारधारा को एक निश्चित स्वरूप प्रदान कर सकी और विशेष रूप से राज्य को कानून के निर्माता के रूप मे प्रस्तुत कर सकी। यह पहलू राजनीति-शास्त्र के विचारो मे मेकियावेली, ग्रोशियस, स्पिनोजा, लोक तथा रूसो की विचार-धारा के द्वारा प्रमुख बन बैठा। यद्यपि अन्तिम दो लेखको ने विशेषत: सामाजिक जीवन के शैक्षणिक पहलू का सुधार किया—उस शैक्षणिक पहलू का जो प्लेटो के साथ उत्कृष्ट रूप से अपनी पुरानी श्रेष्ठ सीमाओ मे बंधा हुआ था।

अब सक्षिप्त रूप से समाज-दर्शन, राजनीति-शास्त्र और विधि-शास्त्र मे अन्तर उपस्थित करने वाली कुछ परिस्थितियो का भी विवेचन कर लेना चाहिए। मध्य युग मे ईसाइयो के धर्मगुरु और राज्य मनुष्य के जीवन मे दो प्रमुख अधिकारियो के रूप में सामने आए। उनमे से प्रथम 'राज्य' अधिक विशुद्ध राजनीतिक तथा वैधानिक था तथा दूसरा गिरजाघर। धार्मिक तथा नैतिक सुधारवाद ने गिरजाघर को अधिक नैतिक बनाने की चेष्टा की। उसने समाज के आध्यात्मिक आधार तथा राज्य के भौतिक बल के अन्तर पर अधिक प्रभाव डाला। धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष, औद्योगिक समस्याओ की बढ़ती हुई महत्ता (विज्ञान और कला के विकास के रूप मे) तथा विभिन्न देशो के पारस्परिक व्यवहार मे अनेक सुविधाओ आदि सभी बातों ने मिलकर राजनीतिक एव वैधानिक प्रश्न को छोडकर सामाजिक प्रश्नो को महत्त्व दिया। विशेष रूप से आर्थिक प्रश्नो ने अधिक ध्यान खीचना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् फ्रास की

---

१ श्री डब्लू० वैलेस महोदय की एक छोटी पुस्तक 'एपीक्यूरिनिज्म' बहुत रोचक है, देखने पर लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

२. इस विषय पर श्री मैने महोदय की 'एनशेंट ला' अध्याय ३, उल्लेखनीय है।

राज्य-क्रान्ति ने अपने 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' के आदर्शों के साथ राज्य मे 'संगठन तथा शान्ति' पैदा करने का काफी काम किया। अधिक व्यापक गठन भी इसी विचारधारा का प्रभाव था कि काम्टे ने अपने समाज-शास्त्र की नीव रखी। उसका सामाजिक समस्याओं का अध्ययन मानवता के एक नये धर्म की उत्पत्ति के प्रयास के साथ सम्बन्धित था।[1] स्पेन्सर ठीक इसी प्रकार से स्वतन्त्रता के विचारो से प्रेरित हुआ और वह राज्य के शासन का महान् विरोधी था। इस तरह धीरे-धीरे राज्य के सगठन और कार्य-प्रणालियों की अपेक्षा समाज का अध्ययन विशेष रूप मे होने लगा और वह पृथक्-पृथक् अनेक विभागों मे विभाजित हो गया। परन्तु उनमे से समाज-दर्शन ने तो हाल ही मे अपनी निश्चित सीमाएँ प्राप्त की है, यद्यपि समाज-शास्त्र, विधि-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र के लेखकों ने अपने कार्य मे सदैव दार्शनिक आधार को अपनाया है।[2]

समाज-दर्शन का जिन रूप-रेखाओ द्वारा जन्म और विकास हुआ है, उन्ही के द्वारा हम अपने अध्ययन के क्षेत्र तथा उसकी केन्द्रीय समस्याओ को समझ सकते है। सारांश रूप मे समस्या एक ही है जो प्रारम्भ में ही उठा दी गई थी, कि किन अर्थों मे और कहाँ तक मानव-समाज उचित प्रकार से प्राकृतिक कहला सकता है? यदि यह पूर्ण स्वेच्छाचारी एव परम्परागत् है तो इसका यह अध्ययन स्पष्ट कर देगा कि बाह्य परिवर्तनशील और आकस्मिक परिस्थितियो द्वारा इसके रूप समम-समय पर किस तरह निश्चित और निर्णीत होते रहे। दूसरी तरफ यदि हम वास्तव मे प्राकृतिक है तो हमे यह विश्लेषण करना पडेगा कि हम किन अंशो मे प्राकृतिक हैं और इसकी वे विशेष रूपरेखाएँ क्या है, जिनके द्वारा इसका आधारभूत रूप विकसित होता

६. इसकी केन्द्रीय समस्याएँ

---

१. कुछ अंशों में इसी कारण से उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपने देश के लोगों का पर्याप्त ध्यान नहीं खींच सकीं। इससे अधिक वे फ्रास में प्रभावपूर्ण रहीं। इस विषयक विवरण ई० कैयर्ड महोदय की पुस्तक 'सोशल फिलासफी आफ काम्टे' में है।

२ मिल महोदय ने अपने सिद्धान्तों 'प्रिन्सिपल्स आफ सोशल इकानामी' का वर्णन इस तरह से किया है कि "उनमें से कुछ समाज-दर्शन में प्रयोग करने योग्य हैं।" यही बात कुछ अन्य प्रारम्भिक अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धी कृतियों के बारे में भी कही जा सकती है। इसी तरह की अभी हाल ही में श्री हाब्सन महोदय की पुस्तक 'वर्क एण्ड वैल्थ' तथा प्रो० पीगू महोदय की पुस्तक 'वैल्थ एण्ड वेलफेयर' प्रकाशित हुई है। डा० मार्शल ने भी अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्नों पर कुछ स्थायी विचार प्रस्तुत किये हैं। परन्तु जब समाज-दर्शन को विशुद्ध अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो वह कुछ संकुचित हो जाता है।

है। यह, जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्लेटो और अरस्तू ने भी स्वेच्छाचार के विरुद्ध कुछ ऐसा ही करना चाहा था। प्रमाण-स्वरूप उनका यह तर्क था कि जो प्राकृतिक है वह अनिवार्यतः अपरिवर्तनशील नही है। मानव-प्रकृति के विशेष रूप विशेष प्रकार की व्यवस्था को जन्म देते हैं। यद्यपि उनमे साम्यता नहीं होती तथापि वे बिना नियम अथवा कारण के नही होते। वास्तव मे उन्होंने यहाँ तक व्यक्त किया कि मानव की बौद्धिक प्रकृति अन्यो की अपेक्षा व्यवस्था का एक अधिक निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करती है जो अन्यत्र कही उपलब्ध नही हो सकता। और अस्तित्व के उच्चतर रूपो की अपेक्षा निम्नतर श्रेणी के ही रूपो को अनियन्त्रित, अनियमित और अव्यवस्थित कह सकते हैं, क्योंकि उनमे कुछ आकस्मिक परिवर्तन के तत्त्व रहते हैं।[1] स्टोइक लोग 'प्रकृति' के नियम की अभिव्यक्ति का प्रयोग किया करते थे। ये नियम, प्राथमिक रूप से तर्क द्वारा निर्मित तथा व्यवस्था के सिद्धान्तो से सम्बन्धित हैं, मानव-समाज के गठन मे लगे हैं। यह प्रदर्शित करना भौतिक विज्ञान का कार्य है कि इस भौतिक विश्व और मानव-जीवन मे प्रकृति के सिद्धान्त कार्य कर रहें हैं। इस प्रकार बहुत-कुछ अशो मे बात एकदम बदल गई है। अथवा, पुराना प्रतिपक्ष कुछ अशो मे जमकर बैठ जाना चाहता था और समय-समय पर यह नये रूप से जोर पकडता जाता था, विशेषतः सामाजिक सविदा के सम्बन्ध मे। उदाहरणस्वरूप, हाब्स ने प्रकृति की दशा और सामाजिक व्यवस्था मे अन्तर दिखाया है जो सविदा के रूप मे रखा गया है। रूसो के सामाजिक सविदा के इस प्रारम्भिक कथन ने कि "मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है फिर भी वह सर्वत्र बन्धनो मे बँधा हुआ है" प्रतिपक्ष को एक व्यापक शक्ति दी है, यद्यपि स्वय रूसो ने इसे दूर करने का काफी प्रयास किया था। और कम-से-कम उसे अधिक उदार बनाने के लिए पूर्ण चेष्टा की कि मानव-समाज सविदा पर ही आधारित है और मानव-सविदा का आधार मानव ही है। इसकी सार्थकता का पता अन्त मे सामने आएगा। इस बीच यह विशेष समस्या हमें अध्ययन का एक ऐसा विशाल क्षेत्र उपस्थित करती है, जिसमे हमे यह आधार मिलता है कि मानव-समाज की एकता और व्यवस्था स्वभाव, विशेषत मानव-स्वभाव, पर आधारित हैं। इस प्रकार आगे के अध्यायों मे हम मानव-प्रकृत्ति के सर्वोत्तम आधारभूत पहलुओ का विवेचन करते हुए आगे बढ़ेंगे।

---

१. इस विषयक विशेष जानकारी के लिए इस पुस्तक के मूल लेखक श्री जे० एस० मैकेन्जी महोदय की पुस्तक "एलीमैण्ट्स आफ कन्स्ट्रक्टिव फिलासफी" खण्ड ३, अध्याय २, उल्लेखनीय है।

प्रथम खण्ड

समाज-व्यवस्था का आधार

प्रथम अध्याय

मानव-प्रकृति

हमारे इस विश्व के ब्रह्माण्ड के रूप मे वर्णन से सम्बन्धित जटिल समस्याओं का विश्लेषण यहां नही किया जा सकता। यहाँ पर इतना ही ध्यान मे रखना पर्याप्त होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण और उनके निष्कर्षों पर दार्शनिक चिन्तन ने हमें इस विश्व के बारे मे यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि यद्यपि यह विश्व बड़ा रहस्यमय है, फिर भी इसमें एक व्यवस्थित पद्धति है और न्यूनाधिक निरन्तर विकास की प्रक्रिया चलती रहती है।

१. ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान

जहाँ तक हमारी अपनी पृथ्वी का सम्बन्ध है, उससे प्राप्त अब तक के विकास में मानव ही उच्चतम स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु ऐसा सब जगह समान रूप से नही हुआ है, और उसके उच्चतम स्तर मे अब भी सुधार के लिए गुंजाइश है, यद्यपि मानव सब 'प्राणियो मे श्रेष्ठतम' है। वह जिस विश्व मे रहता है, उसमे वह एक छोटा-सा भगवान् बन बैठा है, फिर भी वह इस विश्व की पार्थिव वस्तुओ मे से एक है। वह मिट्टी का सर्वश्रेष्ठ अश है परन्तु वह है धरती का टुकडा ही। उसे कभी-कभी अपने-आप पर सन्देह होने लगता है कि 'वह देवता है या पशु।' अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह दोनों का एक मिश्रण है। उसकी कल्पनाएँ शाश्वत मे विचरण कर सकती हैं, परन्तु उसका भौतिक अस्तित्व संकुचित है, सीमा-बद्ध है। मानव अपनी प्रकृति से ही असन्तुष्ट रहने वाला प्राणी है, यह बात उसके सामाजिक और अन्य सभी पहलुओं मे भी लागू होती है। यह असन्तोष उसके निम्न प्रादुर्भाव और उच्च महत्त्वाकाक्षाओ के साथ भी न्याय नही कर सका है। अत: यह अच्छा होगा कि हम प्रारम्भ से ही उसकी जटिल प्रकृति के इन दोनों पहलुओं को पूर्णत: जानने की कोशिश करें। यह स्पष्ट करने के लिए हमें आगे बढना होगा कि मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा क्या हो सकती है।

मानव के बारे मे 'पंख-हीन दो पैरो वाले प्राणी जैसी उपहासात्मक

परिभाषाओ से लेकर गम्भीर-से-गम्भीरतम 'एक बुद्धिजीवी प्राणी' तक की परिभाषाएँ दी गई हैं। परन्तु इनमे से कोई भी पूर्णतः

२ मानव की परिभाषा सन्तोषजनक नही है। बैगहॉट ने कहा है, "मनुष्य पशु-रूप मे विचरण करने वाला प्राणी है।" परन्तु यह उसकी पशु-जीवन से सम्बन्धित घनिष्ठता का कुछ निम्न-मूल्याकन है। यदि हम उसे एक 'हँसने वाला प्राणी' कहे, तो हस और लकडबग्घे (हँसने वाले प्राणी) तथा कुछ जगलियो और सतो की गम्भीर कहानियाँ हमारे सामने आएँगी। यदि फ्रैंकलिन और कार्लाइल के शब्दो मे हम उसे 'औजारो का प्रयोग करने वाला प्राणी' कहे, तो हमे यह मानना पडेगा कि कुछ मनुष्य तो उनका प्रयोग एकदम जानते ही नही, वैसे सभी वयस्क ऐसे नही होते। निम्न श्रेणियो के कुछ प्राणी, हाथी भी कभी-कभी उनका प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं।[1] यदि हम भाषा के प्रयोग की ओर सकेत करें तो यह कहना पडेगा कि कुछ इस प्रकार के अनेक अन्य प्राणी भी हैं जो अभिव्यञ्जनात्मक स्वर-सकेतो से एक-दूसरे के साथ वार्तालाप करते हैं जबकि मानव की निम्न श्रेणी की कुछ जातियाँ भी इस निम्न स्तर से स्पष्टर बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकी हैं। यह स्पष्ट है कि मानव का बुद्धिशील होना उसे पशुओ से पृथक् करने वाली सबसे बडी विशेषता है और इस से उसकी अन्य सभी विशेषताओ की व्याख्या की जा सकती है। यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि वह पशुओ की अस्पष्ट आवाजो को एक मधुर भाषा मे विकसित करने में समर्थ हो सका; छोटे छोटे बाहरी पदार्थों के हस्त-व्यापार को एक विकसित औजार और मशीनो के रूप मे बदल सका विशेष ध्वनि, रग और रूपो को विविध प्रकार की अनुकरणात्मक और अभिव्यञ्ज-नात्मक कला के रूप मे, क्रोध को आक्रमण मे, भय को सुरक्षा मे घृणा को व्यग्य और हास्य मे, सहानुभूति को दान में, आश्चर्य को भय में, आत्म समर्पण

---

१. प्रो० लॉयट महोदय की पुस्तक 'एनीमल लाइफ एण्ड इण्टेलिजेन्स' पृ० २७० को देखिए। इसमें मानव को 'औजार-प्रयोग करने वाले प्राणी' के रूप में वर्णित किया गया है,' यहाँ औजार शब्द को बहुत विस्तृत अर्थ में समझना चाहिए उसमें मशीनें, पुस्तके, सस्थाएँ और निम्न श्रेणी के प्राणियो आदि का उपयो भी आ जाता है। यह कहना भी गलत नहीं होगा कि वह पूँजी प्रयोग करने वाला प्राणी है। दूसरे प्राणी भी परिश्रम करते हैं तथा विभिन्न प्रकार की बस्तियाँ और भण्डार जुटाते हैं। परन्तु उन सबमें केवल मनुष्य ही पूँजीवादी और मानव-जीवन का प्रत्येक विकास पूँजी पर ही आधारित होता है। इस शब्द के विस्तृत अर्थ के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पूँजीवादी होता है। आगे अध्याय ७, विभाग ४ देखिए।

को सम्मान मे, प्रभुता को कानून और सरकार मे और पारस्परिक सहयोग को सहकारी राष्ट्र-मंडल के रूप में परिवर्तित कर सका।

परन्तु इन सब बातों में मनुष्य अकस्मात् ही पारंगत नही हो गया और न ही वह प्रारम्भ से ही इन सब बातों का ज्ञान लेकर कही से आया था, अथवा उन्हे एकदम समझ गया था। मानव को उसकी कुछ विशेष योग्यताओं के बिना 'बुद्धि-जीवी प्राणी' नही कहा जा सकता, परन्तु उसे एक विचार-शक्ति रखने वाला प्राणी ही कहा जा सकता है। मानव अपने जीवन की क्रियाओं और परिस्थितियों को क्रमशः विकसित करता हुआ ही आज की स्थिति तक पहुँचा है।

परन्तु इतना कह देना ही पर्याप्त नही है। यह स्पष्ट है कि विचार-शक्ति मात्र से ही मानव-जीवन, जैसा वह है, आज नही हुआ होता, यदि वह एक विशेष शारीरिक ढांचे से विभूषित न होता। विकसित मांस पेशियो और हड्डियों के ऊपरी ढांचे के बिना, वह अपने शरीर को उठाने और अगले भाग को सीधा करके शेष को अपने वश मे रखने मे समर्थ नही हो सकता था। सुविकसित आँखों और अन्य इन्द्रियो के बिना वह पदार्थों को अपने उद्देश्य मे सहायक बनाने और उनको यथार्थता के साथ निरीक्षण करने मे समर्थ नही हो सकता था। गतिशील हाथो[1] के बिना वह विविध औजारों और अन्य मशीनों को, जिनसे आज हमारा परिचय हैं, मुश्किल से ही निर्माण और प्रयोग कर सका होता। पहले ये औजार और मशीनें अपनी प्राथमिक अवस्था मे उसके शारीरिक अवयवो के विभाग से कुछ ही अधिक समझी जा सकती थीं[2]। एक जटिल स्वर-यन्त्र के बिना वह मानव-मात्र में प्रचलित इन भाषाओं का विस्तार और प्रयोग नही कर सका होता; सूक्ष्म श्रवण-शक्तियों के बिना वह उन्हें समझ भी नही सकता; अंगुलियो के बिना वह उन्हें स्थायी रिकार्ड के रूप मे निर्माण भी नही कर सका होता। सूक्ष्म स्नायु-संस्थान के बिना वह कला के उच्चतम रूपो की उत्पत्ति और मूल्यांकन करने मे मुश्किल से ही योग्य हुआ होता। यहाँ तक कि विचार के प्रयोग के लिए मस्तिष्क का होना भी आवश्यक प्रतीत होता है। मनुष्य केवल बुद्धि-

---

१. अनेक्सगोरस की प्रवृत्ति यह प्रतीत होती है कि वह मनुष्यमात्र की श्रेष्ठता पूर्णतः उसके हाथों के कारण समझता था, पर इसके अनुसार तो बन्दरों का स्थान भी ऊंचा होना चाहिए। बर्नें महोदय की पुस्तक 'अर्लीग्रीक फिलासफी पृ० २६७ भी देखिए। हाथों और पैरों की भिन्नता को एक महत्वपूर्ण विकास मानना चाहिए।

२. अन्य लोगों में से सेम्युअल बटलर महोदय ने इस पर अपनी पुस्तक 'Erewhon अ० २५ में प्रकाश डाला है।

जीवी प्राणी ही नही है, परन्तु वह एक विशेष प्रकार का प्राणी है जो एक विचित्र एव जटिल शारीरिक ढाँचा रखता है। उसी पर उसके विचार, भावनाएँ और कार्य पूरी तरह से सुनिश्चित और आधारित होने हैं। यदि मनुष्य एक उच्चतर-श्रेणी के बन्दर की अपेक्षा एक घोडे के रूप मे होता जैसे स्विफ्ट महोदय का ह्यिम्स, तो उसका बौद्धिक जीवन वर्तमान अवस्था से बहुत ही भिन्न होता, वह भले ही उस रूप मे कितना ही विकास क्यो न कर पाता। यदि चीटियो और मक्खियो मे विवेक विकसित होता तो उससे हमारे इस सुपरिचित मानव-जीवन के विवेक से भिन्न परिणाम निकलते। मानव के शारीरिक-गठन को पूर्ण विशेषताओ को जाने बिना हम मनुष्य के जीवन को पूर्ण-रूप से नही जान सकते। यहाँ इन सब विशेषताओ के विवेचन की हमे आवश्यकता नही, क्योकि वह हमे कही विषय से बाहर न ले जाए। उन्हे हम शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राकृतिक-इतिहास और मानव-विज्ञान आदि विषय के लेखको पर छोड देने है। हम पहले मे ही इस विषय की मुख्य-मुख्य बातो से पर्याप्त रूप से परिचित हैं और यहाँ अब हमे उन पहलुओ की कुछ आधारभूत बातो से जानकारी करके सन्तोप करना चाहिए।

यह मान लेने पर कि मानव एक विशेष प्रकार का प्राणी है, उसमे अनेकों विशेप अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ है, यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जन्तुओ की सामान्य विशेषताएँ क्या है। हम इसे सक्षेप मे ही रखेंगे। यह स्पष्ट है कि कुछ बातो मे पशुओ का जीवन वनस्पतियो से मिलता-जुलता है, परन्तु कुछ बातो मे वह स्पष्ट तथा भिन्न भी है। कुछ

३ मानव-जीवन के तीन मुख्य पहलू

दृष्टिकोणो से उसे निम्न श्रेणी का समझा जा सकता है। सामान्यत, जन्तुओ मे वह शान्ति, एकरसता और सौन्दर्य नही है जो वनस्पति-जीवन के कुछ रूपो मे प्राप्त है। परन्तु जो माप-दण्ड मे निम्न श्रेणी के ठहराए जाते हैं उनमे सामान्यत श्रेष्ठता की कुछ वातें होती हैं। यहाँ तक कि कुछ बातो मे निर्जीव पदार्थ भी वनस्पतियो से कुछ श्रेष्ठ होते हैं। फूलो मे वह शान्ति और गभीरता कहाँ है, जो शाश्वत पर्वतो मे है? वाल्ट ह्विटमैन ने निम्न श्रेणी के प्राणियो और मानव-जाति के अशान्त अस्तित्व मे भेद प्रदर्शित किया है, 'वे अपनी स्थिति के सम्बन्ध मे कठोर श्रम और विलाप नहीं कर सकते, वे अन्धकार मे जागते पडे रहकर अपने पापो के लिए रुदन नही कर सकते। उनमे से कोई भी आदरणीय अथवा दीन-दुःखी नहीं होता सामान्यत जहाँ सक्रियता अधिक होती है वहाँ शान्ति कम होती है। यह मानव-जीवन मे ही देखा जा सकता है कि "बचपन एक स्वर्ग है," इसमें भी एक भावपूर्ण तथ्य छिपा है।

सामान्यतः एक किसान एक दार्शनिक या एक राजनीतिज्ञ की अपेक्षा कम अशान्त स्थिति मे रहता है।

परन्तु, सारांशत:, जैसे जन्तुओ का जीवन स्पष्टतः वनस्पतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ और अधिक जटिल होता है, ठीक इसी तरह से मानव-जीवन भी अन्य प्राणियो की अपेक्षा श्रेष्ठतम और अधिक जटिल होता है। इस अन्तर को सदा सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित नही किया जा सकता जिस प्रकार वह प्राकृतिक पदार्थों में प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि सामान्यत जन्तु पेड़-पौधो की तरह उगने और पौधो की तरह अपनी जाति को फिर पैदा से करने के अतिरिक्त एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की योग्यता और अपने आस-पास के पदार्थों के प्रति कुछ इन्द्रिय-ज्ञान रखते है और क्रियाओ के प्रति कुछ मनोवृत्त्यात्मक प्रवृत्तियाँ दिखाते हैं। उच्चतर प्राणियो मे, जिनके मानव अतिनिकट है, परिस्थितियों के प्रति समायोजन के लिए अधिक शक्तियाँ और जटिल सवेग होते है। अतः, यद्यपि प्राणियो के जीवन के कई प्रकार हो सकते है और पौधो के अनेकों भेद हो सकते हैं, तो हम वलपूर्वक कह सकते हैं कि हर एक जन्तु थोडी या अधिक मात्रा मे, कुछ सूक्ष्म, अनुभूति और क्रिया करने की सचेतन-शक्ति और विशेष योग्यता वाला एक पौधा ही है। यदि यह वात सही है तो फिर हम यह भी कह सकते है कि एक मनुष्य भी वास्तव मे एक पौधा ही है जिसमे जटिल जन्तुओ वाली विशेषताएँ भी है तथा वह विचार-शक्ति और उसके साथ सम्बन्धित अन्य शक्तियाँ भी उनमे है। निस्सन्देह, अन्य शक्तियो मे से हम मानव की शुद्ध-पाशविक शक्तियो और प्रवृत्तियो के ह्रास को भी ले सकते है, जिसे केवल वृद्धि-मात्र कहना भ्रमात्मक होगा।

इस प्रकार हम मानव-जीवन मे प्राप्त तीन प्रमुख पहलुओ के विषय मे विचार कर सकते है। पहला पहलू वनस्पति-सम्बन्धी, दूसरा पशु-सम्बन्धी और तीसरा पहलू, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह स्वय उससे सम्बन्धित है। मानव-जीवन का गौरव इसी जटिलता पर आधारित है। परन्तु वह हमारी कठिनाइयों का और कभी-कभी हमारे पतन का स्रोत भी होता है। कुछ अशों मे हमारी जडें, पौधो की तरह हवाओ और मौसमों की कृपा पर भी आधारित होती है। जन्तुओ की तरह हम अपनी क्षुधा, मनोवृत्तियों और सवेगों द्वारा पथच्युत भी हो सकते है। विवेक हमे आत्म-सयम का बल देता है पर वह क्रमशः विकसित होने वाली चीज हैं। वह हमारे अन्तर मे उपस्थित निम्नतत्व पर कठिनाई से ही अधिकार कर पाता है। हमारी प्रकृति की जटिलता हमें समझने की शक्ति और सहानुभूति की सम्भावना प्रदान करती है। यह माना जा सकता है कि इनका शुद्ध बुद्धि-तत्त्व मे अभाव हो सकता है, पर वह जटि-लता, हमारी पाशविक भूख और लालसाओं को अधिक वल देने की सम्भावना

भी रखती है। वह उन्हे अप्राकृतिक उपयोग के लिए विकृत भी कर सकती है।[1] विवेक स्वर्ग का प्रकाश कहा जा सकता है, परन्तु जब वह अर्द्ध-विकसित होता है तो हमे सरलता से पथभ्रष्ट भी कर सकता है। मेफिस्टोफिलिज (Mephistopheles) के अनुसार उसका प्रयोग मानव को एक पशु से भी अधिक पाशविक होने मे किया जा सकता है। मानव प्रकृति की महान् समस्या उसके अपने जटिल सघटन के लिए उचित सतुलन प्राप्त करने की है।

अब हमे यह देखना है कि इस जटिलता द्वारा मानव-जीवन का सामाजिक पहलू अपने सामान्य ढाँचे मे कैसे प्रभावित होता है।

४. मानव की सामाजिक प्रकृति

मनुष्य तत्वत एक सामाजिक प्राणी है। यह कहाँ तक सही है, इस पर विचार करते हुए हमे उसके निर्माण के प्रमुख घटको का एक विवरण प्रस्तुत करना होगा। यह स्पष्ट है कि उसकी प्रकृति का वनस्पति-पक्ष सामाजिक सगठन के लिए आधार उपस्थित नही करता। पौधे निश्चित अर्थों में यूथचर नही कहला सकते और उनका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व भी स्वीकार नही किया जा सकता। यहाँ तक कि चट्टान अथवा पर्वत भी मुश्किल से ही ऐसे है। उनमे भी एक लम्बी शृंखला और एक समूह होता है। वे आपस मे धरती के विकास की सामान्य प्रक्रिया के साथ अति रोचक और जटिल ढग के साथ सम्बन्धित हैं। वे प्रायः पौधो, जन्तुओ और मानव के जीवन पर भी सूक्ष्म प्रभाव डालते हैं। सभी पौधे कम-से-कम दूसरे पौधो को उत्पन्न करते हैं। उनमे समूह मे बढने की प्रवृत्ति होती है। कई पौधो की उर्वरता उनके एक से अधिक रूपो को उत्पन्न करने मे समर्थ हो सकती है। प्राणियो के जीवन मे जो इस तरह की समान बातें हैं उन्हें उनके प्राथमिक रूप से वनस्पति-पक्ष मे समझा जाना चाहिए और वे अधिकतर प्राणियो मे थोडा बहुत आश्चर्य उत्पन्न करती हैं। ज्यादातर प्राणियो की पीढियो मे यौन-सम्बन्धी भिन्नता और यौन सादृश्य मिलते हैं। उनके बच्चे कम-से-कम कुछ अशो मे असहाय होते हैं और एक निश्चित काल तक माँ-बाप मे से एक या दोनो की सहायता की आवश्यकता अनुभव करते है। आने वाले खतरे उन्हें एक समूह बना कर रक्षा करने की आवश्यकता अनुभव करने के लिए तैयार कर देते हैं। उन्हे कभी-कभी वर्ष के किसी भाग मे दूसरे समय के उपयोग के लिए भोजन-सामग्री भी एकत्रित करनी पड़ती है। कभी-कभी यह काम सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। अत अधिकतर उच्च श्रेणी की विकसित

---

१. इस पर ग्रीन महोदय की "प्रोलिगोमेना टू एथिक्स" पृष्ठ १२६ में अच्छी तरह से जोर डाला गया है।

जन्तु-जातियां स्वाभाविक रूप से यूथ-चर होती हैं। यह सही है कि वे अपनी प्रकृति के वनस्पति-पक्ष पर स्वाभावतः ही आधारित होती हैं। यद्यपि यह सब-कुछ उनकी समझने की शक्तियो, क्रियाओं मनोवृत्तियो तथा उनके सवेगो के विकास के द्वारा ही संभव हो सकता है।

अब यह स्पष्ट है कि मानवीय साहचर्य की भी इसी रूप से व्याख्या की जा सकती है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है[1] कि समाज का निर्माण जीवन के निमित्त किया गया। यद्यपि समाज सुन्दर-जीवन के लिए बनाया गया है और उसी के लिए उसको बराबर स्थिर रखा गया है। बच्चो की देख-भाल, भोजन और पानी का सग्रह, पर्याप्त आश्रय और सुरक्षा का विधान मानव-समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। यद्यपि इन कारणो को भी मानव-समाज की उत्पत्ति के लिए आवश्यक न समझें तो भी यह कारण मानव-समाज के निर्माण के लिए पर्याप्त सिद्ध होगा कि मनुष्य बिना समाज के अकेला नही रह सकता। अत सामाजिक साहचर्य का कोई रूप उसके वास्तविक ढाँचे के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार के साहचर्य का प्राकृतिक रूप इस तथ्य से वास्तव के प्रभावित नही होता। विभिन्न काल और स्थानों में उसके भिन्न-भिन्न भेद पाये जाते है। फिर, भिन्न-भिन्न स्थानो मे भिन्न भिन्न प्रकार का भोजन पाया जाता है और कुछ स्थानो में उसका संग्रह दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता है। और जिन अनेक खतरो से सुरक्षा करनी पडती है वे भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए, वे कभी-कभी गरमी, कभी-कभी ठडक, कभी अनावृष्टि, कभी बाढो, कभी जगली जानवरो और कभी दूसरे आदमियों के द्वारा उत्पन्न होते रहते है। जन्तु भी कुछ थोडी हद तक अपने आपको विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार ढालने मे समर्थ होते है। इसीलिए एक-ही जाति मे व्यवहार के ढग सदैव प्राकृतिक होते हुए भी प्राय सदा बिल्कुल एक जैसे नही होते।

परन्तु केवल वनस्पति-पक्ष के आधार पर की गई इस सामाजिक जीवन की व्याख्या के साथ-साथ जान्त्विक प्रकृति से सम्बन्धित कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो साहचर्य को स्वाभाविक बनाते हैं। कुछ जन्तु दूसरो का शिकार करते है, यह उनकी प्रकृति का एक पाशविक तत्त्व है। यही उन्हे अपनी सुरक्षा और कभी-कभी दूसरों पर आक्रमण के लिए साहचर्य की ओर प्रवृत्त करता है। कुछ अश तक एक-ही जाति के जन्तुओ मे अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष होता है। इसे हम विनाशक-तत्त्व कह सकते हैं। परन्तु इससे सम्बन्धित मनोवृत्ति कुछ अशो में साहचर्य की प्रेरक है। कुत्ते मिलकर भोंकने और काट खाने में

---

1. "पालिटिक्स", खण्ड ३, अध्याय ६।

आनन्द अनुभव करते हैं। चिडियाँ भी अपने छोटे-छोटे घोसलो मे हमेशा मिल-जुलकर रजामन्दी से ही नही रहती, परन्तु जैसे वे लडने के लिए इकट्ठी होती हैं वैसे ही वे परस्पर सहयोग भी करती है। यह दृष्टांत एक कल्पना ही नही है कि लडने की मनोवृत्ति कभी-कभी सगठन की शृखला भी बन जाती है। सारांश मे, अभिन्नता ही व्यक्तियो को पृथक्-पृथक् रखती है। सघर्ष और प्यार उन्हें मिलाते हैं। हेराक्लिटीज़ ने होमर की इस भावना की निन्दा की है कि, ' कितना अच्छा होता, यदि सघर्ष देवताओ और मानव-जाति से नष्ट हो जाता।" उसका यह विचार है कि सघर्ष समाप्त हो जाने का अर्थ है जीवन समाप्त हो जाना। इस विवाद मे न पडकर कम-से-कम हम यह तो कह सकते हैं कि प्राणियो के साहचर्य-निर्माण मे सघर्ष भी एक पहलू है। वे कभी मिलकर रहते है, पर इसलिए नही कि वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे, अपितु इसलिए कि कोई और दूसरा उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुंचा सके। इन सब उद्देश्यो के बारे म उन्हे किसी प्रकार का ज्ञान नही होता, वे तो मूक भावनाओ के पीछे काम करते रहते हैं। यदि पृथक् रहने वाले एक-दूसरे के साथ सहयोग नही करेंगे तो वे प्रतियोगिता भी नही करेंगे। अत हम सहयोग और प्रतियोगिता, प्रेम और सघर्ष, इन दोनो को विपरीत होने पर भी एक साथ स्थान देंगे। क्योंकि यही बातें भावनाओ मे आबद्ध होकर जन्तुओ मे सामाजिक-सगठन उत्पन्न करती है।

स्पष्ट रूप से ये शक्तियाँ मानव-जीवन मे भी इसी प्रकार क्रियाशील रहती हैं। पारस्परिक सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता कबीलो और जन समुदाय के निर्माण के प्रेरक हैं अथवा वे एकता के सूत्रो को और अधिक दृढ बनाने मे सहयोग करते है, किसी समय एक-दूसरे का समर्थन करते है तो कभी एक-दूसरे का विरोध। इस प्रकार दोनो बातो में वे एक दूसरे के कार्य मे तीव्र रुचि लेते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक है, भले ही मानवता के विशेष गुण पौधो और जन्तुओ से सम्बन्धित न हो।

परन्तु एक मनुष्य के रूप मे उसकी विशेषताएं साहचर्यवाली प्रवृत्तियो को एक नया महत्त्व प्रदान करती हैं। विवेक-शक्ति, मूल रूप-से एक एकत्त्व प्रदान करने वाली शक्ति है। भोजन-सग्रह की अपेक्षा ज्ञान के सग्रह के लिए अधिक सहयोग की आवश्यकता है। उसे केवल वर्ष-प्रतिवर्ष नही, बल्कि पीढी-दर-पीढी इकट्ठा करना होता है। बच्चों को सोच-विचार के लिए प्रेरित करने और विचारो को मार्गदर्शन के लिए व्यवहार मे लाने के लिए एक लम्बे और दृढ साहचर्य की जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता चलना और भागना सीखने में नही पड़ती है। दाँतो और यत्रो की अपेक्षा औज़ार और मशीनो का प्रयोग अधिक आपसी सहयोग और अधिक जटिल प्रतिद्वन्द्विता की

भावना को जन्म देता है। भाषा का प्रयोग एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से और एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी से जिस तरह से बाँधता है, वैसा बंधन जन्तु-जगत् मे किसी रूप मे नही पाया जा सकता। इसके साथ ही वह विभिन्न जातियों और लोगों के बीच कभी-कभी गहन पार्थक्य और दृढ विरोध भी उत्पन्न करता है, परन्तु उससे भी सगठन के जटिल रूपो को अधिक दृढता ही मिलती है। प्राणियों द्वारा वंशानुक्रम से उपार्जित विशेषताओ के बारे मे कुछ भी सही सिद्धान्त क्यो न हो[1], परन्तु यह स्पष्ट है कि मानव की अपनी विशेष उपलब्धियाँ साहचर्य के द्वारा ही प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज मे मिलने वाली विषमताएँ, इस बात के लिए पर्याप्त आधार नही बन सकती कि साहचय मनुष्य के लिए एक प्राकृतिक वस्तु नही है। परन्तु इससे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि मानव-प्रकृति की महान् विशेषताएँ, विभिन्नता, भेद-भाव और विरोध तथा साथ-ही-साथ एकत्व को भी उत्पन्न करने वाली होती है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ कुछ अशों मे साहचर्य भाव से पूर्ण होती है; परन्तु स्वभावत. ही साहचर्य के ऐसे रूपों को जन्म देती है, जो परस्पर विरोधी और परिवर्तनशील होती है।

इन बातों को ध्यान मे रखते हुए अब हम समुदाय के उन स्वरूपों पर और भी निश्चयात्मक ढंग से विचार करेंगे, जिनके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वे मनुष्य के लिए प्राकृतिक है।

यहाँ पर सामाजिक अध्ययन के आधार के रूप मे प्रयुक्त मानव-प्रकृति के विश्लेषण के प्रमुख तरीको पर ध्यान देना उचित होगा। इस सम्बन्ध मे

५. कुछ ऐतिहासिक विवरण

ध्यान आकर्षित करने वालों में प्रधान लेखक प्लेटो और अरस्तू है। हम उनके विचारों का यहाँ संक्षिप्त-विवरण प्रस्तुत करेंगे और फिर बाद में विचार प्रवृत्तियो पर ध्यान देंगे।

---

१. यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका अभी कोई हल नहीं मिला है और इसकी व्याख्या का उत्तरदायित्व जीवशास्त्रियों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। लामार्क का विश्वास था कि ऐसी विशेषताएँ वंशानुक्रम से आती हैं और उसके विचार को मुख्य रूप से स्पेन्सर महोदय ने स्वीकार किया है। डार्विन महोदय ने उस पर सन्देह किया और वीसमैन ने उन सन्देहों का प्रभावशाली प्रत्युत्तर दिया है। अब यह विश्वास करने योग्य बात रह गई है कि एक व्यक्ति के जीवन में अर्जित की गई विशेषताओं को उसकी सन्तान में नहीं पहुँचाया जा सकता। अतः शिक्षा ही एक ऐसा प्रमुख साधन बच जाता है जिसके सहारे मानव जाति की प्रमुख मूल्यवान् सम्पत्तियों को सुरक्षित रखा जा सकता है। बेन्जामिन किड की पुस्तक "सोशल एवोल्यूशन" के मुख्य प्रश्नों में से यह एक है और उसी पर उनकी अन्य पुस्तक में भी बल दिया गया है।

(क) प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे तीन प्रकार के बिभाग प्रस्तुत किये गए हैं। कुछ अशो मे उन्ही को हम यहाँ रख रहे हैं। ये तीन विभाग प्लेटो के आदर्श-राज्य मे उपस्थित तीन विभिन्न वर्गों के लक्षणो को व्यक्त करने के लिए आधार बने।[1] प्लेटो के अनुसार ये तीन तत्व क्रमशः क्षुधा-सम्बन्धी, महत्त्वेच्छा अथवा ऐषणा-सम्बन्धी और चिन्तनशीलता-सम्बन्धी होते हैं। इन्ही से क्रमशः सम्बन्धित-वर्ग, उद्योग, सेना और शासन हैं। अन्तिम दो वर्ग कई बातों मे एक ही वर्ग के दो भाग समझे जाते हैं। इस बारे मे कई प्रश्न उठाये जा सकते हैं, परन्तु निम्नलिखित प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) सभी मनुष्यो मे ये तीनो आधार-भूत तत्त्व मिलते हैं। वे समाज मे विभिन्न विशिष्ट वर्गों के उत्पन्न होने पर कोई आधार उपस्थित नही करते। (२) क्षुधा का पहलू अन्य दो पहलुओ से अधिक बल के साथ पृथक् उपस्थित किया गया है। (३) सवेग या ऐषणा सम्बन्धी पहलू, सेनाओ की क्रियाओ मे पर्याप्त रूप से नही देखा जाता। (४) एक शासन का कार्य मुश्किल से ही शुद्ध बुद्धि-सम्बन्धी कहा जा सकता है। इन आक्षेपो के उत्तर मे सक्षिप्त रूप से कुछ कहना उचित होगा :

(१) सभी मानव या मानव वर्ग के लिए शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति अनिवार्य है। उदाहरण के लिए जीवन-यापन, उत्पत्ति और जातियो की वृद्धि सभी के लिए अनिवार्य हैं। ये कुछ अशो में क्षुधा के नाम से पुकारी जा सकती हैं। कुछ अशो में ये हमारे इन्द्रिय-ज्ञान मे भी आते है, जैसे, गरमी, सरदी, दुख और अन्य शारीरिक कष्टो की अनुभूति। सभी मनुष्य अपनी क्षुधाओ की तृप्ति के लिए और अपनी असुविधाओ को हटाने अथवा पूरी तरह से मिटाने के लिए कुछ अशो मे अपने पथ-प्रदर्शक विवेक का सहारा लेते हैं। सभी लोग इस बात को जानते हैं कि जिसे एक मनुष्य अनुभव करता है, वही केवल एकमात्र आवश्यकता नही होती। अत भिन्न-भिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न लोग प्रमुख रूप से काम करते हैं। इसलिए जीवन के किसी विशेष पहलू को पृथक् रूप से लेकर कोई एक वर्ग उसी मे लगा रहे यह प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। अपने विषय का विवेचन प्रस्तुत करते समय यह दोष प्लेटो ने स्पष्ट रूप से उपस्थित किया है। वह अपने आदर्श राज्य मे सगठन पर अत्यधिक बल देता है। परन्तु उसे वर्गों मे एकदम से विभाजित कर देना लोगो की समान विचारधारा के विकास को रोकता है, जो लोगो के सगठन के लिए अत्यावश्यक भी है।

---

१. इस सम्बन्ध में मुख्यतः इसी पुस्तक के खण्ड ३ और ४ को देखिए। इन खण्डों से सम्बन्धित परिशिष्ट की टिप्पणियों को भी देखिए।

निम्न वर्ग चाहे उच्चवर्ग को न समझ सके परन्तु उच्चवर्ग के सुशिक्षित और शुभ-सकल्प वाले लोग, निम्न-वर्ग वालों के साथ कुछ मौलिक सहानुभूति अवश्य रखते है।

(२) यह दोष, औद्योगिक वर्ग—जो क्षुधाओ को तृप्ति से सम्बन्धित हैं तथा दूसरे दो वर्ग,—जो विवेक-शक्ति से सम्बन्धित है, दोनो के पार्थक्य मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। केवल दूसरे दो वर्गो के लिए कोई सुनिश्चित शिक्षा दी जाती है, परन्तु औद्योगिक वर्ग केवल दूसरो की इच्छाओं पर निर्भर बना रहे, यह भी अपेक्षित नही है। परन्तु वह भी अपने कार्य मे ऐसी कलात्मकता उत्पन्न कर सकता है जिससे सब लोगो के लिए एक सुन्दर वातावरण पैदा हो सके। सम्भवत. प्लेटो का विचार यह था कि शासक लोग ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करे जो इन आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रकार की शिक्षा अवश्य ही उच्चवर्ग की शिक्षा के समान होगी और फिर वह ऐसा विभाग पैदा करेगी जिसका कुछ भी अर्थ नही होगा। अन्य समस्याओ के साथ अरस्तू महोदय ने भी इस समस्या को सम्मुख रखा है।[1] वर्तमान समय मे तो यह और भी स्पष्ट हो उठी है। अब लोग उद्योग के तकनीकी तरीको के साथ गणित और अन्य विज्ञान का प्रयोग भी करने लगे है और इसके साथ युद्ध-सम्बन्धी सभी सामग्रियो की जानकारी भी चाहते है।

(३) यह भी स्पष्टत गलत है कि सैनिक जीवन को जीवन एक ऐसा प्राकृतिक रूप समझा जाए जिसमे मानव-प्रकृति की ऐषणा अथवा महत्वाकांक्षा का तत्त्व प्रकट हो। प्लेटो स्वय युद्ध को एक रुग्ण समाज के राज्य से उत्पन्न होने वाला बताता है। उसका आदर्श समाज विशाल रूप मे इसी विचार के साथ आयोजित किया गया है। निश्चय ही मानव प्रकृति का ऐषणा-सम्बन्धी पक्ष प्रेम और संघर्ष में, क्रीड़ा-भावना मे साहस मे, कविता और अन्य सभी उच्च कलाओं में दिखाई देता है। प्लेटो, यद्यपि स्वय एक कवि और नाटककार थे, परन्तु कवित्व सम्बन्धी कला को उन्होने प्राथमिक-शिक्षा के अतिरिक्त कही भी कोई स्थान नही दिया और नाट्यकला को तो एकदम से ही कही भी नही रखा है। यह दिखाई देता है कि कीट्स ने अपनी बाद की और प्रारम्भिक कविताओ मे अपनी प्रकृति के रुझान को अभिव्यक्त किया है। वर्तमान काल मे सैन्य-कला एव औद्योगिक कला भी पूरी तरह वैज्ञानिक और यान्त्रिक बन गई है। इसके साथ ही वे प्रमुख रूप मे विज्ञान और यन्त्रो से सम्बन्धित लोगो के हाथ मे भी चली गई हैं।

(४) किसी राज्य का शासक निश्चित रूप मे एक विचारशील व्यक्ति

---

1. अरस्तू महोदय की पुस्तक "पालिटिक्स" खण्ड २, अध्याय २५ देखिए।

होता है। निस्सन्देह, उसको अपने विवेक का प्रयोग एक उद्योगशाला के मुखिया की अपेक्षा अधिक समन्वयात्मक-रूप से करना पडता है। परन्तु वह अपने विवेक का प्रयोग एक कलाकार अथवा वैज्ञानिक से कम ही करता है। प्लेटो चाहता था कि राजा लोग दार्शनिक हो। यह तो निश्चित रूप से वाञ्छनीय है कि वे लोग दार्शनिक सस्कारो से युक्त हो। परन्तु श्रम के विभाजन के सामान्य-सिद्धान्त के अनुसार यह दिखाई पडता है कि शुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान के विद्यार्थी, तथा सिद्धान्त-मात्र या केवल कुछ प्रयोग-मात्र जानने वाले विद्यार्थी मे कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। अरस्तू ने इस पर विशेष रूप से बल दिया है। उसे ही अब हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

(ख) अरस्तू ने जीवन के तीन पहलुओ को मान्यता दी है। उनका विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके है। वर्धी-पक्ष को उसने अविवेकपूर्ण कहा है और जन्तुओ सम्बन्धी पहलू मे विवेक या विचार को स्थान दिया है। उसने विवेक को, पाशविक-प्रवृत्तियो के नियमन तथा सयम के रूप मे और विशेष उद्देश्यो के अनुशीलन करने के रूप मे विभक्त किया है।[1]

इस विश्लेषण को पूर्ण सन्तोषजनक नही कहा जा सकता। इसने अरस्तू की नैतिक मूल्यो की व्याख्या के समय कुछ उलझाव उपस्थित किया है।

उन्हे कुछ अशो मे हमारी जैव आवश्यकताओ की पूर्ति मे नियमितता लाने के साथ-साथ कुछ अशो मे हमारी पाशविक प्रवृत्तियो को सयमित करने से सम्बन्धित समझना चाहिए। परन्तु उनकी पूर्ण व्याख्या का उत्तरदायित्व तो नीतिशास्त्र पर ही छोड देना चाहिए। समाज-दर्शन अथवा राजनीति-शास्त्र मे अरस्तू महोदय ने वर्गो के तीव्र भेद की अवहेलना की है। अत वह जनता के पूर्ण मौलिक सगठन की व्याख्या मे प्लेटो की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है (कम-से-कम जब 'रिपब्लिक' को हम प्लेटो के विचारो का पूर्ण प्रनिनिधित्व करने वाली पुस्तक मान लेते है।)

दूसरी ओर, उसके द्वारा विवेक का दो रूपो मे विभाजन[2] उसे प्लेटो की अपेक्षा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन मे एक तीव्र पार्थक्य उत्पन्न करने की ओर ले जाता है। कभी-कभी वह ऐसा कहता दीखता है कि

---

१ अरस्तू महोदय की पुस्तक 'निकोमेकियन एथिक्स' खण्ड १, अ० १३ को देखिए।

२ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कारण। निस्सन्देह इस भेद को बहुत गहराई तक दिखाया जा सकता है। कारण मूलत. एक-सा ही रहता है, चाहे उसका प्रयोग सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक समस्याओं में किया जाए। एक पूर्ण व्यक्ति उसके दोनों प्रयोगों को समझ सकता है। यह सत्य है कि कुछ लोग तो अपने विचारों को व्यवस्थित रखने में और अन्य लोग मुख्य रूप से अपनी अनुभूति को अथवा अपने कार्यों को व्यवस्थित रखने में अधिक निपुण होते हैं।

एक दार्शनिक और एक वैज्ञानिक का जीवन एक राजनीतिज्ञ और एक नागरिक के जीवन से पूर्णतः भिन्न है।[1] परन्तु उसने उसे यह कह कर कुछ अन्तर अवश्य कर दिया है कि बाद वाले पहले वाले लोगो के लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत करते है। "गुलामों के लिए आराम नही है।" सर्वप्रथम हमे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यहाँ तक कि श्रेष्ठ जीवन वाले लोगों के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है। उसके बाद ही ज्ञान और चिन्तन के लिए परमानन्द का लाभ किसी को ही हो सकता है।[2] परन्तु वह इस बात को मुश्किल से ही मान्यता देता दीखता है कि सामान्यतः मनुष्यों के उत्तम जीवन के प्रत्यक्षीकरण के लिए ज्ञान और चिन्तन स्वतः कोई साधन हों। प्लेटो या अरस्तू ने क्या कहा था, उससे हम लोग कुछ भी वास्तविक सम्बन्ध नही रखते। परन्तु हमारा सम्बन्ध तो इस बात से है कि वे लोग क्या कहना चाहते थे और कितना कह पाए। यदि उन्होने पूर्णतः उसे कह दिया और उनके कहने का यही मतलब था, तो निस्सन्देह वह सब ठीक है। कुछ भी हो, उनका विचार काफी सीमा तक ठीक था।

(ग) वर्तमान समय में प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तो का एक अच्छा प्रभाव पडा है। ये कुछ अशो मे स्टोइकों के द्वारा उत्पन्न किए तीव्र विरोध के द्वारा प्रतिरुद्ध-से हो गए थे। स्टोइको ने मानव-प्रकृति के शुद्ध विवेक और तर्कनापरक तत्त्व में विरोध उत्पन्न किया है। साराश मे कार्टिजियन ने इस विरोध भावना का समर्थन किया है। जीवन के धर्म-निरपेक्ष और पवित्र पहलुओ के विरोध ने, जो स्वय भी कुछ भिन्नता लिये हुए था; अनेकों लोगों को प्रभावित किया। उसने एक ओर द्वैतवाद को प्रोत्साहन दिया, दूसरी तरफ़, आधुनिक मनोविज्ञान और सचेतन जीवन की एकता पर इस प्रकार से बल दिया है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं का महत्त्व कम दिखाई पड़ता है। अतः, सारांश मे, मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं मे परिपूरकता लाने में कमी रही है और कभी-कभी एक भाग और कभी-कभी दूसरे भाग पर अनुचित रूप से बल देता है। वर्तमान समय मे जीवन का आर्थिक-पक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज की व्याख्या करने वाले विज्ञानो मे अर्थ-शास्त्र की व्याख्या सबसे अधिक की गई है। वह अपने बूते से बाहर केन्द्रीय स्थान को ग्रहण करता जा रहा है। कार्लाइल और रस्किन ने इसका विरोध करके, नैतिकता तथा कला के अधिकारों को दृढ़ता प्रदान करके एक अच्छा और सेवा का कार्य किया है। दूसरी तरफ,

---

१. 'एथिक्स', खंड १०, अध्याय ७, ८। इनकी पुस्तक "पालिटिक्स" खंड ४ भी देखिए।

२. 'पालिटिक्स' खंड ४, अध्याय १५।

सस्कृति के पक्षपाती, कभी-कभी यूनानी विचारो द्वारा थोडा-सा समर्थन पाकर—जीवन के औद्योगिक और वाणिज्य सम्बन्धी पहलू के बारे मे अनुचित मोह प्रदर्शित करते हैं। नैतिकता और धर्म के पक्षपाती कभी-कभी औद्योगिक जीवन, कला और सस्कृति के अधिकारों के प्रति थोडी सहानुभूति दिखाते हैं। यह प्रधान रूप से ग्रीक-दर्शन का एक नवीनीकरण है और प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओ का एक विशेष अध्ययन है, जिसने मानव-प्रकृति मे उपस्थित विभिन्न-तत्त्वो की सन्तुलित विचारधारा को प्रस्तुत करने मे सहायता दी है।

यह विवरण बहुत-कुछ रूप मे एक अधूरा चित्रण ही है, परन्तु भावी विश्लेषण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए सहायक होगा।

द्वितीय अध्याय

समुदाय

१. समुदाय का प्राकृतिक आधार

प्रथम अध्याय के विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज एक प्राकृतिक आधार पर स्थित है। मानव-प्रकृति के सभी आधार-भूत तथ्य सामाजिक-सगठन के किसी-न-किसी रूप को जन्म देते हैं। सभी प्राणियो की कुछ आवश्यकताएँ होती है (जिन्हे हम वर्गी कह सकते है।) जैसे भोजन और पानी की, उष्णता और सरदी से बचाव की, तूफान और बाढ से सुरक्षा की, और रोग एव जंगली पशुओ के आक्रमण से बचाव आदि की आवश्यकताएँ पडती है। सभी प्राणी अपनी जाति को बनाये रखने की कोशिश करते हैं। इसलिए दूसरों से सहयोग प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक हो जाता है। हमारी विशेष पाशविक इच्छाएँ, प्रेम और संघर्ष की प्रवृत्तियाँ, तथा इन्ही केन्द्रीय भावनाओ के चारों ओर घूमने वाली विभिन्न मनोवृत्तियाँ, और हमारे संवेग हमे एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्धो मे आबद्ध हो जाने के लिए अनिवार्य-रूप से प्रेरित करते हैं। समुदाय बनाने के लिए इन से भी ज्यादा अनिवार्य रूप से आकर्षित करने वाले हमारे शुद्ध मानवीय गुण हैं, जो अपने सुविकसित विचार-तत्त्व से पैदा होते हैं। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए सामाजिक-सगठन का कम-से-कम कोई-न-कोई रूप तो उतना ही प्राकृतिक समझा जाना चाहिए जितना उसके लिए भोजन और पानी का कोई-न-कोई रूप आवश्यक होता है। बटलर महोदय के शब्दों मे[१] "एक मनुष्य का एक-दूसरे मनुष्य की ओर आकर्षित होना ऐसा एक प्राकृतिक सिद्धान्त है कि एक ही देश की भूमि पर चलने-फिरने के कारण, एक किसी ही बनावटी जिले या भाग मे जन्म लेने के कारण कई वर्षों के पश्चात् एक अच्छी जानकारी अथवा परिचय का कारण बन जाते है तथा उनमे से कोई भी बात इसमे सहायक सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार के नाम-मात्र के सम्बन्ध किसी शासक के द्वारा नहीं, परन्तु निम्न से निम्नतम श्रेणी के लोगो द्वारा ही आपस मे निर्धारित और प्रतिष्ठित किये जाते है। ये सम्बन्ध ही मानव-जाति को एक

---

१ '[illegible] ह्यूमन नेचर'

छोटे से भ्रातृत्व और सहभागिता के बन्धनो मे बांधने के लिए पर्याप्त हैं। कितने कमजोर हैं ये बन्धन ! इन्हें ही, यदि मूढता से उस सगठन के वास्तविक सिद्धान्त के रूप मे समझ लिया जाए, तो कितनी उपहासास्पद बात होगी। परन्तु सच्चाई तो यह है कि, वे कुछ ऐसे अवसरो को उत्पन्न करते है, जैसे कोई-न-कोई वस्तु किसी-न-किसी वस्तु से तो उत्पन्न होती है, जिनकी ओर हमारी प्रकृति अपने पूर्व झुकाव और प्रवृत्ति के अनुसार हमे खीचे ले जाती है; यदि हमारे पूर्व के सस्कारों और हमारी प्रकृति के झुकावो को स्थान नहीं दिया जाएगा तो इस प्रकार के अवसरो का कुछ भी महत्त्व नही होगा।"

इस बात से इनकार नही किया जा सकता, जैसा बटलर ने पूर्वोक्त उद्धरण मे कहा हैं कि, मानव-जाति मे पाए जाने वाले साहचर्य को उचित रूप मे उसी तरह परम्परागत कहा जा सकता है जैसे काँटे अथवा काँच के प्रयोग परम्परागत होते हैं। यह मनुष्य की विचारशील प्रकृति का ही महत्त्व है कि हममे चयन, समायोजन और यन्त्रो को चलाने की शक्ति है। हमारे साहचर्य के रूप मनोवृत्त्यात्मक प्रकृति के नही होते, जैसे निम्न श्रेणी के प्राणियो मे समूह बनाकर रहने का स्वभाव होता है। हम अपने मित्र और शत्रुओ का चयन कभी-कभी अच्छी तरह सोच-समझ कर, कभी-कभी यों ही स्वेच्छा से और कभी-कभी मनोवृत्ति के आधार पर विविध प्रकार से करते है। हमारे शिष्टाचार और हमारी प्रथाएँ कुछ अशो मे अपने चिन्तन पर, कुछ अशो मे वशानुगतक्रम से प्राप्त होने वाली भावनाओं से उत्पन्न आदतों पर, कुछ अशो मे अपने वातावरण के प्रति क्रमिक और अनजान समायोजन पर, कुछ अशों मे महान् व्यक्तित्व वाले लोगो के आकर्षक प्रभावो, कुछ अशो मे मूलत अज्ञान प्रथाओ पर, और प्रायः कुछ अशो मे विशेष लोगो, समूहों तथा दूसरे लोगो के दबावो पर आधारित होती हैं। हमारे नियम-कानून और सरकार के ये रूप बहुत सीमा तक, विकास की मन्द प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस प्रक्रिया मे विवेक-सहित चयन का हाथ महत्त्वपूर्ण अशों तक रहा है। परन्तु इस प्रकार के चुनाव करने वाले लोग बडी-बडी परिस्थितियो के दबावो से, प्रथाओ क झुका देने वाली ताकतो से, समझौते की इच्छा से तथा अन्य आकस्मिक एव अवर्णनीय प्रभावो के द्वारा निर्दिष्ट और अवरुद्ध होते रहे हैं। इस तरह से प्राप्त रूप अन्त मे परम्परागत बन जाते है और फिर ये परम्पराएँ मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाती हैं। मनुष्य के लिए, विशेष कानून, रीति-रिवाज और सरकार की विविध प्रणालियो का होना उतना ही स्वाभाविक है जितना चिड़ियो के लिए विशेष प्रकार के घोसले होना आवश्यक होता है। यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य चिड़ियो की अपेक्षा अधिक भिन्न होता है।

२. समुदाय मे परम्परागत तत्त्व

मनोवृत्ति के परिणाम प्रधान रूप से एक-समान होते हैं, परन्तु चयन के परिणाम भिन्नतापूर्ण होते हैं। वे कुछ अशों मे हमारी मनोवृत्तियों पर, और कुछ अशो मे वदलती हुई परिस्थितियो के दबावो पर आधारित होते है। वे हमारे जटिल सम्वन्धो क़ी समानता और भिन्नता के दोनो रूपो मे मिलते है। सारांश मे हम अपनी मानव-समाज की व्याख्या मे यही वतलाना चाहते हैं।

मानव-साहचर्य को प्राकृतिक और सजीव रूप मे मान्यता देना, उसे उसके जैव सम्वन्धी स्वभाव की ओर ले जाना है। उसे आकस्मिक और चयन सम्बन्धी होने की मान्यता देना, सामाजिक सविदा की अवधारणा की ओर ले जाना है। इन दो रूपो पर कुछ प्रकाश डालना हमारी वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है। यहाँ सविदा की अवधारणा से शुरू करना ही उत्तम रहेगा।

यह एक पुरानी अवधारणा है। परन्तु प्लेटो के 'रिपब्लिक' के दूसरे भाग मे इसे स्थान नही मिला। आधुनिककाल मे इसका एक लम्वा इतिहास मिलता है। बहुत सक्षेप मे हम उसका यहाँ विवेचन करेगे।

३. सामाजिक संविदा की अवधारणा

हाब्स महोदय ने सामाजिक सविदा की अवधारणा को बहुत ही कठोर और बहुत ही तर्क-संगत रूप मे प्रस्तुत किया है। हाब्स के अनुसार मानवता की प्राकृतिक स्थिति सव लोगो के द्वारा, सवके विरुद्ध एक युद्ध के रूप मे थी, जिसमे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए भेडिया था। उस अवस्था मे जीवन "पूर्णतः दीन-हीन, जगली, घृणित और क्षुद्र" था। सभी लोगो की औसत समानता की भावना ने किसी एक को स्थायी प्रमुखता प्राप्त करने में सफल नही होने दिया, क्योकि सभी लोग स्वभावतः समानता चाहते थे। अतः सव ने मिलकर आपस मे झगडा न करने की सन्धि की और पूर्ण शन्ति की स्थापना की। यह सव कुछ एक सविदा के रूप मे सम्पन्न हुआ। इस संविदा के अनुसार उन्होने अपने उत्तेजक (हिंसात्मक) अधिकारों को त्याग दिया और व्यवस्था के लिए एक सरकार की स्थापना की और उसके प्रति निष्ठावान् रहने का वचन दिया। इस प्रकार एक सत्तापरक स्थापना के कारण मनुष्य मनुष्य के लिए देवता वन गया।

अन्य लेखक हाब्स की विचारधारा पर एक गभीर चिन्तन के वाद, उस मूल संविदा को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। स्पिनोजा और लोक ने हाब्स द्वारा प्रतिपादित सत्ताधारी को सव कुछ सौप देने की मान्यता को स्वीकार किया

---

१ हाब्स महोदय के प्रमुख सिद्धान्तों की जानकारी क्रूम रॉबर्टसन की पुस्तक हाब्स पृ० सं० १३८-१५५ से प्राप्त की जा सकती है।

है। रूसो ने इस सविदा को सदा के लिए अटल नही माना परन्तु उसे आपसी अवबोध के रूप मे समान्य इच्छा के अनुसार निरन्तर नवीनीकरण के रूप मे माना है। इस अवधारणा पर हम आगे विचार करेंगे। इस बीच यह कहना पर्याप्त होगा कि धीरे-धीरे लोगो ने यह मानना शुरू कर दिया था कि यह बात एकदम कल्पना-मात्र है, पर वह उत्कृष्ट कल्पना भी नही, कि कभी मानव-जाति मे कोई सामाजिक बधन नही थे। अन्त मे मानव और जन्तुओ के जीवन के बीच का सम्बन्ध, जिसमे नागरिक साहचर्य का असस्कृत प्रारभ स्पष्ट दिखाई देता है, समाप्त कर दिया गया। परन्तु आधुनिक विकास के सिद्धान्त ने इस आवधारणा की अवहेलना करना हमेशा के लिए असम्भव बना दिया है। ऐसे सिद्धान्तो की मान्यता से पूर्व कुछ अशो मे पाशविक जीवन का साम्यानुमान करना चाहिए। उदाहरण के लिए शेक्स्पीयर महोदय ने मधुमक्खियो का वर्णन इस प्रकार से किया

"प्राणिगण (मधुमक्खियां) शिक्षा देती हैं प्रकृति के शासन को,
व्यवस्था के एक रूप[1] को मानव-शासन को।
उनका एक राजा है और हैं अधिकारी वर्ग,
उनमे कुछ न्यायाधीश सुधार करते अपने घर पर,
अन्य सौदागरों की तरह करते हैं विदेश में व्यापार,
दूसरे सैनिकों की भाँति, अपने डंकों में हथियारबन्द,
बनाते हैं अपने जूते ग्रीष्म की मखमली दूब के अकुरों को,
और वे स्व-गृह से सानन्द क्षिप्र अभियान मे,
पहुँचते हैं अपने-सम्राट् के राज्य-कुटीर पर।
सम्राट् भी शाही सर्वेक्षण मे है व्यस्त,
उधर कलाकार बना रहे हैं स्वर्णमहल गुञ्जन में मस्त;
नागरिक-गण जुटा रहे हैं शहद;
गरीब यान्त्रिक-से कुली भीड मे,
डाल रहे हैं अपने बोझे को छोटे द्वार के तट पर,
उधर निराश-नेत्रो वाला न्यायाधीश अपने गुञ्जन से,
चाहता है हटाना व्यवस्थापक-मण्डल के प्रमाद को।"

निस्सन्देह, कुछ अशो मे ये काव्य-पक्तियाँ काल्पनिक है[2] परन्तु इन मे

---

१. व्यवस्था के रूप का अर्थ यहाँ 'व्यवस्थित-कार्य' से है।

२ सभवत मेटरलिंक महोदय का मधुमक्खियों पर लिखा गया विवरण कुछ अंशों में काल्पनिक है। फेब्रे महोदय, ने जिन पर अधिक विश्वास किया जा सकता है, अपनी पुस्तक 'सोशललाइफ इन द इनसैक्ट वर्ल्ड' में कीट-पतगों के सामाजिक ढग को सुन्दर उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है।

पर्याप्त सत्य छिपा है। इसके अनुसार मानव-जीवन को प्राकृतिक स्थिति में पशुओ के जीवन से भी अधिक स्वेच्छाचारी माना जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य की चिन्तन-शक्ति, जो उसे बडे-बड़े अधिकार पाने के लिए प्रोत्साहन देती है, समाज के प्राकृतिक सगठन को तोड़ने के लिए भी तैयार रहती है। इस प्रकार एक अधिक जटिल सगठन की संरचना होती है जो एक निश्चित संविदा पर आधारित होता है।[1] इस अवधारणा को रूसो द्वारा खण्डित कहा जा सकता है, यद्यपि स्पष्ट रूप मे ऐसा कहा भी नहीं जा सकता। सम्भवतः बर्क की प्रसिद्ध घोषणा इसके लिए घातक ही सिद्ध हुई, कि "समाज वास्तव में एक सविदा है। अल्पकालिक स्वार्थों के लिए की गई वे सहायक संविदाएँ इच्छानुसार समाप्त की जा सकती है। परन्तु राज्य को मिर्च और कॉफी, कपड़ा या तम्बाकू के व्यापार की साझे की रजामन्दी का काम नहीं समझा जा सकता और इसी प्रकार उसे कोई निम्न श्रेणी की मामूली-सी चीज भी नहीं समझा जा सकता है जिसे कुछ स्वल्पकालीन स्वार्थों के लिए बनाया गया हो और विभिन्न दलों की इच्छाओं के अनुसार समाप्त कर दिया जाए। वह एक सम्मान की वस्तु है क्योकि वह उन वस्तुओं का साझा नही है जो अल्पकालिक और नश्वर प्रकृति के स्थूल पार्थिव अस्तित्व के लिए होती हैं। वह सभी विज्ञानो का एक साझा है, वह सभी कलाओं और सभी गुणों के पूर्णत्व का एक साझा है। इस प्रकार के साझे का अनन्त पीढियो तक अन्त नहीं हो सकता। वह जीवित रहने वाले व्यक्तियों का ही एक साझा नही है, परन्तु वह तो उन लोगो के बीच का एक साझा है जो मर चुके हैं और जो भविष्य मे जन्म लेंगे। प्रत्येक विशेष स्थिति की प्रत्येक सविदा शाश्वत समाज के परम मौलिक सविदा की एक धारा है। वह निरन्तर निम्नतर और उच्चतर प्रकृतियो को एक सूत्र मे पिरोता है; दृश्य और अदृश्य ससार को मिलाता है। उसके ये सब कार्य एक निश्चित स्थान पर, नियत सन्धियो द्वारा सम्पन्न होते है। उसकी वे सन्धियाँ भी सभी प्रकार की मौलिकता और नैतिकता की शपथों की दुहाई देने वाली होती है। राज्य का कानून उन लोगो की इच्छा का विषय नही बन सकता, जो अपने-आपको किसी वैधानिकता के कारण उससे ऊपर समझते हैं और असीम श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं, वे सभी श्रेष्ठता के पक्षपाती अपनी इच्छाएँ उस नियम को समर्पित करने के लिए बाध्य होते है।"[2] इसमे सन्देह नही है कि यदि इस उद्धरण को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से

---

१. रूसो के विचारों के बारे में उत्तम विवरण प्रो० सी० ई० वॉन की पुस्तक पोलिटिकल राइटिंग्स में पाया जा सकता है।

२. बर्क महोदय के विचार प्रशंसनीय रूप से विस्तार और आलोचनापूर्वक प्रो० मेकन की पुस्तक "पोलिटिकल फिलासफी आफ बर्क" में प्रस्तुत किये गए हैं।

देखा जाए तो यह बहुत अधिक अस्पष्ट और आलंकारिक दिखाई देगा। पर यह पर्याप्त रूप से समाज के सामान्य सगठन और एक राज्य से सम्बन्धित विशेष प्रकार के संगठन मे कोई अन्तर उपस्थित नहीं करता। परन्तु यह कम-से-कम एक मौलिक सविदा की अवधारणा के दोष को प्रकाश मे लाता है और एक प्राकृतिक, सजीव और अन्य अगीय एकता-सम्बन्धी भिन्न अवधारणा से परिचय कराता है।

४ अगीय एकता की अवधारणा

मानव-समाज की एक जीवित शरीरधारी अवयवी के साथ तुलना की जा सकती है। यह विचार चिन्तनशील लोगो के मस्तिष्क मे बहुत पहले से ही आ गया था। इस सम्बन्ध मे प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे विशद विवेचन किया गया है। इसकी तुलना पेट और उसके अन्य भागो से की गई है।[1] यह विचार ईसामसीह और सेण्ट पॉल के प्रवचनों मे भी मिलता और अनेक आधुनिक लेखको ने भी प्रभावपूर्ण ढग से ऐसे ही प्रयोग किये है। परन्तु इसका अधिक विस्तृत विवेचन हरबर्ट स्पेन्सर[2] और शोफल[3] की समाज-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों मे प्राप्त हो सकता है। इन लेखको ने मानव-समाज और एक जीवित शरीर की आपसी तुलना की है। परन्तु यह सम्भवत उतनी ही गलत है, जितनी सही है। उन अवधारणाओं मे महत्त्वपूर्ण कितना अश है, उसे सक्षेप मे देखिए।

समाज एक जीवित वस्तु है अर्थात् वह एक निर्जीव मशीन की तरह नही है। सविदा की अवधारणा से यही प्रकट होता है कि उसमे एक स्वाभाविक वृद्धि होती रहती है। और यदि इस बात पर बहुत अधिक बल दिया जाए, जैसा कि अगीय एकता के प्रति किया है, तो इससे हम मानव-समाज मे स्थित चयनतत्त्व की अवहेलना कर देने की ओर प्रवृत हो जाते है। एक प्राकृतिक अवयवी (जीवधारी) अपने शारीरिक ढाँचे मे न कुछ जोड सकता है और न अपने अगो की रचना मे आमूल परिवर्तन कर सकता है। पर इसके विपरीत एक समाज अपने समग्र ज्ञान द्वारा अपने-आपको एकदम बदल सकता है, और पुरातन से नाता तोडकर नया जन्म ही धारण कर सकता है। यदि इसकी वृद्धि होती है तो उसका अनिवार्यत. विनाश आवश्यक नही। वह बाज और फोनिक्स पक्षी (एक पौराणिक पक्षी) की तरह पुन युवावस्था को धारण

---

१. शेक्सपीयर की 'कोरियोलानस' देखिए।
२. प्रिन्सीपल्स ऑफ सोशियोलाजी, भाग I।
३. "Bau und Leben des sozialen Korpers" एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, परन्तु अनेक दृष्टिकोणों से अनि[illegible] है।

कर सकता है । यदि समाज एक अंगी है तो वह कम-से-कम अनेक अगीयो का अगी है, जिन जीवधारियो मे से प्रत्येक का अपना अलग जीवन है । उसका अन्यो के साथ सम्बन्ध केवल बाह्य नही है, परन्तु स्वय अपने-आप मे अन्त-ग्रंथित है । वस्तुतः वह जीवित है, परन्तु वह विचारों के साथ जीवित है । उसमे भेद करने, चयन करने और निर्णय की शक्ति है और वह अपने भविष्य का अतीत के चिन्तन एव वर्तमान की आलोचना द्वारा निर्माण करता है । मानव-समाज के ये दो प्रकार के पहलू एक साथ ही प्राकृतिक वृद्धि एवं विवेकपूर्वक किये हुए संगठन से तथा कुछ अशो मे सामान्य-इच्छा की अवधारणा से किये गए है । इस सम्बन्ध मे सकेत हम पहले ही कर चुके है और अव भी कुछ सक्षेप मे विचार करेंगे । परन्तु पहले हमे यह देखना है कि निगमित अथवा सघवद्ध कार्य किसे कहते हैं ?

५. सघबद्ध निगमित कार्य

सामाजिक सगठन की कोई भी व्यवस्थित प्रणाली प्राय. निर्णय करती रहती है और अपनी सामूहिकता के आधार पर उन्हे कार्य रूप मे परिणत करती है । अत" वैधानिक रूप मे निगमों का व्यक्ति के रूप मे वर्णन और व्यवहार किया जाता है । यहाँ तक कि राज्यो का वर्णन भी इसी तरह किया गया है ।[1] वे कोई निर्णय करते है और एक इकाई के रूप मे अमल करते है, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्ति किया करते है । वास्तव मे, पशुओ के झुण्ड भी इस प्रकार के संगठित कार्य करने मे समर्थ होते हैं । विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन के साथ-साथ इस प्रकार के कार्यो की विशेष पद्धतियाँ भी व्यापक रूप से बदलती रहती हैं । विशेष शासक या नेता कोई निर्णय करता है और उस निर्णय मे अपने सहायकों की इच्छाओ और आवश्यकताओं का ध्यान रखना-न रखना उसकी इच्छा पर निर्भर होता है । अथवा कुछ निर्णय एक शासी सभा द्वारा विचार के वाद किये जा सकते हैं । वह शासी सभा सारे समाज के विचारों का प्रतिनिधित्व कर भी सकती है और नही भी, अथवा समाज कोई ऐसा उपाय भी कर सकता है कि उसके सदस्यो की वात को ध्यानपूर्वक सुना जाए । अधिकतर इस प्रकार के निर्णय एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों, और फिर सभी के सामूहिक दवाव द्वारा किये जाते हैं, परन्तु यह आवश्यक नही कि उनसे सारे समाज का भी भला हो, और सभी निर्णय किसी यथार्थ या काल्पनिक हित की ओर संकेत करते है । परन्तु इस तरह के हित, जो ज्ञान अथवा अज्ञान मे चाहे जाते है, विभिन्न प्रकार के होते है । सेना एक सगठित सभा है, और उसका अपना एक विशेष व्यक्तित्व भी है । परन्तु एक कमाण्डर या जनरल स्टाफ

---

१. द्वितीय खण्ड के अध्याय ६ के अन्त में प्रस्तुत नोट (पृष्ठ संख्या १४६) में देखिए

का निर्णय अनिवार्यतः सेना के हित को ध्यान मे रखकर नही किया जाता, अपितु सेना के उद्देश्य को ध्यान मे रखकर किया जाता है। यही बात हमारे समाज और सामुदायिक नियमो के निर्णय के बारे मे भी कही जा सकती है, यहाँ तक कि एक राज्य के निर्णय भी अनिवार्यत उस राज्य के हित की ओर सकेत करते है, उसके वैयक्तिक हित की ओर नही। वे निर्णय किसी और अधिक सामान्य उद्देश्य को ध्यान मे रखकर किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, वे दूसरे देश की रक्षा अथवा धर्म के किसी रूप के समर्थन मे किये जा सकते हैं। परन्तु यह तो सामान्यतया सत्य है कि किसी भी सुव्यवस्थित समाज के निर्णय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे उस समाज के वास्तविक या मान्य हित की ओर अवश्य मकेत करने है।

इससे हमे पता चलता है कि सामूहिक कार्य मे सामान्य इच्छा हो भी सकती है अथवा नही भी। वह सामान्य इच्छा सामान्य हित की ओर प्रेरित कर सकती है अथवा नही भी कर सकती। परन्तु अब हम कम-से-कम यह समझने की स्थिति मे आ गए है कि एक सामान्य इच्छा और सामान्य हित का क्या अभिप्राय होता है।

६. सामान्य इच्छा की अवधारणा

इस अवधारणा को रूसो ने अपनी एक व्याख्या मे प्रस्तुत किया है।[1] उसने उसे एक मौलिक सविदा के रूप मे रखा है और वह समझता था कि उसके द्वारा सामाजिक एकता स्थिर रखी जा सकती है। अनेक लेखको ने इसका प्रयोग किया है, परन्तु सदा उन्ही अर्थो मे नही। तर्क यह है कि व्यक्ति-समूह अथवा कोई-एक अकेला व्यक्ति इच्छा-शक्ति का प्रयोग करता है और उसी इच्छा-शक्ति पर एक समाज के संगठित अमल अथवा कार्य आधारित होते है। रूसो ने यही प्रतिपादित किया है कि यह इच्छा-शक्ति किसी महत्वपूर्ण प्रश्न के निर्णय के लिए बुलायी गई सभा मे वोटो के बहुमत मे निश्चित रूप से व्यक्त होती है। उसने सामान्य इच्छा और सब लोगो की इच्छा मे जो भेद किया है, उसमे पुन सगति बिठाना कोई सरल कार्य नही है। केवल वोट देना एक सगठित पूर्णत्व की अपेक्षा कुछ व्यक्तियो के एक समूह की एक क्रिया

---

१. यह कुछ अंशों में स्पिनोजा महोदय की सामान्य इच्छा और सामान्य हित की अवधारणा में पहले ही प्रकट हो चुका था। डॉ० आर० ए० डफ महोदय की पुस्तक "स्पिनोजा पोलिटिकल एंड एथिकल फिलासफी" विशेषत. पृष्ठ संख्या १०३-१४ और ३१६-१७ में देखिए। इस पूरे विषय पर पूर्णता और सावधानी से प्रो० वान महोदय ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भिक परिचय में प्रकाश डाला है। रूसो पर लिखे गए ई० केयर्ड महोदय के साहित्यिक निबन्धो को रूसो की प्रकृति पर सामान्य-संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने वालों के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है।

है और इस तरह से व्यक्त किया गया निर्णय उस समूह मे बहुसंख्यक लोगों की इच्छा होगी। इसे हम एक सयुक्त इच्छा कह सकते है, किन्तु एक सामान्य इच्छा नही। डा० बोसांके[1] और कुछ अन्य लोगों ने इस विश्लेषण को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उन्होने यह तर्क उपस्थित किया है कि लोगो की एक यथार्थ इच्छा होती है, यद्यपि उसे सरलता से प्राप्त नही किया जा सकता है। उसे वोट की अपेक्षा बहस या बातचीत द्वारा जाना जा सकता है। यह विश्लेषण अधिक सन्तोषजनक है, परन्तु इच्छा-शक्ति की सामान्य प्रकृति से हम यह जान सकेगे कि सही रूप से किन अर्थो मे यह कहा जा सकता है कि लोगों की एक सामान्य इच्छा होती है।

किसी विशेष अवसर पर व्यक्ति की इच्छा, उसकी स्वेच्छा से किया हुआ निर्णय होती है। किसी वास्तविक चयन के समय क्रिया करने के अनेक वैकल्पिक मार्ग होते हैं (कभी-कभी उनमे से कुछ न करना भी एक मार्ग होता है) जिन पर कोई निर्णय निर्धारित किया जा सकता है। प्राय. प्रत्येक वैकल्पिक मार्ग के पक्ष मे कुछ विचार होते हैं और उनका कम या अधिक तुलनात्मक महत्त्व निश्चय ही निर्धारित किया जा सकता है। विशुद्ध व्यक्तिगत निर्णय के सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण का पूर्ण निर्णायक होता है। वह उसके द्वारा हुए लाभ और हानि के तुलनात्मक मूल्याकन के आधार पर निर्णय कर लेता है। परन्तु दूसरे अन्य मामलों मे सभवत. बहुसख्यक मामलो मे अन्य लोगो के दृष्टिकोण का भी उस पर प्रभाव पडता है।

जब मेकवेथ और लेडी मैकवैथ, डकन की हत्या के वारे मे विचार कर रहे थे, तो वह कार्य स्वय मैकवेथ द्वारा किया जाना था और अन्तिम निर्णय उसी पर आधारित होना चाहिए था। परन्तु शेक्सपीयर के प्रस्तुत करने के ढग के अनुसार (जिसका कोई भी ऐतिहासिक आधार दिखाई नही देता) उसके अपने विचार ने उसे सारे विश्लेषण को छोड देने के लिए बाध्य कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम निर्णय लेडी मैकवेथ पर छोडा जाता तो वह भी इस कार्य को करने मे सकोच करती। वह अपने पति के सदेह और सशय को हटाने के लिए पर्याप्त दृढ दिखाई देती है। परन्तु अन्ततः वह कार्य किया

---

१. रूसो की पुस्तक 'फिलासफिकल थ्योरी ऑफ़ द स्टेट' विशेषतः अध्याय ५ देखिए।

२. इच्छा-शक्ति की सामान्य प्रकृति पर प्रो० स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ़ साइकालोजी' खण्ड ४, अध्याय १० का उल्लेख किया जा सकता है। इस समाज-दर्शन की रूपरेखा के मूल लेखक श्री मैकेन्जी महोदय के पूरे विचारों को उनकी एक अन्य पुस्तक 'मैनुअल ऑफ एथिक्स' खण्ड १, अध्याय १ में अच्छी तरह देख सकते हैं।

जाता है। अत यहाँ कहा जा सकता है कि इच्छा-शक्ति साहचर्यपूर्ण कार्य है। हम इसे सहकारी कार्य इसलिए कह सकते हैं कि एक व्यक्ति का निर्णय, अधिकतर उसके साथ काम करने वाले अन्य व्यक्तियो के दृष्टिकोण द्वारा प्रभावित अथवा निर्धारित हुआ करता है। इसे हम एक सामान्य इच्छा मुश्किल से ही कह सकते है और उचित रूप से इसे हम सयुक्त इच्छा भी नही कह सकते हैं। परन्तु इसे हम सहकारी की इच्छा ही कह सकते हैं।

फिर एक दूसरा उदाहरण, किसी एक परिवार द्वारा छुट्टियो मे कहीं जाने के निर्णय के बारे मे लीजिए। मान लीजिए कि परिवार का प्रत्येक सदस्य कही जाने की इच्छा करता है। परन्तु उन सभी के छुट्टी बिताने के बारे मे विचार बिलकुल एक-जैसे नही है। उनमे से कोई नौका-विहार चाहता है, कोई पहाड की सैर चाहता है, कोई साइकिल की सवारी का आनन्द लेना चाहता है, कोई चित्र बनाना चाहता है और कोई खा-पीकर आत्म-तृप्ति चाहता है। ऐसी स्थिति मे वे कैसे निर्णय करे? स्पष्टत कई सभावनाएँ हो सकती हैं। वे अपनी इच्छानुसार पृथक्-पृथक् जा सकते है और प्रत्येक अपना पृथक् निर्णय कर सकता है। यदि परिवार का मुखिया ही सबके स्थान पर निर्णय करता है तब दूसरो के विचारो का कुछ मूल्य नही रह जाता है। वह एक व्यक्ति की इच्छा होगी। फिर वे एक ऐसा निर्णय भी कर सकते है जो उन सबकी इच्छा-पूर्ति के उपयुक्त हो। वे सर्व-सम्मति से भी उस निर्णय पर पहुँच सकते है। यह सब लोगो की सयुक्त इच्छा का एक निर्णय होगा। अल्पसख्यको के विचारो को बहुमत वाले दबा सकते है। वे किसी विषय पर बातचीत करके एक ऐसे समझौते पर पहुँच सकते है जो थोडा या अधिक सभी को सन्तोष देने वाला हो। यह एक सहकारी या आपसी सहयोग की इच्छा होगी। अथवा, उस सम्बन्ध मे विचार करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँच सकते है कि एक सदस्य, जो सभवत बीमार है, उसकी आवश्यकता अन्यो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है और उसके लिए दूसरे अपने अधिकारो का बलिदान करने के लिए सहमत हो सकते हैं। मैं सोचता हूँ कि यह अन्तिम निर्णय ऐसा है जिसे हम वास्तव मे सामान्य इच्छा का सही रूप कह सकते है। यह केवल विभिन्न दृष्टिकोणो मे एक समझौता ही नही है, परन्तु एक ऐसा निर्णय है जो लोगों की व्यक्तिगत बात को छोडकर एक निश्चय पर पहुँचता है जिसमे परिस्थितियो को एक इकाई के रूप मे देखा जाता है। यदि सामान्य इच्छा का यह एक सही विश्लेषण है तो इसके साथ दो बातें सबद्ध दिखाई देती है—(१) कुछ बहुसख्यक लोगो का एक निर्णय पर पहुँचना और (२) पूरे समूह को ध्यान मे रखकर निर्णय किया जाना। परन्तु यह केवल लोगो की व्यक्तिगत इच्छा को

सन्तुलित करने से ही नही होता। ये दोनों ही स्थितियाँ मुझे महत्त्वपूर्ण दिखाई देती हैं।

कुछ भिन्न प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लीजिए, संभवत: इससे कुछ और प्रकाश पडेगा। मध्यकालीन यूरोप मे धर्मयुद्धो की अपेक्षा कुछ अन्य कार्य भी लोकप्रिय रहे हैं। ईसाई धर्म मे लगभग प्रत्येक व्यक्ति, जो जनता के कार्यों के बारे मे कुछ भी दिलचस्पी रखता था, अपने पवित्र देश से विधर्मियों को निकालने का इच्छुक था। यह इच्छा स्वत एक निश्चय नही थी। परन्तु अनेक शासकों ने अपने सलाहकारो के सहयोग से और कभी-कभी अन्य शासको के साथ विचार-विमर्श से इस इच्छा की तुष्टि के लिए समय-समय पर आक्रमण करने का निर्णय किया था। ऐसे शासक किन्ही अर्थों मे, सामान्य इच्छा का निर्वाह करनें वाले कहला सकते हैं। वह इस अर्थ मे, कि उन्होंने जो निर्णय किया, उसे समस्त लोगो की इच्छाओं अथवा अपने लोगो के प्रभावशाली बहुमत का समर्थन प्राप्त था। और जनता एक शुभ इच्छा के साथ इसमें सम्मिलित थी। इसे उचित रूप मे हम एक निर्णय नही कह सकते, परन्तु एक मनोभाव कह सकते हैं, जिससे एक निर्णय का समर्थन किया गया था। इस अर्थ मे यह शब्द निरन्तर प्रयुक्त होता रहा है। विशेष तौर पर ऐसे वाक्याश जैसे 'शुभ इच्छा' और 'अशुभ इच्छा' और ऐसे वाक्य-खण्ड जैसे 'रोमियो एण्ड जुलिएट' एक जड़ी-बूटी बेचने वाले द्वारा प्रयुक्त किये गए हैं—"मेरी गरीबी इसे स्वीकार कर सकती है, परन्तु मेरी इच्छा नही।" इनमे 'इच्छा' शब्द का निरन्तर प्रयोग हुआ है। परन्तु पारिभाषिक शब्दो मे हम इसे इच्छा की बजाय अभिलाषा कहना अधिक पसन्द करेंगे। अभिलाषा-जैसा अन्य कोई कठिन शब्द नही मिलेगा जिसमे अस्पष्ट इच्छा या मनोभाव छिपा रहता है। परन्तु वर्तमान उदाहरण मे पहले की तरह मूल बात यह है कि निर्णय एक होता है जिसमे कइयो की सहमति रहती है। और उस निर्णय को हम सामजस्ययुक्त निर्णय कहेगे, यदि उससे सम्बन्धित लोग दूसरे लोगों के दृष्टिकोणो से प्रभावित नही होते अथवा किये जाते। ग्रीन[1] के शब्दों में उसे यो रखा जा सकता है कि "सामान्य हित के रखने का भाव, लोगो की ओर से सामन्य ध्येय के लिए एक इच्छा है।" इस अर्थ में यह स्पष्ट है कि हम साधारण इच्छा की बात कर रहे है और विशाल समूह वाले लोगो के कार्य कठिनता से ही कभी इस प्रकार की इच्छाओ के बिना विवेक अथवा प्रभावपूर्ण कहलाए जा सकते है। वास्तव मे इसके बिना एक संगठन का रूप धारण नही कर सकते हैं।

यदि यही सत्य है तो यह स्मरण रखना नितान्त आवश्यक है कि सही निर्णय कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है, यद्यपि वे दूसरों की इच्छाओं को

---

१. 'प्रिन्सीपल्स ऑफ़ पोलिटिकल आब्लिगेशन', पृ० ८४।

ध्यान मे रखते हैं। उदाहरणस्वरूप एक राजनीतिज्ञ को कोई विशेष निर्णय करना है, सही रूप मे उसे करने से पूर्व वह न केवल अपने साथियो और मित्रो से परामर्श ही लेता है परन्तु उसे समाचारपत्रो मे भी प्रकाशित करवाता है, और वह यह जाँच करना चाहता है कि लोगो का बहुमत उसके बारे मे क्या सोचता है। कुछ लोग इस एक अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं, उनके दिमाग में निश्चय ही सही निर्णय, मत और मनोभाव आदि का अन्तर स्पष्ट नही होता, जिसके द्वारा उसका समर्थन होता है और इसके स्पष्ट ज्ञान के बिना गलत अर्थ लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए रूसो ने यह प्रस्तुत किया है कि साधारण इच्छा कभी गलत नही होती। इसमे उस सामान्य कहावत का भाव छिपा है जिसके अनुसार "जनता के मुँह से भगवान् बोलता है," अर्थ लिया जाता है। वास्तव मे उसका कुछ अर्थ तो यह हो सकता है कि बहुमत का निर्णय गलत भी हो सकता है और यह भी स्पष्ट है कि एक ऐसा निर्णय, जिसमे सभी लोगों की इच्छाओं को स्थान मिला है, उसमे भी कुछ भूल हो। इसके लिए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार का निर्णय सामान्यत अन्य तरीको से किये गए निर्णयों से सम्भवत कम गलत सिद्ध होगा। फिर कभी-कभी यह बात भी हो सकती है कि केवल एक बुद्धिमान् और बहुश्रुत व्यक्ति उदाहरण के लिए पेरीक्लीज अथवा केवर द्वारा किया गया निर्णय अनभिज्ञ लोगो के निर्णय से उत्तम हो सकता है। डॉ० बोसाके यह दावा नही करते कि सामान्य इच्छा गलत हो ही नहीं सकती, जैसा कि उन्होने इसके बारे मे सोचा है। फिर वह अपनी 'यथार्थ इच्छा' के रूप मे अपने वर्णन को यह मान्यता देने को तैयार हैं कि उनके द्वारा सकेतित इच्छा, केवल सामान्य ही नही, समुदाय के यथार्थ हित की ओर भी सकेत करती है। उनकी इस बात की सत्यता मे मुझे विश्वास के लिए कोई आधार नही मिल रहा। परन्तु यह हवाला सामान्य हित की अवधारणा की ओर सकेत कर रहा है और मैं सोचता हूँ कि इसे सामान्य इच्छा से अलग भी नही किया जा सकता। और मुझे यही अधिक सुरक्षित और अधिक लाभप्रद अवधारणा प्रतीत होती है।

७. सामान्य हित की अवधारणा

एक-दो पीढियाँ पहले सभी जन-कार्यों और अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत कार्यों के ध्येय के सम्बन्ध मे एक सक्षिप्त उक्ति प्रसिद्ध थी कि वे "अधिक-से-अधिक व्यक्तियो के लिए अधिक-से-अधिक हित" के लिए हैं।

---

१. सामान्य इच्छा के विषय पर अधिक विश्लेषण के लिए प्रो० मैकआइवर की पुस्तक कम्युनिटी परिशिष्ट अ, और प्रो० हावहाऊस की पुस्तक सोशल एवोल्यूशन एंड पोलिटिकल थ्योरी, अध्याय ४ देखिए।

अब यह मान लिया गया है कि यह उक्ति कभी लाभदायक सिद्ध रही होगी, पर अब सैद्धान्तिक रूप मे अयथार्थ और व्यावहारिक रूप मे भ्रामक है। इससे भी संक्षिप्त और सरल अभिव्यक्ति 'सामान्य हित' इससे कम गलत और कम उलझन में डालने वाली है, यद्यपि यह भी पूरी तरह से अस्पष्टता के दोष से मुक्त नहीं है।[1] पिछले उदाहरणों मे से परिवार के कार्य-सम्बन्धी उदाहरण से यह स्पष्ट है कि सामान्य हित की अवधारणा व्यावहारिक है। एक अवकाश का दिन वाछित ही नही, वांछनीय भी समझा जा सकता है। यह परिवार के सभी सदस्यों के लिए, अथवा एक के लिए, अथवा उन अधिक लोगों के लिए लाभदायक हो सकता है जिन्हें इसकी विशेष रूप से इच्छा है। उससे भले ही पूर्व-विचारित लाभ न हो, पर कम-से-कम हम यह मान सकते हैं कि उस विचार के प्रति ऐसा सोचा गया था। यहाँ तक कि किसी एक ने उसे अपने प्रत्यक्ष लाभ के लिए भी चाहा, तो भी वह एक सामान्य हित ही होगा, क्योकि वह एक ऐसी चीज़ है जिसे सभी चाहते हैं। धर्म-युद्धों को उत्तेजित करने वाले लोग एक-जैसा रवैया कैसे अपना सके, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। ऐतिहासिक उदाहरणों का उतने सरल रूप से विश्लेषण नहीं किया जा सकता है जितना किसी विशेष मुद्दे को समझाने के लिए विशेष रूप से घड़े गए उदाहरणो का विश्लेषण किया जा सकता है। धर्म-युद्ध-कर्त्ता किसी को अनुगृहीत करने, उत्साह दिखाने अथवा किसी पूर्व-संभावित लाभ की अपेक्षा घृणा से प्रेरित हुए हों अथवा दृढ भावना को उत्साहित करने वाली शक्ति से प्रेरित होकर ऐसा किया गया हो, सामान्यत. यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभ्य समाज के अधिकतर सार्वजनिक कार्य हित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। परन्तु तब तक वह कार्य मुश्किल से ही न्याययुक्त बतलाया जा सकता है जब तक हम यह पूरी तरह निष्कर्ष न निकाल लें कि उसके द्वारा प्राप्त हित कुछ अर्थों मे और कुछ सीमा तक सामान्य हित था।

स्पष्टत: कुछ अच्छी चीज़े एक सुन्दर अर्थ मे सामान्य के रूप में वर्णन की जा सकती हैं। 'स्पिनोजा के अनुसार अत्यधिक हित सब लोगो के लिए सामान्य होता है और सभी लोग उसका उपभोग कर सकते है।' उदाहरण के लिए दूसरे लोगों की पराधीनता से मुक्त होना सामान्यत. सभी लोगो के लिए शुभ है। एक सुन्दर कविता, एक तैल-चित्र, एक सुन्दर भाषण शुभ होते है और सभी लोग उनकी बार-बार प्रशंसा करते हैं। कुछ अन्य अच्छी वस्तुएँ, जो प्रयोग से समाप्त

---

१. श्री टी० एच० ग्रीन ने संभवतः सबसे अधिक इस सामान्य हित की अवधारणा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनकी पुस्तक खण्ड ३, अध्याय ३, तथा दूसरी पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स ऑफ़ पोलिटिकल आब्लिगेशन', पृष्ठ-संख्या ११७-२६ देखिए :

हो जाती हैं, उनका इस तरह से सामान्य उपयोग नही उठाया जा सकता है। फिर भी प्रचुर खाद्यान्न इकट्ठा करना, पानी का सुन्दर सभरण सामान्य हित की बातें हैं, भले ही उनका उपभोग पृथक् भागो मे हो रहा हो। यह प्रतीत होता है कि पूर्व-वर्णित सामान्य इच्छा इस प्रकार के हित के लिए सर्वोत्तम विचार है, परन्तु इस मुहावरे की अस्पष्टता के कारण यह उचित होगा कि उसे छोड ही दिया जाए।

कुछ गलतफहमियो को रोकने के लिए यह ध्यान मे रखना उचित होगा कि सामान्य हित का साम्यवाद से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। सामान्य हित पर बल देना मानव-जीवन की व्यष्टिवादी अवधारणा के अवश्य ही विरुद्ध होगा। परन्तु जब साम्यवाद, समाजवाद और समष्टिवाद से व्यष्टि-वाद का अन्तर प्रदर्शित किया जाता है तो ये शब्द साधारण सम्पत्ति के समान स्वामित्व तथा उद्योग के सामूहिक समायोजन की ओर सकेत करते हैं। इसके बारे मे हम औद्योगिक सस्थाओ के वर्णन के समय ध्यान देंगे, इसी बीच सम्प्रदायवाद शब्द साधारणत: व्यष्टिवाद के विरोध मे समझ लेना चाहिए। एक हित, जो वास्तव मे साधारण है, पृथक्-पृथक् व्यक्तियो द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है, अपनाया जा सकता है और विभिन्न व्यक्तियो द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए समुदाय का स्वास्थ्य सामान्य हित की बात है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति का अपना पृथक् स्वास्थ्य है और वह उसकी पृथक् रूप से रक्षा करता है। परन्तु इसके बारे मे बाद मे विचार करना अधिक उचित होगा।

इन विचारो के आधार पर हम स्पष्टत: यह देख सकते है कि मानव-समाज के उचित सम्बन्ध को बतलाने वाली एकता का सामान्य स्वभाव क्या

८ आध्यात्मिक एकता

है। सभवत. हम इसे आध्यात्मिक एकता के रूप मे बहुत अच्छी तरह से रख सकते है। यह एक ऐसी एकता है जिसमे आध्यात्मिक प्राणी व मनुष्य ही भाग लेने के योग्य होता है। ऐसे ये प्राणी थोडे-बहुत रूप से स्पष्टत: एक मनुष्य के रूप मे चेतना रखते हुए किसी हित का अनुसरण करते हैं और वे उन अन्य लोगों के बारे मे भी ज्ञान रखते है जो उसी अथवा उस-जैसे ही हित का अनुसरण करते हैं। इस तरह वे सब एक समुदाय मे बँध जाते हैं। जो चिन्तनशील प्राणी हैं वे ही अपना तथा दूसरो का आदर कर सकते हैं। मधुमक्खियाँ अथवा ऊदबिलाव अपनी मनोवृत्तियो के कारण सामान्य हित की ओर प्रेरित होते हैं, परन्तु वे सोच-समझकर ऐसा नही करते, अर्थात् उन्हे उसका ज्ञान नही होता, वे उनमे चयन नही कर सकते, वे केवल उसके प्रति अनुप्रेरित होने के और कुछ नही कर सकते। कुछ अशो मे कभी-कभी, सभवत:

बहुधा मनुष्यो के साथ भी ऐसा ही होता है, परन्तु उनकी मनोवृत्तियाँ जन्तुओं की भाँति उतनी सरल और निरन्तर नही होती। उन-जैसी अन्धी भावनाएँ तो एक मनुष्य मे एकता की अपेक्षा एकता को समाप्त करने का ही कारण हो सकती हैं। कुछ भी हो, उनमे मानव-जाति जैसी एकता उत्पन्न नही हो सकती, जो मानव-जीवन के लिए अति लाभदायक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। सामान्यतः एक सुव्यवस्थित समाज उसे ही कहा जा सकता है जिसमें अनुकरण के लिए की जाने वाली बातो का स्पष्ट ज्ञान होता है। कुछ अंशों में सब लोगों के लाभ के लिए यह भावना जितनी अधिक विकसित होगी, उतनी ही इकाई के रूप में एकता मे वृद्धि होगी।

९. सामाजिक भिन्नताएँ

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की एकता ऐसी वस्तुओ की एकता है जो अनेक बातों मे विभिन्न होती हैं। इस एकता का निर्माण कुछ ऐसे लोग नही कर सकते, जिनके हित और इससे अधिक जिनकी यथार्थ हित के प्रति अवधारणा बिलकुल एक-जैसी नही होती। परन्तु उस एकता का निर्माण प्रायः कुछ भिन्न-भिन्न समूहों द्वारा होता है। उन समूहों मे भी पृथक्-पृथक् निर्णय किये जाते हैं और उन सबका पृथक्-पृथक् उद्देश्य होता है, यद्यपि यह सत्य हो सकता है कि ये सभी लक्ष्य एक महान् समन्वयात्मक उद्देश्य मे सम्मिलित कर लिये गए हों। यदि ऐसा समाज एक अगीय कहलाता है, तो यह स्मरण रखना चाहिए कि वह अंगीयो का एक अगी है और उसमे भी प्रत्येक छोटे अगीयो मे रहने वाला अंगी भी अपने-आपमे अनेक अन्य शरीरधारियों को रखता है। अतः अगीय एकता की साधारण विचारधारा का पूर्णतः वर्णन नही किया जा सकता। यह एक आध्यात्मिक पूर्णत्व है जिसमे उससे कम पूर्णत्व वाले होते हैं और उनमे भी कुछ आध्यात्मिक कहलाए जा सकते है और अन्य आशिक रूप से तथा दूसरे प्रधान रूप से यान्त्रिक कहला सकते है, परन्तु इस प्रकार वे सभी एक सुव्यवस्थित समाज मे सामान्य हित के लिए कुछ अंशों में परस्पर सहकार मे समर्थ होते हैं।[1]

अब हमे निश्चित रूप से यह देखने का प्रयास करना चाहिए कि ऐसे कौन-से सबसे अधिक सचेतन भाग होते हैं जिनमे यह समाज भिन्न रूपों को धारण करता है और फिर उनके पृथक् पृथक् कार्य क्या हो सकते हैं।

१. सामाजिक एकता के दार्शनिक विश्लेषण पर कुछ रोचक बातें डा० मैकटगार्ट की पुस्तक 'स्टडीज इन हीगेलियन कास्मोलाजी' अ० ७ में प्राप्त की जा सकती हैं। मेकेन्जी महोदय (इस पुस्तक के मूल लेखक) के विचारों को उनकी एक अन्य पुस्तक 'एलीमेंट्स ऑफ़ कन्स्ट्रक्टिव फिलासफी' खण्ड २, अ० ७-११ में अधिक पूर्ण रूप प्राप्त किया जा सकता है।

तृतीय अध्याय

साहचर्य-प्रणालियाँ

हम यह देख चुके हैं कि एक समुदाय के ढाँचे मे प्राकृतिक और परम्परागत पहलुओं का भाग कितना होता है। व्यापक अर्थों मे सम्पूर्ण मानव-जाति इसी प्रकार के एक समुदाय को बनाती है। फिर यही मानव-जाति अधिकाश मे, स्थानीय पार्थक्य, भाषाओ की अनेकता, धर्म, शिक्षा और जीवन-प्रणालियों की विभिन्नता के कारण एक-दूसरे से पृथक् होती हुई अनेक मार्गों मे बँट जाती है। इस पार्थक्य का कारण अनेक कुछ ऐसी अन्य परिस्थितियाँ भी होती हैं जो कुछ अशो मे एक-जैसे विचारो का अवरोध करती हैं, फिर भी पारस्परिक मानवीय समागम के लिए मौलिक रूप से आवश्यक होती हैं।[1] वे लोग भी, जो घनिष्ठतापूर्वक एक-दूसरे के साथ रहते और अनेक दृढ बन्धन रखते हैं, उनका भी बहुधा सीधा पारस्परिक समागम बहुत कम होता है। उनके वे इस तरह के सम्बन्ध जितनी एकता पैदा करते हैं उतनी भिन्नता भी पैदा करते हैं। यहाँ तक कि पिता और पुत्र,[2] भाई और बहनें, पति और पत्नियाँ प्राय. कुछ अशो मे प्रतिकर्षी-तत्त्व के रूप मे दिखाई देते हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो दूसरो के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही रखते, यद्यपि जिस परिधि से वे सम्बन्धित होते हैं, वह बहुत सीमित होती है। कुछ लोग लगभग अपने परिवार तक, कुछ अपने व्यापार तक, और कुछ अपने देवालय तक ही सीमित होते हैं। कुछ लोग मुख्य रूप से अपनी पुस्तकों के ससार मे और कुछ कला-जगत् मे, कुछ लोग मुख्य रूप से राजनीति के ससार मे, और अन्य विशेष रूप से खेल तथा मनोरजन की दुनिया मे विचरण करते हैं। इस तरह मानव-समाज

१. समाज और अनेक समाज

---

१. साहचर्य-निर्माण में 'एक जैसे—प्रकार होने' का क्या महत्त्व है, इसके लिए प्रो० गिडिङ्ग महोदय की पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स ऑव सोशियोलाजी' पृ० सं० १०४-८ उल्लेखनीय है। मैं सोचता हूँ कि एक-जैसे विचार के स्थान पर एक-जैसे प्रकार रखकर वह उसको अनुचित महत्त्व देते हैं।

२. इसके उदाहरण के लिए टर्जनिफ की पुस्तक 'फ़ादर एंड सन्स', स्ट्राइण्डवर्ग की पुस्तक 'सन ऑफ़ ए सर्वेंट' तथा इ० ग्रोस की पुस्तक 'फ़ादर एंड सन' उल्लेखनीय समझी जा सकती हैं।

छोटे-बड़े अनेक समाजों मे बिखरा हुआ है। उनमें से प्रत्येक का अपना संगठन है, फिर भी उनमें से कुछेक समाज तो दूसरों की अपेक्षा परस्पर बहुत कम घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। परिवार और राष्ट्र साहचर्य के ऐसे दो रूप हैं, जो घनिष्ठ बन्धनों के कारण परस्पर आबद्ध है। इन बन्धनों द्वारा जीवन के सभी प्रमुख पहलू प्रभावित होते है। परन्तु ये बन्धन भी, साहचर्य के अन्य रूपों की तरह, अपनी घनिष्ठता और स्थायित्व में बहुत अंशों में भिन्नता लिये होते हैं। वे बहुत-कुछ अशों मे, विभिन्न संस्थाओ—जैसे विवाह और सरकार आदि—के समर्थन पर आधारित होते हैं। परिवार और राष्ट्र दो ऐसे आधारभूत रूप हैं, जिनसे प्रभावित हुए बिना कोई भी नही बचता। इनके अतिरिक्त शिक्षा, उद्योग, वाणिज्य, क्रीडा, विज्ञान, कला, साहित्य, नैतिकता और धर्म, मैत्री-समागम, आपसी सहयोग या प्रतिद्वन्द्विता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना तथा अन्य विभिन्न उद्देश्यो को लेकर उत्पन्न अनेक अन्य संघो को भी गिना जा सकता है। इन पर विचार करते समय, मानव-जीवन के आधारभूत पहलुओं का विवरण, जिसे हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं, को भी ध्यान में रखना चाहिए। प्राथमिक रूप से साहचर्य का आधार-लोगों की वर्धी आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित उद्योग और वाणिज्य के रूप में; अथवा पाशविक आवेगों के सन्तोष के लिए खेल के रूप मे; अथवा कुछ मानवीय उद्देश्यों को लेकर विज्ञान, कला और [illegible] के रूप मे; अथवा हमारी जटिल प्रकृति के कारण परिवार और राज्य के रूप में होता है। परन्तु इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रमुख सघों के बारे में संक्षिप्त [illegible] प्रस्तुत करना लाभदायक सिद्ध हो सकता है, लेकिन उससे पहले संस्थाओं के [illegible] प्रकाश डालना अधिक उपयुक्त होगा।

२. सामाजिक संस्थाएँ

यह परिभाषा व्यापक अथवा सीमित अर्थ में प्रयुक्त हो सकती है। व्यापक अर्थ मे साहचर्य की कोई भी एक प्रणाली सस्था कहला सकती है। परिवार राज्य, भाषा, शिक्षा और धर्म आदि सभी को संस्था कहा जा सकता है, क्योकि ये ऐसे संगठन हैं जिनका निर्माण मनुष्य की इच्छा अथवा चयन पर होता है। परन्तु जब वे ऐच्छिक निर्माण की अपेक्षा प्राकृतिक वृद्धि के रूप मे सामने आते है, तो उन्हें 'संस्था' शब्द द्वारा अभिव्यक्त करना उचित नही होता। सीमित अर्थ में उन्हें एक ऐसा उपकरण कहा जा सकता है जिनके द्वारा साहचर्य-प्रणालियाँ निर्मित और रक्षित की जाती हैं और विशेष कर्तव्यों की पूर्ति की जाती है।[1] इस अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि विवाह या

१. इस पर प्रो० मैकआइवर की पुस्तक 'कम्युनिटी' खण्ड २, अध्याय ४ में ज़ोर डाला गया है।

विवाह का विशेष ढग, एक सस्था है परन्तु परिवार एक सस्था नही है, लोकसभा एक सस्था है, परन्तु स्वय राज्य एक सस्था नही है। इसी तरह भाषा को सस्था नहीं कहा जा सकता, परन्तु मुद्रण-सस्थान एक सस्था है, शिक्षा एक सस्था नहीं है, परन्तु तकनीकी विद्यालय एक सस्था है ; धर्म सस्था नही है, परन्तु देवालय सस्था है और इसी तरह आगे भी समझा जा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि व्यापक और सीमित अर्थों के बीच कोई स्पष्ट भेद उपस्थित किया जा सके। इसके सही प्रयोग का प्रश्न भी अधिकाश रूप से मौखिक ही होता है। यदि वह केवल मौखिक नही होगा, तो वह एक ऐसा प्रश्न होगा जिसमे चयन का एक निश्चित रूप रहेगा तथा उसमे वह चयन थोडे-बहुत स्थायी रूप मे अभिव्यक्त भी होगा। साराश मे, विशेष साहचर्य-पद्धति, निश्चितता तथा स्थायित्व देने वाली विशेष सस्थाओ, तथा उन सस्थाओं के समर्थन एव जिनके द्वारा वे काम करती हैं, उन साधनो मे भेद दिखाया जाना उचित होगा। परन्तु जब एक साहचर्य-प्रणाली और उसके साधनों के मध्य स्पष्ट भेद प्रदर्शित किया जा रहा हो, उस समय ऐसी संस्थाएँ, जो कुछ अंशो मे इन दोनों के बीच का रूप होती हैं, इन दोनों के अनुकूल होनी चाहिएँ। स्कूल एक संस्था है, परन्तु उसे साहचर्य की एक विशेष प्रणाली के उदाहरण के रूप मे भी रखा जा सकता है। लोकसभा एक संस्था है, परन्तु इसे शासकीय संस्था के एक साधन के रूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है। भाषा एक साधन है, परन्तु यह एक ऐसा उपकरण अथवा साधन है जो अचेतन प्रक्रिया द्वारा सवृद्ध होता रहता है और मानव-साहचर्य की सभी प्रणालियों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत. उसे एक सस्था भी कहा जा सकता है अथवा साहचर्य की आधारभूत प्रणालियो में से भी एक कहा जा सकता है। कुछ भी हो, सभी मानवीय समागमो मे इसका स्थान क्या है, यह देखने के लिए भाषा का विशेष कार्य प्रदर्शित करते हुए प्रमुख 'साहचर्य' प्रणालियों का एक विवरण प्रस्तुत करना ठीक रहेगा।

२. भाषा का स्थान

भाषा का अर्थ विशेषत. कानों के लिए प्रयुक्त बोलने का एक ढंग है। भाषा के अधिकतर रूप आँख और कान दोनो के लिए प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे रूप भी हैं, जैसे चित्रलिपि अथवा मूक-बधिर लोगों की भाषा केवल आँखों के लिए ही प्रयुक्त होती है। अन्धे लोग प्रायः कुछ सीमा तक स्पर्श-शक्ति का सहारा लेते हैं। साधारणतया लेखन और मुद्रण निस्सन्देह प्राथमिक रूप मे, हमारी आँखो के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उससे सुनने के शब्दो का भाव भी निकलता है।[१]

१ अंग्रेज़ी भाषा की यह तो सर्वमान्य कमजोरी है कि कभी-कभी तो एक व्यक्ति अपने विचारों को एकदम सीधे रूप में दूसरे व्यक्ति के प्रति व्यक्त नहीं कर पाता।

व्यापक अर्थों में, भाषा में उन सभी प्रकार की प्रणालियों को ग्रहण किया जा सकता है जिनके द्वारा एक या अधिक मनुष्य अन्य लोगो को अपनी निश्चित बात पहुँचाते हैं। यहाँ हम उन अस्पष्ट भावों को नही लेंगे, जो पशुओ अथवा निर्जीव वस्तुओं के साथ अथवा (जैसा कुछ लोग विश्वास करते है) प्रेतात्माओं के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल मानव-जीवन से ही है। अपना भाव जिन तरीको से व्यक्त किया जा सकता है उनमे हम अभि-व्यञ्जनात्मक संकेतों, विस्मयादिबोधको, गणित-सम्बन्धी प्रतीको, सगीत-स्वरो और उनके सयोजनों, चित्रों-पताकाओ, समारोहों जुलूसों, भेंटों और यहाँ तक कि कभी-कभी खाने-पीने के ढंग भी ले सकते है। अन्तिम उदाहरण के रूप मे और इसी तरह के अन्य उदाहरणो के लिए हम विचार-संवहन-साधनो की ओर सकेत करते है और उन गीतो की ओर भी जैसे "मेरा पान केवल अपनी आँखों से कीजिए" अथवा उमर खैयाम की कविताओ की ओर भी हमारा सकेत जा सकता है।

अब यह स्पष्ट है कि व्यापक एव सीमित दोनो अर्थों मे भाषा के बिना किसी भी तरह मानवीय साहचर्य की कल्पना नही की जा सकती। मानव-चेतना के विकास में भाषा ने जो हाथ बँटाया है, उसका मूल्यांकन मनोवैज्ञानिकों पर आधारित है।[1] भाषा किस अर्थ को लेकर चल रही है उसका अर्थ निका-लना तर्क-शास्त्रियो पर आधारित है।[2] यहाँ ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सामान्यतः मानव-जीवन पर भाषा का सूक्ष्म प्रभाव कैसे पड़ता है, और विशेष रूप से यह देखना है कि यह किस प्रकार से विभाजन तथा एकता के उपकरण के रूप में काम करती है। बाबेल की मीनार की कहानी बाद की बात का एक स्पष्ट उदाहरण है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि मानव के नभ को छू लेने के प्रयास अथवा दूसरे शब्दों मे अपने सामाजिक आदर्शों को पालने के प्रयत्न अन्य कारणो की अपेक्षा भाषाओं की भिन्नता के कारण अधिक अवरुद्ध होते रहे है। उनमे केवल विभिन्न राष्ट्रों के शब्दों के मध्य में उपस्थित विभिन्नता ही नहीं दिखाई देती, बल्कि उनके वाक्यों की रचना, उनकी अभिव्यक्ति और उनके प्रतीकात्मक शब्दो के प्रयोग मे भी, और इसके साथ ही राष्ट्र के अन्दर की बोलियों की छोटी-छोटी भिन्नता भी प्रदर्शित होती है। इससे भी अधिक साधारण भिन्नता उच्चारणों, विशेष-मुहावरो, संकेतो और अभिव्यक्ति की अन्य प्रणालियो के प्रयोग मे देखी जा सकती है। इनसे समुदाय के विभिन्न वर्गों के पृथक् रूप का हम पता लगा सकते हैं। इंग्लैंड में 'H'(एच) अक्षर का प्रयोग एक स्पष्ट उदाहरण है। वहाँ हास्य-अन्योक्तियो के

१. स्टाउट की पुस्तक 'मैनुअल ऑफ साइकोलोजी' खंड ४, अ० ५ को देखिए।
२. [illegible]

साथ और सामाजिक महत्त्व पर अधिक बल देने वाले अन्य उदाहरण बर्नार्ड शा की रचना 'पिगमेलियम' मे देखे जा सकते हैं और निस्सन्देह पाठको को ऐसे उदाहरण और भी बहुत मिल जाएँगे। सभी बोलियो मे कुछ ऐसे अभि-व्यञ्जनात्मक शब्द और मुहावरे होते हैं जो उन्हें जानने वालो के लिए महत्त्वपूर्ण अर्थ रखते हैं और इस प्रकार एक पृथक् वृत्त की रचना करते हैं। और यही बात गँवारू भाषाओ पर भी लागू होता है। अधिक सामान्य पक्ष मे सामान्य भाषा के महत्त्व-प्रतिपादन के रूप मे हम कह सकते हैं कि यूरोप मे लेटिन का जैसा प्रयोग होता रहा है और अब भी वह कार्य अग्रेजी और फ्रेञ्च भाषाओ द्वारा होता है तथा वे अन्तरराष्ट्रीय विचार-सवहन के लिए सामान्य साधन का रूप भी धारण कर चुकी हैं, वे हमारी भावी शकाओ का समाधान प्रस्तुत कर सकती हैं। जिन लोगो की भावाभिव्यजक प्रणालियाँ भिन्न होती हैं अथवा जिनकी विशेष अभिव्यक्ति मे भाव भिन्न होते हैं, वे लोग अनिवार्य रूप से अपने विचारो और भावो की प्रणालियो मे भी भिन्न होते हैं। उनके विचार एक-जैसे नही होते और इस प्रकार के समुदाय के बिना, धार्मिक-सामाजिक समागम और किसी प्रकार के सर्वहित की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही हो सकती है।[1] इस तरह भाषा को विशाल रूप मे देखने से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि भाषा सभी सामाजिक सस्थाओ की आधारभूमि है, जहाँ तक कि यह अपने-आपको सस्था कहलाने का अधिकार रखती है।

४. निर्माणात्मक संस्थाएँ

अब हम ऐसी सस्थाओ की ओर ध्यान देंगे जिनका प्राथमिक उद्देश्य एकता के किसी विशेष प्रकार को स्थिर रखने की बजाय सामाजिक एकता का निर्माण करना है। उन्हें विस्तृत रूप मे हम शिक्षणात्मक कह सकते हैं यद्यपि कुछ रूपो मे वे शैक्षणिक लक्ष्यो की पूर्ति निश्चित रूप से नही करती हैं। उदाहरणस्वरूप उद्देश्य के अनुसार परिवार को हम प्रधानतः शिक्षणात्मक कह सकते हैं, यद्यपि परिवार अन्य लक्ष्यो की पूर्ति भी करता है, जो इस विशेषता के अन्तर्गत नही आते। निश्चय ही इसका अस्तित्व छोटे बच्चो के पालन-पोषण के रूप मे और विशाल सामुदायिक जीवन मे प्रवेश की तैयारी के रूप मे होता है। स्कूल और कॉलेज स्पष्टत इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्थापित किये जाते है और उन्हे ही स्पष्ट रूप मे ऐसी सस्थाएँ कहना अधिक ठीक है। अभी थोडा आगे चलकर हम उनके महत्त्व का कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे, पर उनके बारे मे इसी समय कुछ कहना आवश्यक नही।

---

१. यही बहुत-कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता की मान्यता को कठिन बनाये हुए हैं। आगे के तृतीय खण्ड के प्रथम अध्याय को भी देखिए।

ये कुछ ऐसी संस्थाएँ होती हैं, जो मानव जीवन का निर्माण तो नही करती हैं, परन्तु उनके रक्षण में सहायक अवश्य होती हैं। ये प्राथमिक रूप से हमारी वर्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती हैं।

५. आर्थिक संस्थाएँ मनुष्य को स्पष्टतः भोजन, पानी, हवा, धूप, नीद, व्यायाम, गरमी और विश्राम की आवश्यकता होती है। लोगों की आवश्यकताएँ विभिन्न स्थान और परिस्थितियों के कारण पृथक्-पृथक् होती है, भले ही वस्तुओं की आवश्यकताएँ कुछ अंगो में शारीरिक-गठन और जीवन में आदतों की भिन्नता के कारण भी पृथक्-पृथक् होतीं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधन और सुविधाएँ उद्योग और वाणिज्य के विभिन्न रूपों मे मिलती हैं। फिर उद्योग और वाणिज्य हमारी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं, उदाहरण के लिए उन्हें हम पुस्तकों, चित्रों, युद्ध-सामग्री, खेल का सामान, यात्रा सुविधाएँ, वाद्य यन्त्रों आदि की पूर्त्ति के रूप में भी समझ सकते हैं। इन पदार्थों की माँग और संभरण की शर्तें, अन्य पदार्थों से इतनी भिन्न होती हैं कि हम इन्हे आर्थिक पदार्थों के रूप मे मानने को भी तैयार नही होते। अब हम इन आर्थिक सस्थाओं को प्राथमिक रूप से अपनी वर्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाली ही समझेंगे। उद्योग और वाणिज्य से सम्बन्धित अधिकतर संस्थाएँ मुख्यतः इन्ही बातों से सम्बन्धित होती है। जैसे, भूमि अधिकरण, कारखानें, बाजार, सहकारी-संस्थाएँ, मजदूर-संघ, बन्दरगाह, पोत-निर्माण-स्थल आदि। यद्यपि कुछ समस्याएँ, जो पूर्ण रूपसे आर्थिक नही होती, ऐसी सस्थाओं के मूल कार्यों से लगभग मिली-जुली होती हैं।

६. बर्बर सस्थाएँ मैं यहाँ इस शब्द का प्रयोग इससे उपयुक्त शब्द के न मिलने के कारण ही कर रहा हूँ, और इसलिए भी कर रहा हूँ कि यह शब्द उन सस्थाओं की विशेषता बतलाता है जो मूलतः पाशविक वृत्तियों की तृप्ति से सम्बन्धित होती है। इसे अपमानसूचक अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए, पर इसके प्रयोग मे मुझे ग्रे महोदय के एक संस्मरण की याद आती है। उन्होने एटन कालेज के एक भाषण में कहा था, "हमारे छोटे वर्बर (बच्चे) खेल मे लगे है।" मैथ्यू आर्नल्ड ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है[१] कि इंगलैण्ड का उच्चवर्ग बर्बर लोगो द्वारा निर्मित है। यहाँ बहुत-सी ऐसी संस्थाओं की ओर संकेत करना कठिन है जो केवल हमारी पाशविक वृत्तियों की पूर्त्ति करती हैं। यदि हम गति को पशु-जीवन की

---

१. 'कल्चर एण्ड अनार्की', III. यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य क्या है. इसके लिए अन्य उदाहरण के रूप में बाल स्वयंसेवक आन्दोलन को प्रस्तुत किया जा सकता है जो विशाल रूप से बर्बर संस्था की विशेषता को लिए हुए है। प्रो० वेवलेन की पुस्तक 'थ्योरी आफ दि लैजर क्लास' में विशेषतः पृ० सं० २७८-६ को भी देखिए।

महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ मे से लेते हैं तथा प्रेम और संघर्ष को मूलवृत्तियों मे, तब यह देखना कठिन नही रहेगा कि अनेक साहचर्य-प्रणालियाँ प्राथमिक रूप से उन्ही की पूर्ति के लिए बनी हैं। जब हम लघु बर्बरो (बच्चो) को खेलते हुए देखते हैं, तो उन्हें पशुओ के छोटे बच्चो की तरह ही व्यवहार करते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे अपनी क्रीडाओ को नियमो और उपकरणो द्वारा सस्थाओं का रूप भी दे देते हैं। कभी-कभी वे अवश्य ही एक शैक्षणिक कार्य की पूर्ति करते हैं। परन्तु उनकी प्राथमिक आवश्यकता, जिनकी अभिव्यक्ति उसमे मिलती है, शिक्षा नही है और यदि शैक्षणिक लक्ष्य को जानबूझ कर उसमे आबद्ध कर भी दिया जाता है, तो उनका उत्साह और महत्त्व दोनो ही मारे जाते हैं। उन्हे केवल व्यायाम की तरह ही नही माना जा सकता, भले ही खेलो मे यह ध्येय भी छिपा रहता है। ऐसा मालूम होता है कि बच्चो मे प्रेम और सघर्ष के जान्तिवक आवेग अधिक हैं। जब वे लोकनृत्य आदि करते हैं तो यह आवेग और भी स्पष्ट हो उठते है। प्रायः सभी खेलो मे प्रतियोगिता होती है, उनमे भिन्नतापूर्ण सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता दोनो ही बातें होती हैं। कला के प्रारम्भिक रूपो मे प्रेम और सघर्ष की स्मृतियाँ छिपी रहती है और स्वाभाविक आवेगो को प्रोत्साहन देती हैं। अधिकतर वे बहुत ज्यादा स्थायी दिखाई देती हैं। अधिक विकसित कलाओ मे तो यह आवेग शुद्ध कलात्मक माँग की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

प्रेम और सघर्ष के अन्य प्रकारो, जिनमे साहचर्य-प्रणालियो को प्रोत्साहन मिलता है, खोजना मुश्किल नही। परिवार की जडें निश्चय ही प्रेम मे छिपी हैं। परिवार कुछ ऐसी सस्थाओ को भी जन्म देता है जो पारिवारिक जीवन के विरुद्ध होती हैं। उससे एक ऐसा प्रसन्न समुदाय बनता है, जिसका प्रधान उद्देश्य आवश्यकताओ की पूर्ति और बौद्धिक अथवा कलात्मक् लक्ष्यो को प्रोत्साहन देना नही है, फिर भी वे प्रायः मूल-आवेगो के साथ मिल जाते है, और उनका अपने प्रिय-साथी की तरह उपभोग भी कर सकते हैं। इसके साथ उनमे सघर्ष का तत्व भी रहता है, जैसे—अवसर और चातुर्य के खेलो मे तुरत-प्रज्ञा का सघर्ष होता है। इसी प्रकार दूसरे प्रतियोगितात्मक खेलो मे भी और कभी-कभी वास्तविक युद्ध और लडाइयो मे भी प्रकट होता है। पर प्रतियोगितात्मक क्रीडाओ मे युद्धावेग का कितना भाग होता है, यह निर्णय करना कठिन है। मुक्केबाजी आदि मे तथा शारीरिक व्यायाम की पूर्ति के साधनों को बुद्धिमत्तापूर्वक समायोजित करने मे भी यही संघर्ष दिखाई देता है। कभी-कभी इस प्रकार की क्रियाओ का उद्देश्य शैक्षणिक भी होता है। परन्तु इसमे सदेह नही है कि युयुत्सावेगो से हमे आनन्द भी प्राप्त होता है और यह आनन्द हमे प्रतियोगितापूर्ण खेलो और यहाँ तक कि अपने जीतने की बात करते समय भी प्राप्त

होता है, जैसा कि जॉनसन महोदय कहते है। युयुत्सावेग अपने झुण्ड के बाहर के सदस्य के विरुद्ध अधिक तेजी और मजबूती से प्रकट होता है। युद्ध का आधार इसी मे है फिर इन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रतियोगिता मे अथवा मानवीय प्रकृति की कुछ उच्च आवश्यकताओ की तृप्ति के लिए मनुष्य तुरन्त अपने आपको विशुद्ध बर्बर 'युद्ध की खुशियो' मे सम्मिलित कर लेता है। पर आज की कुछ अत्यन्त विकसित जातियो मे भी स्पष्टतः यह भावना पूरी तरह से विलीन नही हुई है। सभ्य लोग इस प्रकार सोचना पसन्द करते हैं कि वे अपने विशाल सैनिक संगठन द्वारा स्वतन्त्रता, सस्कृति और धर्म के लिए संघर्ष कर रहे हैं अथवा दूसरों की रक्षा करते है। परन्तु सभी लोगो को नीत्शे के इस कथन से सहानुभूति है कि "एक अच्छा युद्ध किसी भी ध्येय की कुर्बानी कर सकता है।"

साहचर्य की जिन प्रणालियों का वर्णन किया जा चुका है, यदि उन्हे कुछ अंशों मे नियन्त्रित और सुसगठित न किया जाए तो वे स्पष्टत. समाज मे अव्यवस्थित स्थिति की जनक होती हैं।

७. सरकार सम्बन्धी-संस्थाएँ

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होते हुए भी एक वर्धी और जान्त्विक आवेगो के कारण स्वाभाविक रूप से समन्वय और नियत्रण की ओर प्रेरित होता है। अत हम सभी समुदायों मे, यहाँ तक कि आदिकालीन समुदायो मे भी, सरकार के किसी-न-किसी रूप को पाते है—चाहे यह कबीले मे किसी को मुखिया मान लेने के रूप हो। भले ही उसमे चारों ओर के लोगो के साथ सघर्ष अथवा आन्तरिक अनुशासन की कठिनाइयाँ हों, इससे एक विकसित व्यवस्था की स्थापना को जन्म मिला, जिसमे आदिकालीन रीतिरिवाज नियम के रूप मे रखे गए और इस तरह राज्य ने एक सस्था का रूप धारण किया और अन्य सभी सस्थाएँ राज्य की सहायक बनी। क्रमशः अधिकारों का निश्चय हुआ, उनकी परिभाषाएँ दी जाने लगी और न्याय के सिद्धान्त को महत्त्व मिला। इस प्रकार अपने अधीन करने की प्रणालियो मे बल प्रयोग भी निहित था और इस प्रकार की व्यवस्था मे स्वभावत सेना ने स्थान प्राप्त कर लिया। वास्तव मे वही हुआ जैसा प्लेटो ने अनुभव किया था कि सैनिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार को अवश्य मजबूत बनाती है। इस बारे में अधिक विचार आगे के अध्यायो मे करेगे।

जैसे-जैसे जीवन के मानवीय पहलू महत्त्व प्राप्त करते गए वैसे-वैसे वर्धी और जान्त्विक प्रकृति को लक्ष्य की अपेक्षा साधन का रूप दिया जाने लगा और मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः तर्क-बुद्धि के विकास को समझा जाने लगा। इस तरह सब कुछ तर्क-शक्ति के ही अन्तर्गत माना जाने

८ सांस्कृतिक संस्थाएँ

लगा। इस मान्यता ने साहचर्य की नयी प्रणालियो को जन्म दिया। संस्थाएँ बच्चो को केवल ज्ञान और शिक्षण देने के लिए ही नही बनायी गईं, परन्तु, ज्ञान की सवृद्धि, बुद्धि तथा चरित्र के विकास के लिए भी बनायी गई है। खेल के सरल आवेश को कला के विभिन्न रूपो की अभिव्यक्ति मे बदल दिया जाता है, वे केवल पाशविक इच्छाओ मे ही नही, वरन सूक्ष्म और अधिक चिन्तनशील सवेगो और मनोभावो की अभिव्यक्ति मे सुन्दर रूप धारण कर लेती हैं। इतना ही नही अन्त मे वे जीवन के विचारशील दृष्टिकोण और फिर उसके विश्लेषण के प्रयास तक पहुँच जाती हैं। विचार-तत्त्व नियम का आधार है। नियम की बाह्य-दबाव की शक्ति क्रमश नैतिकता के दायित्वो को मान्यता देती है। जीवन का एक पूर्णत्व के रूप मे दृष्टिकोण धार्मिक मत को मान्यता देता है, जिनमे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की पूर्णता अधिकाधिक बलवती मनोवृत्ति का रूप धारण करती जाती है। जीवन के विकासमान पहलू सामाजिक जीवन की सस्थाओ मे एक परिवर्तन लाते हैं और उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने वाली नवीन सस्थाओ को जन्म देते हैं। वैज्ञानिक सस्थाएँ बनती है, कलात्मक समूहो का निर्माण किया जाता है, नैतिकता की वृद्धि और धर्म की स्थापना के लिए देवालयो की उत्पत्ति होती है। मानव-जीवन की मूल एकता का गहरा भाव और लक्ष्यो के मूल्याकन जो उसमे निहित है, वे विभिन्न समाजों के विरोध को समाप्त कर देते हैं। फिर कुछ ऐसी सस्थाओ को स्थापित करते हैं जो आपसी समागम मे वृद्धि करती है।

६ संस्थाओं की अन्योन्य-क्रिया

सस्थाओ की इन जटिल पद्धतियो मे कुछ अंशो मे सघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है और फिर उसे दूर करना सरल काम नही होता। मनुष्य, जैसा हमने प्रस्तुत किया है, मुश्किल से ही एक तर्कनापरक प्राणी है, परन्तु वह एक ऐसा प्राणी है जो तर्कनापरक बन रहा है। मनुष्य की प्रकृति की उच्च शक्तियाँ उसके निम्न रूप को सरलता से वश मे करने मे सफल नहीं हो पाती। कभी-कभी उसके इस उच्चतर और निम्नतर रूप के बीच उत्पन्न सघर्ष उसे ऐसे प्रयासों की ओर ले जाते हैं जो निम्नतर को एकदम से कुचल डालते है। कई समाजो मे यति लोग इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे मामलो मे जीवन के अधिक निरपेक्ष और अधिक धार्मिक पहलुओ में भेद प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस तरह एक ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए जिसमें सीजर की वस्तुएँ उसे और देवताओ की वस्तुएँ उन्हे ही प्राप्त हो जाएँ। इसे कुछ अशो मे अपरिष्कृत रूप से किया जाना चाहिए। ऐसा कहा जाता है कि "व्यापार व्यापार ही है," और यह नैतिकता से पूरी तरह पृथक् है अथवा इसी तरह अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धो मे भी यही कहा जाता कि "जिस

की लाठी उसकी भैंस," अर्थात् शक्तिशाली ही सच्चा है। परन्तु इस तरह के प्रयास, जो जीवन को उसके मुख्य हित से पृथक् करते हैं, शीघ्र ही पूर्णत. असन्तोष-जनक सिद्ध होते हैं। जीवन की एकता स्वयं इसकी भिन्नता का विरोध करती और हमारी प्रकृति के पहलुओ को, उनके आधारभूत हितों के प्रति समायोजित करती है। परन्तु इस में समय लगता है और संघर्ष और अव्यवस्था के विचारणीय तत्त्व लगभग हमेशा ही समायोजन की प्रक्रिया से अभिन्न (मिलकर) रहा करते हैं। अतः मानव-जीवन की समस्या के किसी सरल समाधान की हमें आशा नही करनी चाहिए।

जिस प्रक्रिया से मानव-प्रकृति के विविध तत्वो का समायोजन होता है, और क्रमशः वह जिस परिणाम की ओर ले जाता है, उसे सामान्यतः सभ्यता की परिभाषा के रूप मे व्यक्त किया जाता है। जर्मन लोग कल्टर (Kultur) शब्द का प्रयोग विशेष स्थान और काल की सभ्यता के विशेष रूप में किया करते थे।[1] 'सभ्यता' शब्द 'नागरिक' शब्द की तरह यह सकेत करता है कि वह प्रधानतः नगरों से सम्बन्धित है, और वहीं उसकी प्रक्रिया एक तीव्र रूप मे हुई है। प्रायः नगरो मे मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक-दूसरे से घनिष्ठता के बन्धनों मे बाँधा गया है। वहाँ उनके समायोजन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। यह बात स्वतन्त्र यूनानी नगर-राज्य अपने श्रेष्ठतम रूप मे प्रकट करते हैं। परन्तु इससे निम्नश्रेणी के रूप में वह (संगठन) आधुनिक नगरो मे भी स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रक्रिया मे कुछ ऐसी जटिल कठिनाइयाँ मिली हुई हैं कि वे अनेकों आकस्मिक अशुभों को जन्म देती है। नगर का जीवन अस्वास्थ्ययुक्त तथा ग्राम्य जीवन से कम संगठित होता है। यहाँ वर्धी तथा पाशविक पक्षो को हानि पहुँचती है और उनसे नैतिक और धार्मिक जीवन और कभी-कभी कलात्मक और बौद्धिक जीवन भी प्रभावित होते है। अतः कभी-कभी उसके विरोध मे दृढ़ प्रतिक्रिया होती है और फिर जीवन की सरल और स्वतन्त्र प्रणाली की ओर लौट जाने के प्रयास किए जाते हैं। तुलनात्मक रूप मे एक गँवार आदमी के जीवन को भी कभी-कभी बहुत सभ्य लोगो के लिए एक आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के रूप में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से रूसो की प्रारम्भिक रचनाओ का प्रतिनिधित्व करती है। वर्तमान समय मे एडवर्ड कारपेण्टर ने 'सभ्यता' पर एक रोचक पुस्तक 'सिविलिजेशन इट्स

१०. सभ्यता का अर्थ

---

१. इस शब्द के प्रयोग के महत्त्व पर प्रो० बर्न्स ने अपनी पुस्तक 'हायर एजूकेशन एण्ड दि वार' अ० १ में अच्छी तरह से प्रकाश डाला है। सर चार्ल्स वाल्डस्टीन की पुस्तक 'पैट्रियाटिज्म: नेशनल एंड इंटरनेशनल', पृ० सं० २१-६ भी देखिए।

काज एण्ड क्योर' लिखी है। परन्तु रूसो और एडवर्ड कारपेण्टर दोनो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभ्यता की बुराइयो का उपचार अधिक सभ्य बनना ही है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे वैसे ही इन लोगो को जिन कठिनाइयो और प्रणालियो का सामना करना पडा, उन्हें स्पष्टत. जान सकेंगे।

आगे के अध्यायों की रूपरेखा

यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओ के बारे मे, जिनका विवरण हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं, पूर्ण रूप से वर्णन करने का प्रयास करें तो हमे एक व्यापक अध्ययन करना पडेगा। इस प्रकार की रूपरेखा मे तो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यो को ही स्पर्श किया जाएगा। अब आगे इसे सगठन की उस प्रणाली से प्रारम्भ करना अच्छा रहेगा, जो सरलतम एव प्राकृतिक हो—जैसे परिवार। परिवार हमारी मूल प्रवृत्तियो की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है, फिर भी कई तरीकों से वह लगभग सभी तरह की अच्छी व्यवस्था करता है और उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति करने मे पूरी तरह से समर्थ होता है। फिर परिवार से शिक्षा-सस्था पर सरलता से पहुँचा जा सकता है। उससे फिर जीवन के औद्योगिक रूपो पर भी आ सकते है। इसके उपरान्त राज्य के विषय मे सावधानी से विचार किया जा सकता है। इससे न्याय की अवधारणा की ओर बढा जा सकता है। फिर हम सामाजिक जीवन के विविध आदर्शों तक पहुँच सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे जानकारी, धर्म और सस्कृति के स्थान को इसके तीसरे भाग के लिए छोड़ सकते हैं। उनमे निहित एकता की प्रणालियों को मूलतः पूर्णत्व के रूप मे मानवता के सगठन से सम्बन्धित माना जाना चाहिए, साहचर्य-प्रणाली के सकुचित-सगठन से सम्बन्धित नही।

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

परिवार

मनुष्य के लिए परिवार प्राकृतिक है[1]। यह इस बात से पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार अधिकतर विकसित जन्तुओं के लिए भी प्राकृतिक होता है। यह स्पष्ट है कि जन्तु-जीवन की उच्चतर श्रेणियों मे शिशु-पालन का महत्त्व बढता जाता है, क्योकि जन्म के समय वे अधिक-से-अधिक असहाय अवस्था में होते हैं और उनके उचित विकास के लिए अधिक-से-अधिक देख-भाल की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यहाँ पर यह बतलाना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है कि किस प्रक्रिया से— शायद प्राकृतिक या अन्य तरीको से—माता-पिता की मनोवृत्तियाँ इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने के लिए अपने आपको समायोजित करती रहती है। पर यह समझ लेना हमारे लिए यहाँ काफी होगा कि सामान्यत, वे पारिवारिक एकता के किसी रूप के द्वारा ही पूरी की जाती हैं। लालन-पालन के लिए आवश्यक प्रारम्भिक भार, कोयल द्वारा बच्चों के पालन के असाधारण अपवाद को छोडकर, सामान्यतः माता-पिता पर ही रहते है। कभी-कभी तो पालन का भार केवल माता पर ही रहता है और बहुत बार उसे अकेले ही सब कुछ करना पड़ता है। परन्तु सामान्यतः कुछ अंशो मे पिता पर भी यह भार रहता है। इस बात को हम परिवार का प्राकृतिक आधार कह सकते है। अब इससे सम्बन्धित यह प्रश्न उठता है कि इस प्राथमिक लक्ष्य की पूर्ति किन सर्वोत्तम तरीको से हो। इस उद्देश्य के लिए एक पत्नी वाले परिवार सर्वोत्तम सिद्ध होते है। परिवार मे एक अकेले होने के कारण माता-पिता सामान्यत आवश्यक कार्य मे पूरे दिल से लग जाते है और पूरा सहयोग करते है। यह स्वीकार करना पड़ता है कि यदि निम्नवर्ग मे परिवार के प्राकृतिक आधार को हम देखें, तो कुछ चिडियो की जातियो मे प्रधानतः यह दिखाई देगा कि पारिवारिक जीवन का यह रूप अपने

१. परिवार का प्राकृतिक आधार

---

१. पारिवारिक-गठन पर श्रीमती बोसाके ने अपनी पुस्तक 'फैमली' में बहुत विस्तृत ढग से प्रकाश डाला है।

आपमे काफी पूर्ण है, परन्तु अन्य दृष्टिकोण से यह मानव-जीवन के अधिक निकट नही है। अत यह कहा जा सकता है, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, ऐसा सोचने के लिए कोई भी स्पष्ट कारण नही है कि परिवार हमारे लिए सबसे अधिक प्राकृतिक ढग है। परन्तु वास्तव मे, कुछ चिड़ियाँ मनुष्य-जाति के बहुत करीब होती है—विशेषतौर से बच्चो की देख-भाल और उनके जीवन की तैयारी की आवश्यकता के रूप मे समझा जा सकता है।[1] उडना अधिकतर चिड़ियो की प्राकृतिक उपलब्धि है जैसे मनुष्यो मे चिन्तन करना। सामान्यत. छोटे बच्चे इन दोनो बातो के लिए नितान्त असमर्थ होते हैं, अतः माता को लम्बे समय तक छोटे बच्चो पर ध्यान देना पडता है तथा पिता की सहायता की भी आवश्यकता पडती है। अत मनुष्य-जीवन की विशेषताओ के बारे मे अधिक विचार न करते हुए हम दृढता के साथ यह कह सकते हैं कि एक विवाह अथवा पत्नी वाला परिवार साहचर्य का प्राकृतिक रूप है।

यह सत्य है कि परिवार का एक प्राकृतिक आधार है, पर प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इसका कोई परम्परागत आधार भी माना जा सकता है?

२ परिवार का परम्परागत पहलू

इसके कई उत्तर दिए जा सकते है परन्तु ज्यों-ज्यो हम आगे बढेंगे कुछ प्रश्न स्वत स्पष्ट होते जाएँगे। उनमे से एक को अभी प्रस्तुत किया जा सकता है कि जो बात चिन्तन से स्पष्ट होती है वह चिन्तन न करने वालो के लिए स्पष्ट नही होती। वास्तविक दृष्टि न रखने वाले लोगो के लिए बच्चा परिवार का किसी तरह से महत्त्वपूर्ण सदस्य नही है। हो सकता है उन परिवारो मे बच्चा हो ही नही। अगरेजी 'फैमिली' शब्द, जिसका अर्थ 'परिवार' करते है, स्वय अपने जिस स्वरूप पर प्रकाश डालता है, अपने विचार मे हम उसे अवास्तविक कह सकते हैं। रोम मे फेमूलस नाम का एक व्यक्ति पारिवारिक गुलाम था, (अगरेजी का स्लेवी शब्द उसी स्थिति का स्मरण करवाता है) और 'फैमिलिया' का अर्थ मूलत एक गृहस्थ से सम्बन्धित गुलामो के एक समूह से लिया जाता था। तत्पश्चात् फैमिली (परिवार) का अर्थ केवल गुलाम ही नही रहा, परन्तु उस गृहस्थ मे रहने वाले सभी नियमित सदस्यो के अर्थ मे लिया जाने लगा। इसके बाद सभी लोग कम या अधिक

---

१. यह सभव है कि निम्न वर्ग के जन्तु भी अपनी आनुवंशिक मनोवृत्तियों के द्वारा कुछ अश में अपना जीवन-सचालन अपने पैतृक-संरक्षण के बिना भी करते हैं, परन्तु इस प्रवृत्ति का प्रचुर रूप से अतिरजन किया गया है। इस विषय पर कुछ रोचक सामग्री बेन्जामिन किड महोदय की मृत्यु के उपरान्त उनकी प्रकाशित कृति 'साइन्स ऑफ पावर', पृ० २७६-२८६ देखें और लायड मारगन की 'हैबिट एण्ड इंस्टिंक्ट', पृ० १८१-२ देखें।

मात्रा मे उस परिवार के मुखिया की सम्पत्ति समझे जाने लगे, और जो मुखिया होता था, वह बच्चा न होकर पिता होता था। परिवार का यही रूप हम कुछ अशो मे बाइबिल के दस आदेशो मे भी देखते है—"तुम अपने पड़ोसी के घर की ओर लालच-भरी दृष्टि से न देखो। तुम अपने पडोसी की स्त्री, अपने पडोसी के सेवक, सेविकाओ, बैल, गधे और अन्य वस्तुएँ, जो उसकी है, उनकी ओर भी लालच-भरी दृष्टि से नही देखोगे।" यह महत्त्व की बात है कि यहाँ बच्चो का कुछ भी सकेत नही किया गया। क्या इस आदेश का रचयिता बच्चों को अपने पड़ोसी की वस्तुओ मे स्थान देते हुए लज्जा का अनुभव करता था? अथवा क्या उसने यह मान लिया था कि बच्चे ऐसी वस्तुएँ ही नही है जिनकी ओर कोई लालच-भरी दृष्टि से देखने की चेष्टा कर सकता है? यह भी ध्यान देने की बात है कि माता-पिता को सम्मान देने वाले आदेश की रचना की गई, परन्तु बच्चो की ओर ध्यान देने वाले किसी एक भी आदेश की रचना नही की गई। सभवत यह सोच लिया गया दीखता है कि प्रकृति स्वय इस बारे मे शिक्षा देगी।

इसमे कोई सन्देह नही कि अब हम एक मनुष्य के परिवार को उसके गुलामों के रूप मे नही देखते और कुछ अश मे हमने उसे उसकी सम्पत्ति के रूप मे भी सोचना छोड़ दिया है। परन्तु इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि इसके बारे मे सोचने का जो सामान्य ढंग है, वह अब भी बहुत कुछ सोचने के पुरातन ढग से प्रभावित है। यदि परिवार पिता की सम्पत्ति है तो वह अन्य सम्पत्तियो से अलग क्यो समझा जाता है? यदि पिता अनेक बैल और बच्चे रखने का अधिकारी है तो वह अनेकों पत्नियो को रखने का अधिकारी क्यो नही? यदि वह अपने एक बैल को बेच सकता है और दूसरे को खरीद सकता है, तो वह अपनी स्त्री का भी विनिमय क्यों नही कर सकता? और यदि हम स्त्रियो की समानता को मानते है तो फिर हम पूछ सकते हैं कि वे दोनों इस सम्बन्ध को एक के अथवा दोनो के सहमत होने पर समाप्त क्यों नही कर सकते? इस दृष्टिकोण से देखने पर हम साहचर्य-प्रणाली में कोई भी प्राकृतिक रुकावट नही पाते। विवाह केवल एक कृत्रिम संविदा दिखाई देता है, वह किसी भी अर्थ में एक धार्मिक बन्धन नही है। प्रधानत. इसी रूप में परिवार को परम्परागत समझा जा सकता है, और उसका दृढ़ आधार प्राकृतिक नही माना जा सकता। उत्कर्ष के पश्चात् हम उसका पतन भी देख सकते है।

इस आधार पर परिवार का विश्लेषण कर लेने पर भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि उसका कुछ प्राकृतिक आधार भी है। इसका वर्णन हम बाद मे करेंगे। इससे पहले हम उसे कुछ दूसरे ढंग से प्रस्तुत

करेंगे जो उसके आधारभूत रूप की ओर अधिक दृढता से ध्यान आकर्षित करेगा।

बच्चे को परिवार के प्राकृतिक आधार के रूप मे रखकर जीवन के लिए उसे तैयार करने को इस साहचर्य-प्रणाली का प्राथमिक कार्य समझ सकते हैं। यदि परिवार को हम एक छोटा-सा राज्य कहे तो, बच्चा उसका वैध प्रभु है,[1] परन्तु वह अपने मन्त्रियो द्वारा शासन करता है। उसकी इच्छाओ की पूर्त्ति अनिवार्यतः नही होती, विशेषतया जब परिवार मे वहुत से बच्चे होते है। परन्तु ऐसे लगता है कि परिवार का सामान्य कार्य मूलत बच्चे के पोषण के लिए सर्वश्रेष्ठ अथवा जो प्राप्य है उसमे से सभव—उत्तम वस्तुएँ प्राप्त करना है। यह सब कुछ बच्चे को विशाल समुदाय का एक नागरिक बनाने की तैयारियो के दृष्टिकोण से किया जाता है। परिवार के जीवन मे निहित दूसरे कार्य स्वभावत इस आधारभूत अवधारणा के अधीन ही समझे जाने चाहिए। यह निश्चय करना सरल नही है कि किस तरह और किन अशो मे वे प्राकृतिक रूप से उसके अन्तर्गत आते हैं। वे विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न भी हो सकते है, फिर भी यहाँ इस वारे मे कुछ सामान्य सकेत देना लाभदायक होगा।

३. बच्चा केन्द्र के रूप मे

हम इस विचार का दृढता से समर्थन कर सकते हैं कि बच्चो का पालन करना परिवार का प्राकृतिक अथवा तर्क-सिद्ध आधार है। फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसे तर्क द्वारा प्रथम स्थान मिलता है, उसे समय की गति मुश्किल मे ही प्रथम स्थान देती है, और महत्त्व के दृष्टिकोण से भी वह प्रथम नही रह सकता। परिवार का आधार दो विरोधी लिंग वाले व्यक्तियो के विवाह के बँधन मे बन्धने से स्थापित होता है। इस प्रकार के किसी साहचर्य का परिणाम बच्चे होना आवश्यक नही और यदि ऐसा हो भी जाता है, तो दम्पति को बच्चो के पालन-पोषण के लिए आपसी सहयोग की आवश्यकता रहती है। अतः बच्चो के पालन-पोषण की अपेक्षा दो उभय-लिंगी व्यक्तियो के प्रेम को ही परिवार का मौलिक आधार मान लिया जाए तो यह अप्राकृतिक नही होगा। वास्तव मे यह एक प्राकृतिक आधार है। हम यही जन्तु-जीवन मे भी देखते हैं तथा मनुष्य के जीवन मे भी ऐसा पाते है। परन्तु परावर्तन के बाद ऐसा लगता है कि यह सामान्यतः दूसरे आधारो का सहायक है। एक ही लिंग के दो व्यक्तियों मे घनिष्ठ प्रेम हो सकता है, भाई या

१　इसका भाव अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करने वाली 'सप्रभुत्व सम्पन्न जनता' के अर्थ में लिया जाना चाहिए, न कि एकतन्त्र अर्थ में।

बहनों मे भी ऐसा हो सकता है। वह एक सुखद और महत्त्वपूर्ण साहचर्य का रूप भी धारण कर सकता है, परन्तु उसे परिवार नही कहा जा सकता। बच्चों के पालन-पोषण की संभावना ही विवाह को अन्य साहचर्यों से पृथक् करती है। वह उन्हे उन साहचर्यों से पृथक् करती है जो व्यक्तिगत आकर्षण पर आधारित होते है और यह स्पष्ट है कि विवाह का आधार भी सदा यही नही होता। अतः यद्यपि बच्चो के पालन-पोषण पर आधारित सहयोग की अपेक्षा दो प्रौढो के मध्य प्रेम कभी-कभी एक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण मेल को जन्म दे सकता है, फिर भी वह तत्त्वत. एक परिवार का आधार नही कहला सकता।

फिर यह भी ध्यान देने की बात है कि बच्चे की वृद्धि का एक लम्बा समय माता पर भारी बोझा होता है; विशेषतः यह तब और भी बढ़ जाता है जब परिवार बड़ा होता है और उसके साधन सीमित। यह स्वाभाविक है कि इस कार्य की पूर्ति मे पिता का सहयोग भी होना चाहिए। हम जन्तु-जगत के व्यवहार मे से अनेकों उदाहरण ले सकते हैं। यह सहयोग कुछ अंशो मे बच्चों के पालन-पोषण के लम्बे अर्से से भी अधिक अर्से तक बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जन्तुओ मे ऐसा बहुत कम मिलेगा कि जब बच्चे बडे हो जाते हो, तो वे अपने पालन-पोषण का कोई बदला चुकाते हों, परन्तु मानव-जीवन मे यह स्वाभाविक है। कभी कभी शायद विशेषतः जापान (बच्चो के स्वर्ग के रूप में वर्णित देश) मे बच्चो के पालन-पोषण की अपेक्षा परिवार के इस पहलू पर बहुत अधिक बल दिया गया है (जो कुछ अंशो मे निस्सन्देह प्राकृतिक है)। जन्तुओं मे भी अपने हित के प्रति कृतज्ञता का भाव देखा जाता है। कम-से-कम यह मित्रता का प्राकृतिक आधार बनता है। बूढो को सहायता की विशेष आवश्यकता होती है, अतः यह उचित ही है कि वे उन लोगो से सहायता प्राप्त करें जिनका उन्होने पालन-पोषण किया है। परन्तु यह आवश्यक भी नही कि ऐसी सहायता अवश्य ही ली जाए। संभवतः उन्होने अपनी वृद्धावस्था के लिए काफी कुछ बचाकर रखा हो अथवा जिस समाज मे उन्होने सेवा-कार्य किया है वृद्ध उससे भी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। कुछ भी हो, इस विवेचन से हम इस तथ्य का महत्त्व कम नही होने देंगे कि बच्चो का पालन-पोषण परिवार का मूल आधार है।

इस विश्लेषण से यह अनुमान कभी नही लगा लेना चाहिए कि बच्चो के अभाव मे विवाह निरर्थक होता है। इस विषय पर हम फिर शीघ्र ही विचार करेंगे।

परिवार के प्राकृतिक आधार पर बात करते समय बच्चों के सही ढग से

उत्पन्न होने के महत्त्व को समझना जरूरी है। इन वर्षों मे इस विषय पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।[1] प्लेटो नें इस पर बहुत बल दिया है बल्कि अधिक दृढता से और सभवत. कठोर रूप मे। निश्चय ही

४ सौजिनिकी

बच्चा प्राकृतिक रूप से बादशाह, यदि सभव हो सके तो प्रत्येक अश मे एक बादशाह होना चाहिए। निम्न वर्ग के जन्तुओं मे जीवन की परिस्थितियो का सामना करने में असमर्थ बच्चे पिता द्वारा ध्यान देने पर भी शीघ्र ही मर जाते हैं। इसके विपरीत, बुद्धिमत्तापूर्वक औषधि आदि का प्रयोग और सही पालन-पोषण से मानव-बच्चो की जीवन-रक्षा होती है अन्यथा उनकी वृद्धि असभव हो जाए। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि इस तरह के संरक्षण से मानव-जाति का ह्रास होता जाएगा और ऐसा लगता है कि कुछ अशो मे इसी कारण से बच्चो के विगोपन की प्राचीन पद्धति का प्रयोग हुआ था। परन्तु यह निश्चय करना सरल नहीं है कि जो बातें निम्न वर्ग के जन्तुओ के लिए सही हैं वे कहाँ तक मनुष्य जाति के उपयुक्त हैं। कुछ मनुष्य, जिनके प्रति मानव-जाति बहुत अधिक ऋणी है, सम्भवत विगोपन क्रिया से वे बचपन मे ही मृत्यु के ग्रास बन जाते। कुछ ऐसे बच्चे भी होते हैं जिनका परिवार नही होता परन्तु उनके सरक्षण मे मानव-जाति को कुछ भी कष्ट नही उठाना पडता। आधुनिक सौजिनिकी का अध्ययन करने वालो का कहना है कि अनुचित विवाहो को रोकने के लिए कुछ कार्यवाही करनी चाहिए। यह एक ऐसी बात है कि स्पष्टतया कुछ रोगी लोगो को छोड कर सरलता से कुछ भी निर्णय नही दिया जा सकता, परन्तु ऐसे विवाहो के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया जा सकता है जिनसे अच्छे परिणामो की आशा हो। यह सन्देहात्मक है कि सौजिनिकी इतना विकसित हो गया हो कि इस दिशा में वह ऐसा मार्ग-प्रदर्शन कर सके परन्तु भविष्य मे वह ऐसा करने मे समर्थ हो सकेगा कि आवश्यक ज्ञान के आधार पर वाञ्छित प्रोत्साहन दे सके। परन्तु इस विषय मे अधिक लिखना हमारे विषय से बाहर की बात है।[2]

विवाह के सामान्य विषय को लेकर यहाँ कुछ और दृष्टिकोण रखेंगे।

---

१ इस विषय को महत्त्व देने वालों मे गाल्टन महोदय प्रथम थे, परन्तु अब तो यह विषय बहुत सामान्य रूप से अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है।

२. प्रो० जे० बी० हेक्राफ्ट की पुस्तक 'डारवनिज्म एण्ड रेस प्राग्रस' शायद अपेक्षाकृत एकपक्षीय है। हक्सले की पुस्तक 'एवोल्यूशन एण्ड एथिक्स' की भूमिका भी उल्लेखनीय है।

परिवार के मूल-आधार की महत्ता के कारण विवाह को एक विशेष पवित्रता और स्थायित्व प्राप्त होता है। स्वय प्रकृति द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ इसे अपूर्व बल देती हैं। यदि जन्तु-जगत में मानव-विवाह जैसी कोई बात हो तो उसे भी सरलता से हटाया नहीं जा सकता। लिंगी वास्तव में एक-दूसरे के पूरक होते हैं और उनके मध्य प्राकृतिक आकर्षण उनके स्वाभाविक साहचर्य को कमजोर करने की अपेक्षा उसे दृढ बनाता है। रोमाण्टिक लेखकों ने इस प्रवृत्ति के प्रति कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है और उसकी प्रतिक्रिया मे कुछ अन्य लेखको ने संभवत अनुचित रूप से इसकी शक्ति को कम किया है। इस मे सन्देह नही कि मानव-प्रकृति अधिकाश जन्तुओं की प्रकृति की अपेक्षा अस्थिर है। स्त्री और पुरुष दोनों के स्वभाव में तथा उनके चिन्तन और अनुभूति के ढग में परिवर्तन आना संभव है। और ऐसा परिवर्तन शीघ्र ही उनके विवाह-बन्धन को समाप्त करने की इच्छा की ओर भी प्रेरित कर सकता है। वास्तव मे इस सन्देह के कारण है कि मनुष्य जो जन्तु वर्ग के अति निकट है उनमें से एक है, जिन्हे प्रकृति ने इस प्रकार स्थायी साहचर्य के उपयुक्त बनाया है। इस विचार के कई आधार हैं और यह वांछनीय भी है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को धर्म, कानून आदि कृत्रिम बन्धनो द्वारा स्थायित्व की ओर प्रेरित किया जाए। अभी हाल के वर्षों मे इस बात की ओर प्रेरित करने की प्रवृत्ति रही है। इन नियमों पर बहुत बल दिया जाता रहा है और इस बात की माँग की जाती रही है कि तलाक की अधिक सुविधाएँ दी जाएँ। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ देशों मे —जैसे, जापान मे इस तरह की काफी सुविधाएँ एक लम्बे काल से प्राप्त थी, अब वहाँ भी इन बन्धनों को मजबूत करना वांछनीय समझा गया है[१]। प्राथमिक महत्त्व की बात तो बच्चों की पर्याप्त देख-भाल है और वह बहुत-कुछ अशो मे माताओं पर आधारित है। परन्तु यह कार्य तब कठिन होता है जब विवाह-बन्धन मे साधारणतः शिथिलता आने लगती है। यह एक कठिन विषय है और यहाँ व्यापक वर्णन कठिन है।

५ विवाह

बच्चों के पालन-पोषण का अर्थ मूलतः, उचित भोजन, पानी, विश्राम, वायु प्रकाश तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति द्वारा जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा मे है। परन्तु जान्त्विक वृत्तियो के विकास, विशेषतः गति और अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं पर भी विचार किया जाना चाहिए। और यह भी स्वभावतः परिवार की परिधि में ही आजाता है

६. परिवार के शैक्षणिक कार्य

---

१. इस विषय पर श्री आर० पी० पोर्टर की पुस्तक, 'जापान : दि न्यू वर्ल्ड पावर', अ० ८ देखिए।

कि वह बच्चे को भाषा का प्रारम्भिक प्रयोग और इच्छाओको सयम मे रखना (जहाँ तक हो सके आत्म-सयम) तथा सामाजिक शिष्टाचार के मूल सिद्धान्त सिखाए। उन्हे कुछ अशो मे दूसरो को ही सौप देना चाहिए । उच्च वर्ग के सम्बन्ध मे अपने आदर्श-समाज मे प्लेटो ने यह सुझाव रखा कि है कि ये सब कार्य जनता के अधिकारियो को सौपे जाने चाहिएँ। पर वह औद्योगिक-वर्ग के लिए ऐसा सुझाव नही देता, परन्तु कुछ लोग आजकल साधारण सिद्धान्त के रूप मे इसका समर्थन करने को तैयार दिखाई पडते हैं। परन्तु बच्चो को दूसरो को सौपने की यह पद्धति प्रकृति के विरुद्ध दिखाई पड़ती है। माँ-बाप का स्वाभाविक स्नेह, विशेषत माताओ का अपनी सन्तति के प्रति वह स्नेह—जो निम्न वर्ग के जन्तुओ मे आकर्षण होता है, इस बात की सच्चाई को प्रमाणित करता है कि दूसरा कोई भी किसी भी हालत मे उनकी आरम्भिक असहाय अवस्था मे पालन करने मे समर्थ नही हो सकता। यह भी स्वीकार करने की बात है कि कुछ माता-पिता मे यह स्नेह तुलनात्मक रूप में कम होता है और कभी-कभी अन्य लोगो मे, जो माता-पिता नही होते, उनसे भी अधिक मात्रा मे मिलता है। यह भी स्वीकार करने की बात है कि बच्चो के पालन-पोषण के लिए प्राकृतिक स्नेह और सहजवृत्ति ही पर्याप्त मार्ग-दर्शक नही कहला सकते। वे लोग, जिन्होने बच्चो और उनकी आवश्यकताओ के बारे मे विशेष अध्ययन किया है, कई कारणो से उनके साथ व्यवहार करने मे अधिक सफल हो सकते हैं। परन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह बात जीवन के आरम्भिक वर्षो के लिए सामान्यतया लागू हो सकती है। ऐसे प्रश्नो का हल खोजते समय इस बात पर विचार करना ठीक रहेगा कि सामान्य परिस्थितियो मे सन्तोषजनक ढग क्या हो सकता है। असाधारण मामलो पर उनकी स्थिति के अनुसार बाद मे विचार होगा। स्पष्टत: जब माता या पिता या दोनो मर जाते है अथवा भयकर रूप से बीमार या असमर्थ होते हैं, अथवा उनके लिए घर छोडना जरूरी होता है, अथवा बच्चा अपने माता-पिता से स्वभाव मे एकदम भिन्न प्रकृति का होता है, तो ये परिस्थितियाँ असाधारण कहलाती है और उनके लिए असाधारण उपचार की आवश्यकता होती है। परन्तु यह कहना सही होगा कि माता-पिता के ध्यान से रहित कोई भी दूसरा प्रबन्ध उत्तम वैकल्पिक प्रबन्ध नही कहला सकता। यहाँ तक कि जब बच्चे स्कूल जाते हैं तब भी परिवार शिक्षा के बहुत से महत्त्वपूर्ण पहलुओ के लिए प्राकृतिक केन्द्र के रूप मे दिखाई देता है, विशेषत स्वभाव और स्नेह के सम्बन्ध मे।

व्यापक अर्थ मे परिवार शैक्षणिक प्रभाव का एक प्राकृतिक केन्द्र भी है। इससे माता-पिता और बच्चे एक साथ कई विभिन्न तरीको से शैक्षणिक लाभ उठाते है। हम दूसरो को शिक्षा देकर स्वय सीखते है। अविकसित बच्चो को

विचार देने के प्रयास में प्रायः हमेशा समझाने वाले के विचारों का भी परिमार्जन होता है। इसके अतिरिक्त बच्चों के संसर्ग से एक प्रेरणा भी मिलती है—

एक शिशु अन्य सभी उपहारों से महान्।
जिसे भेंट देती है धरती पतनशील मानव को
लाता है, वह अपने साथ आशाएँ और विकासोन्मुख विचार।

यहाँ तक कि जिन्हे ह्रासोन्मुख नहीं कहा जा सकता वे भी शिशु-जीवन के सम्पर्क से अपनी अनुभूति का विस्तार करते हैं। यह उनके लिए जीवनदायिनी चीज होती है, यद्यपि नये जीवन की विचारधारा भी कभी-कभी निराशाओ से धूमिल हो जाती है, परन्तु यह उदार-शिक्षा के अश के रूप मे कभी नही चूकती।

दूसरा महत्वपूर्ण शैक्षणिक प्रभाव अन्तर-पैतृक है। विभिन्न लिंगों में साधारणतः स्वभाव, रुचि और विश्व के दृष्टिकोणों के सम्बन्ध मे कुछ स्पष्ट भेद होते है। प्रत्येक सुव्यवस्थित संगठन में इस प्रकार की भिन्नताएँ रहने पर भी लोग आपसी संसर्ग से बहुत कुछ सीखते है। और इसके साथ ही वे एक प्राकृतिक स्नेह और निकट साहचर्य में बन्धे रहते है। इस में संदेह नही कि इसी कारण से कुछ लोगो में अनजान मे एक-दूसरे से एकदम भिन्न होते हुए भी उनमें एकता का बंधन हो जाता है। सामान्य भिन्नता में भी प्राय यही बात देखी जाती है। हेलम के बारे मे टेनिसन कहता है कि वह बहुत धनवान था और मैं 'बहुत गरीब।' परिवार के इस पहलू का महत्व एक-पत्नी-प्रथा के समर्थन मे एक मजबूत तर्क है। बहु-पत्नीत्व में स्त्री की हीन स्थिति हो जाती है और उसमे व्यक्तिगत घनिष्ठता और बराबरी का साथ नही मिल सकता जो एक-पत्नीत्व मे संभव है। सभावना सदा ही वास्तविकता में परिणत नही होती, इससे यह तर्क असत्य नही हो जाता है। सारांश मे संस्थाओ का मूल्यांकन उनके अधिकाधिक लाभ के आधार पर किया जामा चाहिए।

परिवार के ये पहलू पूर्व-वर्णित सौजिनिकी सम्बन्धी समस्याओं को लेकर प्रस्तुत किये गए है। यह स्पष्ट है कि ये सम्बन्ध, जिनके विषय में हम विचार कर रहे हैं, सरलता से नही बनते। स्विफ्ट का कहना है कि विवाहो का असफल रहना प्रधानतः इस कारण से होता है कि लडकियो को एक परिधि की अपेक्षा एक ताना-बाना बनाना सिखाया जाता है। यह बताना हमारी सीमा के बाहर है कि इन खतरो से मुक्ति कैसे पाई जाए। परन्तु यह कहा जा सकता है कि अन्तर्लिंगी ससर्ग की समस्याओं का एक न्याय युक्त समाधान होना चाहिए, क्योकि उनका बच्चो की सामान्य-शिक्षा में एक महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी स्थान होना है। इस विषय में आजकल काफी ध्यान दिया गया है।

हमे यहाँ इस सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही ।[१]

परिवार के जीवन मे, जैसा हम देख चुके हैं कि आर्थिक पहलू का भी बहुत बडा महत्त्व है। जैसे बच्चो का पालन विशेषत प्रारम्भिक स्तरो मे माता पर आकर पडता है, वैसे ही उनका आर्थिक पोषण पिता पर आधारित होता है। यह बात निम्न वर्ग के प्राणियों के बारे मे भी कुछ अश मे सत्य है। कहाँ तक यह मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक है, यह विभिन्न काल और विभिन्न प्रदेशो के अनुसार बहुत भिन्नतापूर्ण होती है। यहाँ तक कि एक ही काल मे एक ही देश के समाज के अलग-अलग वर्गों मे भिन्नता आ जाती है। कुछ परिस्थितियो मे विवाहो का आयोजन आर्थिक आधारो पर होता है और यदि ऐसा नही भी होता तो भी आर्थिक पहलू का महत्त्व मुश्किल से ही कम हो पाता है। यह भार तभी कम हो सकता है जब राज्य की ओर से माता को दायभाग प्राप्त हो परन्तु इससे समस्या का पूरा हल नही हो पाता।

७. परिवार के आर्थिक-कार्य

परिवार की आर्थिक आवश्यकताएँ कई बार पारिवारिक एकता मे बाधक होती हैं, और वे शैक्षणिक कार्य मे भी बहुत अधिक बाधा उपस्थित करती हैं। जीवन की आदिम परिस्थितियो मे परिवार अपने घर मे या निकटस्थ पडोसी के यहाँ परिश्रम करके काम चला लेता था। परन्तु जीवन की बढ़ती हुई समस्याओ ने आज इसे मुश्किल बना दिया है और यह स्थिति अब इतनी सामान्य नही रही है[२]। आज का जटिल समाज इसकी क्षतिपूर्त्ति यात्राओ की सुविधाओं तथा अन्य सुविधाओ द्वारा पूरी करता है। इन परिस्थितियो मे भी परिवार आत्मनिर्भर नही कहा जा सकता। इसकी पूर्ति के लिए पिता निरन्तर परिवार से दूर रह सकता है, परन्तु परिवार के प्रति उसका जो कर्तव्य है, पारिवारिक जीवन को प्रभावित किये बिना उसमे थोडा भी अन्तर नही पड सकता। माता घर से बाहर काम करने जा सकती है, और साधारणत. यह एक ऐसा दोष है जिसका इलाज होना चाहिए। कई बार आर्थिक ध्येय की पूर्त्ति के लिए बच्चो को भी काम करना पडता है जब कि उनकी शक्तियाँ वृद्धि और शिक्षा के लिए सुरक्षित रहनी चाहिएँ। कुछ भी हो, ऐसी परिस्थितियों मे परिवार अपने शैक्षणिक केन्द्र के पहलू से गिर जाता है।

आर्थिक ढग की एक और कठिनाई पर भी यहाँ ध्यान दिया जाना

---

१. श्री इ० डब्लू० पग की पुस्तक 'आइज आफ दि चाइल्ड' को यहाँ उल्लेखनयी बताया जा सकता है।

२. देखिए 'फैमिली' अ० ८।

चाहिए। पहले हम कह चुके हैं कि 'फिमेलिया' का अर्थ गृहस्थ से सम्बन्धित गुलाम होता था। यद्यपि उसका अब कुछ भी महत्त्व नही रहा है फिर भी इस पुराने ढर्रे के कुछ हल्के चिन्ह आज भी विद्यमान हैं। क्रीत-श्रम, यदि उसका सावधानीपूर्वक ध्यान न रखा जाए, तो साधारणत. पुरानी घृणित प्रवृत्तियो का द्योतक है। अच्छी परिस्थितियो मे अन्य किस्म की सेवाओं की अपेक्षा पारिवारिक सेवा-कार्य मे ये बाते कम होती है, परन्तु यह परिस्थितियो और विशेषत: सम्बन्धित व्यक्तियो पर अधिक निर्भर है। इससे सम्बन्धित घनिष्ठ सम्बन्ध कुछ अशो मे दोनो तरफ ही कष्टकर होता है। कुछ लोगों का सुझाव है कि यह दोष साहचर्य मे आबद्ध घरो में दूर हो सकता है[1] और यह भी स्पष्ट है कि इस विधि को इस समय अधिक व्यापक पैमाने पर प्रयोग मे नही लाया जा सकता है। यह हो सकता है कि पहले कुछ लोग और बाद मे क्रमश. अन्य लोग भी देखा-देखी इसे अपना ले। कम-से-कम यह स्पष्ट है कि जितना कम हम परिवार से संबधित पुरानी अवधारणा का प्रयोग करेंगे और जितना अधिक हम परिवार को प्रेम के सिद्धान्त और शिशु के पालन-पोषण की विचार-धारा पर आधारित करेंगे, उतनी ही उसके वास्तविक ध्येय की पूर्त्ति होगी।

जो बहुत से विचार प्रस्तुत किए जा चुके है उनके द्वारा हम समझ सकते हैं कि परिवार की जड़े अधिकाश मे मानव प्रकृति मे स्थितर हैं, फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी है, जो इसे कमजोर बनाती हैं और कभी-कभी प्रभावहीन भी बना देती है। इन मुख्य-मुख्य कमजोरियों के सम्बन्ध मे यह सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि उनका उनके संघर्षों से सम्बन्ध है जो परिवार और मानव-जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण अगों के मध्य उठ खड़े होते हैं। अन्य प्रधान अंगों मे उद्योग, वाणिज्य राजनीति, भाई-चारा तथा व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाली सस्कृति को लिया जा सकता है। उनमे से प्रत्येक का सक्षेप में वर्णन किया जा सकता है.

८. परिवार की कमजोरियाँ

(क) औद्योगिक पहलू को परिवार की एकता के वाधक के रूप मे हम देख चुके है। बल्कि यह एक परिवर्तित पहलू है, अर्थात् पारिवारिक एकता भी औद्योगिक-विकास मे बाधक है, जिस पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे। परन्तु ये दोनों प्रभाव एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। यदि औद्योगिक कारणो से पारिवारिक एकता मे वाधा पहुँचती है तो यह भी अनिवार्य है कि पारिवारिक एकता औद्योगिक विकास में बाधक होगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्लेटो,

---

१. इस विषय में मिस जे०-एच० क्लेपर्टन के लेखों का उल्लेख किया जा सकता है।

जो परिवार के सामान्य-विश्लेषण में कठोर है, इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे कोई विशेष कठिनाई अनुभव नही करता दीखता। वास्तव मे इससे उसका मतलब यह नही था कि उसके आदर्श-समाज मे औद्योगिक-वर्ग के परिवार का जीवन बाधायुक्त होगा। उसने यह माना है कि सामान्यतया बच्चे अपने माता-पिता के काम-धन्धे का अनुकरण करें। यदि बच्चा छोटी अवस्था मे भिन्न वर्ग वालो के साथ मिला नही दिया जाता तो कम-से-कम वह अपने पैतृक कार्यो से बहुत पृथक न होगा। इस प्रकार वे अपने इन औद्योगिक कार्यो के लिए घर पर तैयार होंगे अथवा शिक्षणार्थी के रूप मे सीखेंगे। आदिम समुदायो और अत्यधिक विकसित देशो के अपेक्षाकृत अल्प-विकसित औद्योगिक क्षेत्रो मे भी यही प्रथा अब भी चालू है, परन्तु औद्योगिक जीवन की प्रगति प्रतिदिन इसकी संभावना को कम करती जा रही है। यह सत्य सिद्ध होता जा है रहा कि कोई भी व्यक्ति किसी विशेष कार्य के साथ संबधित होकर जन्म नही लेता और सभी वृतियाँ सभी नागरिको के लिए खुली हैं। इसे व्यवहार्य बनाने के लिए सामान्य अथवा विशेष प्रकार की उचित शिक्षा उन लोगो को भी दी जानी चाहिए जिनका कार्य औद्योगिक ढग का है, इससे बच्चो के जीवन पर काफी प्रारभिक अवस्था मे घर का प्रभाव हट जाता है और यदि पारिवारिक जीवन में यह सभव न तो परिवार को सहायक की अपेक्षा बाधक माना जाएगा। यह कठिनाई आगे आने वाली कठिनाई से घनिष्ठता से सम्बन्धित है और इसे उसके विशेष पहलू के रूप मे माना जा सकता है, आगे हम उसी पर प्रकाश डालेंगे।

(ख) परिवार और राज्य के बीच सघर्ष उत्पन्न हो सकता है। पारिवारिक जीवन विषयक प्लेटो की आलोचना का मुख्य आधार यही था। उसने कहा कि जो लोग विशेषत राज्य की सुरक्षा और सरकार से सम्बन्धित होते है, उन्हे परिवार के सीमित स्वार्थों से मुक्त कर देना चाहिए। अब और कम-से-कम आधुनिक प्रजातन्त्र मे यह मान लिया गया है कि राज्य के कल्याण के लिए औद्योगिक कार्य का भी उतना ही महत्त्व है जितना सैन्य-शक्ति का। और प्रत्येक व्यक्ति राज्य के लिए योग्य सरकार चाहता है। अत: विभिन्न वर्गो मे बहुत काल तक अधिक भेद नही ठहर सकता परन्तु यह सत्य है कि एक व्यक्ति पर परिवार और राज्य के दावो के बारे मे सघर्ष हो सकता है। राज्य के इस दावे से कि वह अपने नागरिको के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करे जिससे वे विशाल-सामुदायिक जीवन के अपने दायित्व को पूरा करने के योग्य हो सके। परिवार के इस दावे से दोस्तादाजी होती है कि उसके दृष्टिकोण से उस पर पतृक नियत्रण रहना उचित है। इस सम्बन्ध मे परिवार के आवश्यक कर्तव्यो को जान लेना महत्त्वपूर्ण होगा। इस कठिनाई का समाधान

तभी हो जाता है जब इस सिद्धान्त को मान्यता दे दी गई कि माता-पिता का अधिकार परार्शदाता सभासद का-सा है अर्थात् बच्चा राज्य की प्रजा (उसमें भी अंततः आंशिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है।) बनने तक परिवार का अधिपति है।

(ग) मैत्री अथवा साथीपने के दावे भी परिवार की एकता के कुछ प्रतिकूल होते हैं। परिवार विश्व द्वारा रक्षित एक उद्यान के समान है और सदा इस बात का भय है कि वह वनस्पतियाँ रखने के शीशे के मकान का रूप बनकर न रह जाए। विशेषतः ऐसा तब होता है जब आवास की कमी होती है और इन अवस्थाओ में आवास समस्याएँ प्रमुखता ग्रहण करती हैं। मानव की एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में भी मैत्री या साथीपन की इच्छा ही होती है, जो उसे परिवार के संकुचित घेरे से निकाल कर क्लब या अन्य सार्वजनिक स्थान तक ले जाती है[1]। पारिवारिक जीवन और मानव के व्यापक भ्रातृत्वपूर्ण जीवन के दावो के मध्य उचित सन्तुलन खोजना मानव जीवन की महान् कठिनाइयो मे से नही, परन्तु वास्तविक कठिनाई तब आती है, जब दो विरोधी लिंग वालों में मैत्री होती है। ऐसे मामलों मे पारिवारिक सीमाओ पर अनुशासन से दबाव का अधिक भय होता है। इन कठिनाइयो का समाधान मैत्रीपूर्ण समागम के अधिक अवसर प्रस्तुत करना ही है।

(घ) उद्योग, राज्य और मैत्रीपूर्ण समागम के दावो के अतिरिक्त धर्म, कला, विज्ञान और अन्य मानवीय रुचियाँ, जिन्हे सास्कृतिक कहा जाता है, भी कुछ अशो मे परिवार के प्रतिकूल जाती है। कलाकार तो अपने को समाज के बधनों से एकदम मुक्त मानता है। वह परिवार के तुच्छ हितो से सबद्ध होने के कारण अपने को अशक्त पाता है। प्राय आर्थिक आवश्यकताएँ कलाकार की स्वतन्त्र रचनात्मक गतिविधियो को रोक देती हैं और उसके कलात्मक साक्षात्कार मे बाधक बनती है। इसी तरह सन्त पॉल तथा अन्यो ने अनुभव किया कि नैतिक और धार्मिक उन्नति के लिए समर्पणात्मक जीवन सीमित पारिवारिक परिधि मे असंगत है। परन्तु पारिवारिक जीवन से अलग होना भी मानव-जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, संभवतः अन्त मे कलाकार अथवा सन्त लोगो के आदर्शो पर भी परिवार का असर होता है। और यह इस ससार का दुर्भाग्य ही होता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति अपने वशज पैदा नही करते। "हम सुन्दरतम प्राणियो की वृद्धि चाहते है," गाल्टन अपनी पुस्तक 'हेयरडिटरी जीनियस' पृ० स० ३४४-५ मे मध्ययुगीन चर्च के कार्यों द्वारा सभ्यता को जो हानि पहुँचाई गई, उस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण बात कहता है, "चर्च ने पहले सभी सीधे प्राणियों पर

१. इस विषय में चार्ल्स लैम्ब का एक छोटा निबन्ध जो 'घर घर ही है चाहे उसमें घर का सा वातावरण न मिले' नामक उक्ति पर लिखित है, उसका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

आधिपत्य किया और उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत का अभिशाप दिया। दूसरी बार, अपने विशाल जाल मे अतल जल मे मगन मछलियो के समान उन लोगो को पकडा जो अपने विचारों मे निर्भय, सत्यवक्ता और बुद्धिमान थे, इसीलिए उच्च-समाज मे वे एक श्रेष्ठ पिता बनने योग्य थे। चर्च ने उन पर एक रोक लगा दी, यदि वह प्रत्यक्ष रोक न लगा सका तो, उसने उनकी-सन्ततियो के रूप मे उन्हे अवरुद्ध कर दिया। फिर उसने भावी सन्ततियो के सुधार के लिए जिन लोगो का चुनाव किया था, वे दुष्ट, उदासीन और मूर्ख निकले।" यह संभव है कि गाल्टन महोदय के इस कथन मे कुछ अतिरजन है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि वर्तमान-काल मे पादरियो के लडके-लडकियो ने कितने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं और इसी से समझा जा सकता है कि धर्माचार्यो को जबरदस्ती ब्रह्मचारी रखने से ससार को कितनी हानि उठानी पडी। पर यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उनके इस जीवन से हमे बहुत-कुछ लाभ भी हुआ। उन्होने मध्ययुग मे अपने एकाकी चिन्तन और अपने बलिदान द्वारा हमे बहुत लाभ पहुँचाया है।

इस प्रकार की इन कठिनाइयो पर चिन्तन के कारण ही आधुनिक विचारक और प्लेटो जीवन की स्वतन्त्र-प्रणाली खोजने को विवश हुए। रसेल महोदय इस प्रकार के प्रस्तावो के पहले प्रचारक हैं[1]। परन्तु जाति प्रथा के कारण विभक्त समाज की भिन्नता को देखते हुए ऐसा नही हो सकता कि सबके लिए प्रथाएँ और कानून पृथक् हो। शायद जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त विभिन्न दशाओ का एक सामान्य सरलीकरण सन्तोषप्रद सुलभाव प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु हम इसका अन्यत्र कही वर्णन करेंगे। कुछ भी हो, जैसा श्रीमती बोसाके कहती है[2], "यदि ससार मे परिवार नही होता और उसके बिना यह ससार चलता भी रह सकता, तो भी वह परिवार से प्राप्त होने वाली विशेषताओ का अभाव न सह सकता था। जैसा भी यह एक धूमिल ससार है, इसकी कोई भी प्रतिच्छाया या अनुभूति की रेखा, जो इसकी गहराई, पृथकता और वैभव का निर्माण करती है, को इससे पृथक् नही किया जा सकता। इसी तरह यदि प्रेम और सौन्दर्य और प्रकाश के पुञ्ज परिवार को इसलिए ही अस्वीकार किया जाता है कि वह कभी-कभी असफल होता है तो इस तरह से आकाश से सूर्य को समाप्त करना होगा, जो कभी कभी बादलो से ढक जाता है।"

---

१. इनकी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ सोशल रिकन्स्ट्रक्सन' अ० ६ देखिए।
२. 'फैमिली' पृ० सं० २४६।

द्वितीय अध्याय

शैक्षणिक संस्थाएँ

शिक्षा का अर्थ व्यापक व सीमित रूप से समझा जा सकता है। व्यापक अर्थ मे यह एक ऐसी क्रिया है जो जीवन-भर चलती रहती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से इसके भण्डार मे वृद्धि होती है।

१. शिक्षा का सामान्य महत्त्व

शिक्षा को जीवन का मुख्य साध्य भी कहा जा सकता है[1]। इस तरह शिक्षा का अर्थ एक ऐसी सामान्य प्रक्रिया से लिया जाता है, जिससे व्यक्तित्व का विकास होता है तथा जिसके द्वारा व्यक्ति पारस्परिक, और इस विश्व में जहाँ वे रहते है, सम्बन्धों की जानकारी करते है। शिक्षा की इस व्यापक अवधारणा पर प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे अधिक जोर डाला गया है। प्लेटो के उस विवरण से स्पष्ट है कि जो लोग उसके आदर्श-समुदाय के उच्च-पदो पर आसीन होगे, उनका निर्माण और विकास किया जाए। परन्तु आधुनिक विचारकों की यह मान्यता है कि विशेष प्रकार के व्यक्तियो के लिए भी शिक्षा की कोई विशेष-पद्धति निकाल लेना सभव नही और पूरे समाज के लिए तो और भी कम संभव है।

शिक्षा को इन व्यापक अर्थों मे समझने के बाद अब हम समझ सकते हैं कि उसका अधिकतर भाग अथवा कभी-कभी महत्वपूर्ण अश भी—हमे अनजान मे ही प्राप्त हो जाता है। शिक्षा हमे अपने जीवन की समस्याओ के समाधान, प्रकृति के प्रभाव और सुझावो, दूसरे साथियों के साथ व्यवहार तथा प्रायः अपनी असफलता और कष्टो द्वारा प्राप्त होती है।

सीमित अर्थ मे, शिक्षा का अर्थ हमारी शक्तियो के विकास और सुधार के लिए चेतनापूर्वक किये गए प्रयासो से लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, गेटे अपना प्रधान उद्देश्य अपनी पूर्ण-शक्तियो के पूरी तरह से अनावरण, अर्थात् उन्हे प्रकट करना ही समझते थे। सभवत उनका वह प्रधान उद्देश्य

---

१. शिक्षा के इस पहलू पर इसी पुस्तक में आगे आने वाले खण्ड २, अ० २ में प्रकाश डाला गया है।

जीवन-भर चलता रहा। शेक्सपीयर भी, वास्तव मे अधिक विकास और पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता था, पर ऐसा दीखता है कि उसका यह विकास स्वतः अचेतनतापूर्वक ही सभव था। डीवे ने शिक्षा के लिए 'साभिप्राय' शब्द का प्रयोग किया है। इससे वह अचेतनतापूर्वक तथा एक विशेष निश्चित उद्देश्य से प्राप्त की गई शिक्षा मे अन्तर उपस्थित करता है। परन्तु चेतनापूर्वक किये गए आत्म-सुधारों का, जैसा कि गेटे महोदय ने किया था, आम तौर से शिक्षा के रूप मे वर्णन नहीं किया जाता। 'शिक्षा' शब्द सामान्यत. एक ऐसी प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे राज्य या परिवार अथवा अन्य किसी शक्ति के द्वारा अपने बच्चो के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चेतना-पूर्वक आयोजित किया जाता है। उनका यह उद्देश्य बच्चो के व्यक्तित्व का सुधार कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता। यहाँ शिक्षा को उसके सीमित अर्थ मे प्रयोग करना ही उचित होगा, जिससे निश्चित सामाजिक सस्थाओ का प्रादुर्भाव होता है। इसके व्यापक अर्थों पर अन्यत्र विचार करेंगे।

जब हम शिक्षा को इस सीमित अर्थ मे लेते है तो इसका सामाजिक-महत्त्व इसे परिवार से राज्य को देने अथवा उस विशाल जन-समुदाय के हाथ मे सौंप देने मे समझा जाता है, जिस समुदाय का बच्चे को सदस्य बनना होता है। साधारणत. आरम्भिक शिक्षा परिवार मे ही दी जाती है और अधिक ज्ञानार्जन के लिए बच्चे को शाला और उसके बाद विद्यालय को सौंप दिया जाता है। शिक्षा यदि व्यक्तिगत रूप से दी जाती है तो भी बहुत कुछ अशो मे उसके लक्ष्य और विधियाँ स्कूल और कॉलेजो की तरह ही होते हैं। जैसे हम पहले प्रकट कर चुके हैं कि परिवार में बच्चा एक अधिपति के समान होता है, परन्तु विशाल जन-समुदाय उसे एक सेवक बनाने का प्रयास करता है, यद्यपि आगे चलकर वह अकस्मात् उनका एक स्वामी अथवा मार्ग-दर्शक बन सकता है।

शिक्षा के लक्ष्य और उसकी प्रणालियो के बारे मे विस्तृत विवेचन उन लोगो के लिए छोड दिया जाना चाहिए जिन्होने इस विषय का विशेष अध्ययन किया है। सगठित समुदाय मे शिक्षा कार्यो के सामान्य सर्वेक्षण को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

शाला का मुख्य कार्य बच्चे को एक बडे समुदाय मे प्रवेश के लिए प्रारभिक तैयारियाँ करवाना है। बच्चो की प्रकृतियाँ भी वयस्को की तरह आपस मे बहुत

२. शाला के कार्य

अधिक भिन्न होती हैं। इस बारे मे एक सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा सकता है, जो उचित भी हो सकता है और कुछ लोग जिसे अस्वीकृत भी कर सकते हैं। प्रोफेसर ड्यूई तथा कुछ अन्य विद्वानो ने इस बात का उचित ही विरोध किया है कि एक बच्चा प्रकृति मे अहवादी होता है। दूसरी तरफ,

बच्चों की बड़ाई भी अतिरजित रूप से की गई है। यह सिद्धान्त कि "शैशव मे बच्चे के आस-पास स्वर्ग होता है," वास्तव मे प्लेटो की उस अवधारणा का बिगड़ा हुआ रूप है, जिसमे शिशु का इस विश्व मे अपरिमित शक्तियों को लेकर आने का वर्णन किया गया है। बच्चे मे एक मोहक भोलापन होता है और आस-पास की प्रत्येक वस्तु को सराहने की तत्परता होती है, परन्तु यह कहना कठिन है कि उसमें सर्वहित की सुनिश्चित अवधारणा उपस्थित होती है। ऐसा प्रतीत होता है और सामान्यतया यह सोचना सत्य है कि बच्चे मे कम या अधिक कुछ न कुछ निरंकुश वृत्तियाँ होती हैं। उसे एक सवैधानिक सम्राट् के योग्य बनना होता है साथ ही क्रमश. दूसरो के साथ बराबर का नागरिक भी बनना सीखना पडता है। दुर्भाग्य से उसे यह वात प्राय. बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था मे और बहुत जल्दी सिखा दी जाती है। कभी-कभी तो उसे दास बनना भी सिखा दिया जाता है और उसकी जन्मजात अपरिमित शक्तियों को दवा दिया जाता है। यह एक प्रकार से राज-द्रोह जैसा अपराध है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि बच्चे को केवल अकेला ही छोड देना चाहिए और उसे स्वतः एक पुष्प की तरह अपना विकास करने दिया जाए। परन्तु उसे दाय मे मिलने वाला ज्ञान दिया जाना चाहिए जिससे वह साधारण जीवन मे क्रमशः हिस्सा बँटा सके। इस बात के लिए उसे अपने लोगों की भाषा को सीखना पडता है, 'जिसमे उनका ज्ञान उनकी सूझ, उनके उद्देश्य और उनके आदर्श, और दुर्भाग्य से उस समुदाय के अविचार और सीमाएँ भी झलकती है।' यह स्पष्ट है कि यह दाय धीरे-धीरे ही अर्जित किया जाता है। बच्चो को ज्ञान मानव-मस्तिष्क के क्रमिक विकास के परिमार्जित अध्ययन द्वारा ही दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक विशेष आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूतियुक्त सूझ का प्रयोग किया जाना चाहिए। निस्सन्देह यह सर्वत्र मान लिया गया है कि इससे कुछ अंशो मे वर्गो के आकार सीमित होगे। यह भी पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि बच्चो को उनके प्रारम्भिक जीवन मे उनके सम्प्रदाय की सरलतम और श्रेष्ठतम परम्पराओ का ज्ञान भी करवा दिया जाना चाहिए। सब से पहले उनके सामने सुन्दर और मधुरतम बाते रखी जानी चाहिएँ। प्लेटो ने इसके लिए प्रारम्भिक शिक्षा मे सगीत और काव्य के प्रयोग पर बल दिया है। यद्यपि उसका सुझाव होमर की अतिशयोक्तिपूर्ण कविताओ की ओर था (जो सभवत अति गम्भीर भी नही मानी जाती तथा जो अब असामयिक हो चुकी है)। अब तो उनके लिए कुछ अशो मे इस प्रकार की सरल कविता प्रस्तुत की जानी चाहिए, जिस तरह की कविता वर्डस्वर्थ तथा अन्यो की है। बच्चो के लिए कुछ परियो की कहानियाँ भी प्रस्तुत की जानी चाहिएँ, जो आधुनिक-साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे बिखरी पड़ी है। एक पुरानी कहावत "मुझे अपने लोगो के लिए

एक गीत बनाने दो, जो उनके द्वारा एक नियम का रूप धारण करेगा," इसमें काफी गहरा अर्थ छिपा है । यदि किसी सुन्दर विचार अथवा गहरी अनुभूति को सुन्दर कहानी अथवा अमर कहावतो का रूप दिया तो वे सीधी हृदय मे पैठ जाती है, घर कर लेती है, स्मृति मे घूमती रहती हैं और शाश्वत आनन्द को प्रदान करती और सम्पूर्ण जीवन के लिए एक प्रेरणा बन जाती है। दूसरी तरफ, नियमो, जो लोगो की श्रेष्ठ परम्पराओ को स्थिरता और निश्चयात्मकता प्रदान करते है, का भी अत्यधिक महत्त्व है। उन नियमो को भी बच्चे के 'सरल हृदय पर, पुस्तक हाथ मे लेने के समर्थ होने के पहले ही, अंकित कर दिया जाए ।

धीरे-धीरे बच्चे को अपने आस-पास के वातावरण के साथ अपने सम्बन्धो की जानकारी अच्छी तरह करवा देनी चाहिए। इसके उपरान्त उसे प्रकृति के महत्त्वपूर्ण अध्ययन की ओर प्रवृत्त करना चाहिए । निश्चय ही उसके मस्तिष्क के विकास के लिए यह अत्यधिक आकर्षक प्रणाली होगी। प्रारम्भ का निरीक्षण शीघ्र ही चिन्तन का रूप धारण कर लेता है और फिर बच्चे को मानव-प्रकृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त करता है। इससे उन पर शीघ्र ही नागरिक प्रश्नो और नैतिक दायित्व स्पष्ट हो जाते है और धीरे-धीरे मानव-इतिहास की विशेषताओ की जानकारी बढने लगती है। इतिहास मे रुचि से बच्चे उन लोगो की भाषा की जानकारी के लिए प्रयत्नशील होते हैं—जिन्होने ऐतिहासिक विकास मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

इन बातो के साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बच्चा जिन बातो का अध्ययन करता है, उनका प्रयोग करना भी सीखे, उन्हे अपने काम मे भी लाए, उन्हे जाने तथा उनका मूल्याकन करे। इसके बाद वह प्राकृतिक पदार्थो को चित्रित करना सीख सकता है। वह स्वय कुछ सरल कहानियो की रचना करना भी सीख सकता है। वह वर्णनात्मक-लेख लिख सकता है, समस्याओ पर चिन्तन कर सकता है और वह कुछ ऐसी वस्तुओं का निर्माण कर सकता है जो सुन्दर भी हो और उपयोगी भी। बच्चे को आवश्यक शारीरिक व्यायाम और मनोरजन के कुछ साधन भी प्रदान करना भूलना न चाहिए। उनसे वह सहयोग का महत्त्वपूर्ण पाठ भी सीखेगा।

वह जैसे-जैसे विश्लेषणात्मक चिन्तन के अधिक योग्य होगा वैसे-वैसे वह स्वय उन विषयो को समझने लगेगा जो मानव-जीवन और उसके चारो ओर के ससार व गुत्थियो को सुलझाते जाएंगे। वे विषय हैं—व्याकरण, अकगणित, रेखागणित, और इसके उपरान्त कुछ प्रारम्भिक तर्क-शास्त्र, सरल-नैतिक अवधारणाएँ अर्थशास्त्र व राजनीति-शास्त्र तथा धार्मिक विचारो की वह सूझ—जिसके द्वारा कुछ महापुरुषो ने इस विश्व का जिसमे हम रहते हैं,

व्याख्या की है आदि विषयो मे धीरे-धीरे बच्चा स्वयं ही रुचि लेने लगेगा। मेरा विचार है जब तक उसमे विभिन्न पक्षो पर तर्क करके मूल्यांकन की शक्ति परिपक्व नही हो जाएगी, तब तक वह किसी धार्मिक मत अथवा राजनीति के सामान्य मत को स्वीकार नही करेगा, परन्तु इसमे सन्देह नही है कि परिपक्व हुए बिना भी वे उनके विषय मे अपनी राय कायम करते जाएँगे और इस तरह कुछ भी हानि न होगी।

फिर यह बात बडे महत्त्व की है कि जैसे-जैसे लडके और लडकियाँ किशोरावस्था मे आएँ उन्हे विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित कठिनाइयों और पारिवारिक जीवन की सामान्य समस्याओ की कुछ जानकारी देनी चाहिए। प्रकृति और मानव-इतिहास के अध्ययन और अपने चारो तरफ के जीवन का निरीक्षण इसके लिए अच्छी तैयारी सिद्ध होगे।

इस प्रकार की शिक्षा से यह आशा की जा सकती है कि कम-से-कम जिनका जन्म ठीक तरह हुआ है, उनका पोषण भी ठीक ढग का होगा, परन्तु जो जन्म के सम्बन्ध मे कम भाग्यशाली है, ज्ञान और बुद्धिमता के प्रति प्रेम और सौन्दर्य का मूल्याकन तथा सामान्य हित के प्रति समर्पण की कुछ भावनाएँ अर्जित कर सकते है। मेरा विचार है कि सभ्य-समुदाय का नागरिक बनने वाले को इतना तो जानना ही चाहिए और उसे यह सब कुछ सरलता से प्राप्त होना चाहिए। परन्तु इस विपय से सम्बन्धित विभिन्न तत्वो पर किस क्रम और किन प्रणालियो से विवेचन किया जाए, यह हमारे विषय की सीमा के बाहर की वात है।

यह माना जा सकता है कि पूर्व-वर्णित सक्षिप्त शिक्षण के सहारे बच्चा अपने एक विशेष समुदाय मे एक अच्छे नागरिक के रूप मे अपने कर्त्तव्यो का निर्वाह करना सीख लेगा। परन्तु अच्छा नागरिक साधारण ढग से ही अच्छा नही होना चाहिए, उसे कुछ विशेष ढग से भी अच्छा होना चाहिए। इसलिए उसकी सामान्य-शिक्षा के साथ विशेष तकनीकी शिक्षण भी होना चाहिए, जिससे वह उस विशेष कार्य के लिए तैयार हो सके, जो उसकी प्राकृतिक योग्यता और परिस्थितियो के अनुसार ठीक वैठता है। अनेक मामलों मे यह खोज निकालना सरल नही होता, और स्पष्टतः नितान्त वाल्यावस्था मे उसको खोजने का प्रयास भी नही करना चाहिए। यह आवश्यक है कि सभी को पर्याप्त काल तक शिक्षा मिले। जो उससे लाभ न उठा सके उनकी दूसरी बात है। तकनीकी शिक्षा के लिए आवश्यक तैयारी शिक्षा के किसी-न-किसी रूप मे कराई जानी चाहिए। लड़कियों की यह तैयारी घर पर ही हो। यदि आवश्यकता हो तो विशेष हस्त-कौशल-

३ तकनीकी शिक्षा

सम्बन्धी आवश्यक जानकारी भी बचपन मे ही प्राप्त कर लेनी चाहिए।[1] जो बालक संगीत मे विशेष रुचि रखते हैं वे तो इस का परिचय बहुत छोटी आयु मे ही देने लगते हैं। इस प्रकार से अभिरुचि खोज कर शिक्षा की सामान्य-पद्धति मे सुधार किया जा सकता है। प्रत्येक अच्छी पद्धति मे एक लचीलापन होना चाहिए जो कि उसके लिए आवश्यक तत्व है।

अब तक जिस शिक्षा की रूप-रेखा दी गई है, वह किसी-न-किसी रूप मे सभी नागरिको के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार उसके प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। बालक जिन कार्यों मे अपने-आपको ठीक बैठा पाते है वे कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है, भिन्न-भिन्न स्तरो पर लगने वाला समय भी कम या अधिक हो सकता है। सम्भवत यह मान लेना चाहिए कि अब तक जिस प्रकार शिक्षा के विषय मे विचार किया गया है वह सोलह वर्ष की अवस्था से पूर्व समाप्त नही होनी चाहिए और साधारणत बीस वर्ष की आयु मे अधिक ऊपर नही जाना चाहिए। और जो ऐसे कार्यों के जैसे, ज्ञान का प्रसार, कलात्मक कृतियो, अधिक जटिल विज्ञानो का तकनीकी समस्याओ मे प्रयोग, जिनमे विधि और चिकित्सा भी सम्मिलित है, विभिन्न पहलुओ से अध्यापन कार्य अथवा प्रशासकीय आदि कार्यों के लिए अधिक तैयारी करना चाहते हैं उन्हे विद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा और पूर्व-वर्णित शिक्षा के प्रारम्भिक रूपो को ध्यान मे रखना महत्त्वपूर्ण है।

४. उच्च-शिक्षा

दुर्भाग्य से स्कूल, तकनीकी सस्थाओ, विद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे स्पष्टत. भेद प्रस्तुत नही किया गया है। जर्मनी की शिक्षा-पद्धति को अधिक सरलता से ग्रहण किया जा सकता है और सम्भवत जापान की नव शिक्षा-योजना अब तक की सभी योजनाओ मे पूर्ण है।[2] हम यहाँ विभिन्न देशो और किसी एक देश के विभिन्न भागो की विभिन्न पद्धतियो पर विचार नही कर

---

१. आधुनिक अनुभव इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता दिखाई पड़ता है कि जिनकी सामान्य-बुद्धि अच्छी तरह से विकसित होती है, वे लोग दूसरे साधारण लोगों की अपेक्षा अपने आप को विभिन्न कार्यों में अच्छी तरह समायोजित कर लेते हैं। विशेष तौर पर कलात्मक कार्यों के उच्चतर रूपों में और गणित सम्बन्धी आकलन पर आधारित उद्योगों में विशेष प्रकार की विशाल तैयारियों की आवश्यकता पड़ती है। सामान्यत: का समायोजनात्मक-बुद्धि को उत्पन्न करना बहुत महत्त्व का कार्य है।

२. श्री आर० पी० पोर्टर की पुस्तक 'जापान, दि न्यू वर्ल्ड पावर' अ० ६ देखिए। श्री बेरन कीकुची की पुस्तक 'जैपनीज़ एजूकेशन' भी देखें।

सकते ! परन्तु इन पद्धतियों मे से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति की ओर संकेत करने का प्रयास किया जाएगा।

कालेज, कुछ अशो मे या पूर्णत: तकनीकी-शिक्षण देने की सस्थाएँ होती हैं और जिन्हे विश्वविद्यालय सम्बन्धित कालेज कहा जाता है, वे भी इसी तरह के शिक्षण अपने कार्य मे सम्मिलित करते हैं। हम इस तरह के शिक्षण-कार्य को उससे सम्बन्धित बता सकते है जिसका पहले वर्णन कर चुके हैं और विश्वविद्यालय कालेजो को मूलत: और तत्वत: इससे नितान्त भिन्न समझना ठीक रहेगा। विश्वविद्यालय को परीक्षा लेने वाली संस्था से कुछ ही अधिक समझा जाता है। जर्मनी मे उसका भिन्न अर्थ लिया जाता है, वहाँ विश्वविद्यालय एक ऐसी संस्था है जो विशेष प्रकार की शिक्षा भी देता है, यहाँ तक कि वहाँ की शिक्षा आक्सफॉर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से भी बहुत अंशों मे भिन्न होती है।

मेरा विचार है कि विश्वविद्यालयो से सम्बन्धित कालेजों का प्रमुख कार्य एक ऐसी उदार-शिक्षा देना है जो स्कूलों से उच्चतर होती है। ऐसी शिक्षण संस्थाओं मे छात्रो की साधारण आयु अट्ठारह और इक्कीस वर्ष के बीच होनी चाहिए। वहाँ का अध्ययन स्कूलो की अपेक्षा विशिष्ट होता है, परन्तु उसका लक्ष्य विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा सामान्य ज्ञानार्जन ही अधिक होता है। सारांश मे उनका निर्माण उन छात्रों के लिए किया जाता है जिन्हे अपने सामुदायिक जीवन मे किसी प्रकार का नेतृत्व करना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि यहाँ स्कूलो की अपेक्षा मानव-जीवन की सामान्य समस्याओं का पूर्ण अध्ययन किया जाए और समझा जाए। दर्शन और सामाजिक-विज्ञान की प्रमुख समस्याओं का सामान्य अध्ययन इस प्रकार की शिक्षा का प्राकृतिक रूप से आवश्यक भाग है। जापान, फ्रास और कुछ अन्य देशो मे इसकी आवश्यकता को समझा गया है। इग्लैड में इसकी अवहेलना की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ऐतिहासिक-विकास की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि उन्हे भी छड़ोना उचित नही। और किन विषयो का विशिष्ट अध्ययन किया जाए यह व्यक्तिगत रुचि पर छोड दिया जाए और इस अध्ययन मे भावी जीवन मे अपनाये जाने वाले विशिष्ट कार्य का ध्यान रखा जाए।[1]

---

१. यह पैराग्राफ जे० स० 'मैकन्जी महोदय ने प्रो० बर्नें की पुस्तक हॉयर एजूकेशन एंड वार' के देखने से पूर्व ही लिख दिया था। बर्नें महोदय का सुझाव उनकी इस पुस्तक में (विशेषतः पृ० सं० १६७ में) है कि कालेज और विश्वविद्यालय में भेद करना आवश्यक है और अच्छा भी है जैसा कि साधारणतः अमेरिका में किया जाता है। कालेज का काम सामान्य-संस्कृति की शिक्षा देना है और विश्वविद्यालय

सही अर्थों मे विश्वविद्यालय विशिष्ट-अध्ययन के लिए है और इक्कीस से पच्चीस वर्ष की आयु के छात्रों को किसी विशेष-कार्य मे योग्य बनाना है। इस ओर हम पहले ही सकेत कर चुके हैं। विश्वविद्यालय का कालेज के साथ सम्बन्ध उच्चस्तर पर ठीक उसी प्रकार का होता है जैसा तकनीकी शिक्षरण संस्थाओ का स्कूल के साथ। विश्वविद्यालय का कार्य विद्यार्थी को केवल सभी प्रकार का ज्ञान तथा नैपुण्य प्रदान करना है जो उसके विशेष विभागो मे प्राप्य है, तथा आगे की प्रगति के लिए तैयार करना होता है। यह मानना पडेगा कि हमारे देश मे ऐसी सस्थाएँ नही जो निश्चित और विशेष रूप से इन सब लक्ष्यों की पूर्ति करें जिन्हे हम विश्वविद्यालय कहते हैं। वहाँ अनेक ऐसे कार्य मिलेंगे जो प्राय विश्वविद्यालयो, कालेजो, तकनीकी सस्थाओ और यहाँ तक कि स्कूलो मे होते हैं और वे भी योग्यतापूर्वक सम्पन्न नही हो पाते। परन्तु अब सुधार के कुछ चिन्ह दिखाई देते हैं। और मैं उस व्यवस्था की ओर सकेत कर रहा हूँ जो हमारा लक्ष्य होना चाहिए[1]। यह ध्यान मे रखना उपयुक्त होगा कि यदि शिक्षा का अर्थ सामान्य-विकास और व्यक्ति की मन.शक्ति का प्रादुर्भाव करना है तो इससे स्कूल और कालेज ही विशेषतः सम्बन्धित हैं। तकनीकी सस्थाओ और विश्वविद्यालयो, व कालेज मे शिक्षा के विशेष प्रकारो और प्रशिक्षरण तथा शिक्षा के विशेष विभागो मे अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना है। ये दोनो उद्देश्य स्पष्टत पृथक्-पृथक् होते हैं और आपस मे सम्बद्ध करने से सभ्रान्ति हो सकती है।

हम देख चुके हैं कि विभिन्न सस्थाओ द्वारा दी जाने वाली शिक्षा जीवन की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले शैक्षरिणक प्रभावो का केवल एक भाग मात्र होती है। परन्तु यदि शिक्षा को इतने विशाल अर्थ मे न लेकर यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि शिक्षा का एक विशाल रूप-सभवत. प्रमुख रूप ही—जिसे शैक्षरिणक सस्थाएँ प्रदान करती हैं, किसी विशेष-अध्ययन मे प्राप्त होने वाले

५. पूरक-शिक्षा

का काम विशिष्ट ज्ञान और प्रशिक्षण देना। उन्होंने कालेज को विश्वविद्यालय और स्कूल से अलग करने के लिए जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे बहुत ही सराहनीय और समयोचित हैं। कुछ अमेरिकन लोग आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज को भी विश्वविद्यालय की अपेक्षा कालेज कहना ठीक समझते हैं, क्योंकि वह केवल स्नातकोत्तर अध्ययन की सुविधा ही प्रदान करते हैं। परन्तु निस्सन्देह उनका यह विचार अतिरंजित है।

१. प्रो० बर्न्स की पुस्तक जिसका उल्लेख अभी कर चुके हैं, में मुख्य रूप से कालेज के महत्व पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। परन्तु मेरा विचार है कि यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हमारे यहाँ वास्तविक विश्वविद्यालय भी हों जिनमें अनुसंधान के कार्य बहुत अच्छी तरह से चलते हों।

उनके सुझाव व मार्ग-दर्शन मे है। जब वे ऐसा करने मे असफल रहती है तो लाभप्रद होने की बजाय अधिक हानिप्रद होती हैं। स्कूल मे बाइरन द्वारा होरेस पढ़ने का परिणाम यह निकला कि उसने फिर कभी होरेस को पढना ही नही चाहा। यह भी संभव है कि इस तरह के और अनुभव भी देखने मे आए हो। दूसरी तरफ अच्छी शिक्षा निरन्तर अध्ययन जारी रखने की इच्छा जागृत करती है। जिनके पास पर्याप्त अवकाश और साधन हैं, वे यह काम बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं, परन्तु जिनके पास अवकाश और साधनो की कमी है उन्हें आयोजित शिक्षा के समाप्त हो जाने पर एक निश्चित-काल तक अध्ययन व मार्ग-दर्शन की आवश्यकता रहती है। इसकी विशेष आवश्यकता तब पड़ती है जब उन्हे अपनी शिक्षा को समय से पूर्व ही बीच मे छोडना पड़ता है अथवा वह दोष पूर्ण होती है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति विशिष्ट अवधि के स्कूलो, विश्वविद्यालय-विस्तार-भाषणो, कर्मचारियो के शैक्षणिक संघो, अध्ययन मण्डलो तथा होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी जैसे पुस्तकालयो से प्राप्त होने वाली सरल पुस्तको आदि अन्य अभिकरणों से की जानी चाहिए।

शिक्षा के बारे मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार भी ध्यान मे रखना चाहिए। हम शिक्षा को एक अच्छे नागरिक के विकास, समाज मे अपने उपयुक्त स्थान को ग्रहण करने और अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति का उपकरण मानते है। इस तरह की तैयारियों के महत्त्व को अतिरंजित किया जा सकता है। शायद अत्याधुनिक-पाठक अवश्य ही यह सोचेंगे कि, प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे इसका अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन हुआ है। सुकरात को नाटकीय-प्रदर्शन के विरुद्ध कहा जाता है। उनका कहना है कि इस तरह के प्रदर्शन व्यक्ति को विभिन्न पात्रो के रूप मे काम करने की आदत डालते है, जबकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने एक विशेष कार्य को पूरा करना है। इसमें कोई सदेह नही है कि कभी-कभी हमे इस बात पर दृढ रहना पडता है। गेटे ने कहा है, "जो मनुष्य अपने-आपको किसी काम मे निपुण बनाना चाहता है उसे अपने आपको सीमित बनाना सीखना चाहिए।" सभवत. यह बात वीर एथेन्स वासियो के लिए चेतावनी के रूप मे कही गई हो और शायद यही स्वभावतः प्लेटो और गेटे-जैसे बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्तियो के मन मे उदित हुई हो। परन्तु बहुत-से लोग विस्तार की अपेक्षा आकुचन के समय भूल कर सकते है। आराम करने की आवश्यकता ही व्यक्ति को अधिक सयमित होने से रोकती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि नागरिक एक-दूसरे को समझें, वे एक-दूसरे के कार्य की सराहना करें और एक-दूसरे की कठिनाइयो के समय सहानुभूति प्रदर्शित करे। अत सामाजिक समागम के अनेक रूपों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता, उनमे से नाटकीय-प्रदर्शन का भी एक उचित स्थान है। उसमे सबमे अधिक

महत्त्वपूर्ण वस्तु मनोरजन है परन्तु कुछ ऐसी दिशाएँ हैं कि उसे एक निश्चित आयोजन के रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक समाज के विभिन्न वर्गों मे बहुत अधिक पृथकता आ जाती है। प्लेटो के आदर्श समुदाय मे भी औद्योगिक और अन्य वर्गों के बीच मे एक बहुत बडी खाई है। आधुनिक समुदायो मे भी दिमाग से काम करने वाले तथा जिन्हे ऐसा अवसर नही मिलता, के बीच मे बहुत बड़ी खाई है। अतः शिक्षा का यह एक महत्त्वपूर्ण तत्व होना चाहिए, कि वह विभिन्न वर्गों के मध्य सद्भावना पैदा करे। विश्वविद्यालय का विशेष रूप से यही उद्देश्य होता है और धार्मिक सगठनो का भी यही लक्ष्य होता है तथा कला के कुछ रूप भी यही कार्य करते हैं। परन्तु कही अन्यत्र इनका वर्णन अधिक उपयुक्त होगा![1] इसी बीच मे अवकाश का शिक्षा मे क्या स्थान है, इस पर कुछ विवेचन करना लाभप्रद होगा।

६ शिक्षा और अवकाश

यह की महत्त्व की बात नही कि 'स्कूल' और 'स्कालर' (Scholar=विद्वान्) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'लैजर' अर्थात् अवकाश के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले शब्द से हुई है। हमे जीवन के सक्रिय व्यापार के समय अनजाने मे शिक्षा मिलती रहती है, परन्तु चेतनावस्था मे प्राप्त की गई शिक्षा मे साधारणत इस तरह के कार्य के प्रति विरक्ति भी छिपी रहती है। योग्यता अवकाश के क्षणो मे प्राप्त होती है।[1] आयोजित शिक्षा पाता हुआ बालक कठिनाई से ही उस समय नागरिक कहलाता है। उसे अभी कोई ऐसा स्थान नही मिला है कि वह अपने समुदाय की सेवा कर सके। सामान्यत यह सत्य है कि अपना स्थान प्राप्त करने के उपरान्त भी यदि वह अपने शैक्षणिक-विकास को चालू रखता है (यदि समाज मे उसका स्थान एक शैक्षणिक ही है) तो उसे अपने उस स्थान के विशेष कर्त्तव्यो से कुछ अवकाश निकालना होगा। और इससे आगे, जैसा हमने अभी देखा, यह महत्त्वपूर्ण है कि जो शिक्षा उसे अवकाश के समय मिलती है वह उसकी विभिन्नता के विशेष कार्यों से सम्बन्धित नही होनी चाहिए। अवकाश ऐसा एकान्त समय, जिसका शैक्षणिक विकास मे प्रयोग उचित हो, सरलता से प्राप्त नही होता। यहाँ तक कि जीवन के प्रारम्भिक सालो मे भी मार्ग मे बाधाएँ आ जाती है। अतः शिक्षा यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि प्रत्येक नागरिक के लिए स्वतः सिद्ध अधिकार की चीज है, जिनके पास अवकाश है। यहाँ तक कि प्लेटो ने भी इसका समर्थन किया है। इस अवकाश के

---

१. देखिए, इसी पुस्तक का खण्ड ३, अ० ३।

समय का एक बहुत बडा महत्त्व है, जिसका अर्थ निश्चय ही आत्मर्म-लक्ष्यों को पाना है और वह लगातार परिश्रम करने वालों के जीवन से एकदम दूर है। लगातार परिश्रम बहुत अधिक गुलाम अथवा निम्न श्रेणी के लोग करते हैं और मुश्किल से ही वे मनुष्य कहलाने के अधिकारी होते हैं।

परन्तु इसका भाव यह भी नही है कि निरन्तर श्रम करने वालो ने कुछ सीखा ही नही, परन्तु भाव यह है कि उन्होने केवल वही सीखा जिसकी उन्हे तुरन्त आवश्यकता होती है। स्वतन्त्र मनुष्य की विशेषता यही है कि वह तुरन्त लाभदायक को नही सीखता। इससे संस्कृति और उपयोगिता मे विरोध उत्पन्न हो जाता है। शिक्षा का आलकारिक पक्ष उपयोगिता वाले पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक पुरुष जो "भद्र और विद्वान् है" वह उनसे भिन्न और विशिष्ट है जो न भद्र है और न विद्वान्। वह कभी-कभी अपने इस वैशिष्ट्य पर गौरव अनुभव करता है। यह उन स्थितियो में से है जिन्हे श्री वेबलेन ने "प्रतिष्ठित व्यक्तियो द्वारा समय के विनाश" के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसके अनेको उदाहरण उस वर्ग मे मिलेंगे जिनके पास काफी अवकाश है।[1] सभ्य जीवन की अनेक कठिनाइयो मे से यह भी एक है। एक तरफ यह अवकाश विविधता और सौन्दर्य का स्रोत होता है, और बहुत-से अनुसन्धान इसी के अनुशीलन से हुए है जो देखने मे कभी-कभी व्यर्थ प्रतीत होते है; दूसरी तरफ यह सर्वहित की अवधारणा के विरुद्ध पड़ता है और सामाजिक-जीवन की एकता मे गभीर रूप से बाधक है। परन्तु अवकाश के समय का महत्त्व उसका उचित उपयोग, कम-से-कम सीमित अर्थ मे, केवल शैक्षरिक ही नही है। अच्छा होगा कि यदि हम उसका विश्लेषण आगे चलकर करें। इस बीच यह कहना पर्याप्त होगा कि (यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भी है) सभी नागरिको को मानव के रूप मे अपनी अभिवृद्धि के लिए पर्याप्त अवकाश मिलना चाहिए और किसी सेवा की पूर्ति के लिए मशीन के पुर्जे की तरह गुलाम की सी स्थिति मे डूब नही जाना चाहिए। दूसरी ओर कोई भी व्यक्ति कुछ विशेष दायित्वो के बिना मानव नही कहला सकता। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है तो यह स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की शिक्षा कुछ अंशो मे अपने कार्य, और कुछ अशो मे अवकाश के लिए होनी चाहिए परन्तु इन दोनो पक्षो मे उचित सन्तुलन रखना सरल नही, कुछ अशों में हम पहले यह बता चुके है कि इस प्रकार की कठिनाइयो का आशिक हल क्या है।

---

१. वेवलेन महोदय की पुस्तक 'ए लैयर क्लास' इस विषय पर प्रकाश डालती है, परन्तु उसमें अवकाश द्वारा प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता तथा उल्लास के महत्त्व से न्याय नहीं किया गया। इस पर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक 'परसनैलिटी' में 'कला क्या है' शीर्षक अध्याय में विशेष बल दिया है।

७ राज्य और शिक्षा

अपने विभिन्न पहलुओं मे सामुदायिक जीवन मे श्रेष्ठ नागरिकता की अभिवृद्धि इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसे पूर्णत व्यक्तिगत प्रयास पर नही छोडा जा सकता । इसके लिए एक सुव्यवस्थित संगठन की आवश्यकता होती है और राज्य का कर्त्तव्य है वह इस का प्रवन्ध करे। दूसरी ओर इसका प्रवन्ध विशेप क्षेत्रो की आवश्यकता और विशेप व्यक्तियो के रुझान के अनुसार होना चाहिए। परन्तु यह अभीष्ट नही कि यह पूरी तरह किसी केन्द्रीय नियन्त्रण मे हो । मुख्य रूप मे राज्य के यही कर्त्तव्य हैं कि वह शिक्षा के पूर्ण उपभोग के सुअवसर प्रदान करे। इसके लिए उपयुक्त शिक्षको को नियुक्त करना निस्सन्देह महत्त्व का कार्य है । और जव उपयुक्त व्यक्ति मिल जाएँ तो यह कम महत्त्वपूर्ण नही कि उन्हे अपने कार्य के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाए । एक व्यक्ति एक अच्छे चित्रकार और एक कवि की तरह प्रशिक्षित शिक्षा-शास्त्री भी वन सकता है । चित्रकार अथवा कलाकार की तरह वह कभी-कभी आलोचना का कार्य भी कर सकता है और इसके लिए राज्य द्वारा पूर्ण सुविधा दी जानी चाहिए । परन्तु इन सवका विवरण हम राज्य की प्रकृति और उसके कार्य-व्यापार का वर्णन करने के उपरान्त करें तो और भी अच्छा रहेगा ।

तृतीय अध्याय

औद्योगिक संस्थान

'काम' और श्रम' शब्दो की परिभाषा मे कभी-कभी भ्रम हो जाता है। कामगरो अथवा श्रमिको को समाज के अन्य वर्गों से पृथक् करके देखने की एक परम्परा-सी पड गई है। स्मरण रहे कि

१. श्रम का महत्त्व यह भेद-प्रदर्शन, प्लेटो के आदर्श समुदाय के वर्ग-भेद के अनुरूप नही होता । प्लेटो के अनुसार औद्योगिक-वर्ग समुदाथ के लिए सैनिक-कर्त्तव्यों, राजनीतिक व शैक्षणिक सगठन के कार्यो को छोडकर अन्य सभी उपयोगी काम करता है। कार्य के सम्बन्ध मे जो आधुनिक वर्गीकरण है, वह प्रधानत. शारीरिक-श्रम तथा अन्य प्रकार की सेवाओ के रूप मे किया जाता है। परिणामस्वरूप उस वर्गीकरण मे गरीब और धनवान् की भावना की प्रवृत्ति आ जाती है, परन्तु इसके विपरीत प्लेटो की पद्धति मे सभी धनवान्, और इसी तरह गरीब भी, औद्योगिक-वर्ग मे आ जाते है।[1] दूसरे वर्ग मे न कोई धनवान् होता है और न कोई गरीब, परन्तु एक सुसस्कृत जीवन के लिए जितना आवश्यक होता है, उतना ही धन उनके पास होता है। आधुनिक व्यवहार के अनुसार कलाकार, अध्यापक और यहाँ तक कि कानून तथा औषध-निर्माण आदि कार्यो मे लगे लोग श्रमिक नही समझे जाते। इस प्रकार के अन्तर उपस्थित करने के पीछे कुछ आधार अवश्य है, और सम्भवत' सामान्य अर्थो मे उन्हे हम ग्रीक वर्गीकरण से बहुत भिन्न नही समझ सकते। शुद्ध शारीरिक-श्रम कई रूपो मे बौद्धिक-श्रम अथवा कलात्मक-कौशल से भिन्न होता है, और वह मानव-जीवन के दृष्टिकोण मे एक अन्तर उपस्थित करता है। परन्तु यह अन्तर बहुत स्पष्ट रूप से स्थापित नही किया जा सकता। अत. सबसे अच्छा यह होगा। कि सभी प्रकार के प्रयासपूर्ण कार्य अथवा श्रम-विश्लेषण को प्रारम्भ किया जाए, क्योकि इसीसे हम एक निश्चित सामाजिक लक्ष्य की ओर प्रेरित होते है। सामान्यतया अथवा मुख्यतया व्यक्तिगत

---

१. अत्यधिक निर्धन व्यक्ति स्वभावतः ही एक गुलाम होता होगा, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्लेटो ने ऐसा कहीं भी नहीं कहा है।

मनोरजन का साधन खेल-कूद ही समझे जाते है, यद्यपि वे कभी-कभी इतने कठिन और श्रमसाध्य होते हैं जितने कोई भी अन्य श्रमसाध्य कार्य। वे कई बार उच्च-वर्ग वालो के लि्ए अप्रत्यक्ष रूप मे उच्च सामाजिक स्थिति के द्योतक भी हो सकते हैं। श्रम को इस व्यापक अर्थ मे लेकर हम उसके कई भेदो के बारे मे विचार करेंगे, जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

(१) कुछ श्रम हमारी पूर्ववर्णित वर्गी अथवा आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते है और कुछ अन्य प्रकार के श्रम हमारी पाशविक प्रकृति अथवा शुद्ध मानव जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। परन्तु स्पष्टतः हम इस भेद को बहुत अधिक सूक्ष्म रूप मे नही रख सकते। लकडी के काम मे लगा हुआ श्रमिक हमारी शुद्ध आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है, जबकि वह हमारे निवास के लिए एक झोपडी के निर्माण मे सहायता देता है। परन्तु वही श्रमिक जब एक कलाकार के अथवा युद्ध व खेलो के काम मे आने वाले उप-करण बनाता है, अथवा किसी उपन्यास लिखने वाले या दर्शन-सम्बन्धी काम करने वाले लेखक के लिए मेज बनाता है, तो वह हमारी उन आर्थिक आव-श्यकताओ की पूर्ति नही करता। फिर भी इस वर्गीकरण का अपना एक महत्त्व हो सकता है। सामान्यत आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले कुछ कार्यो के बारे मे यह कहा जा सकता है कि वे प्रधानत उनसे ही सम्बन्धित हैं अथवा प्रधान रूप से भिन्न प्रकार के होते हैं।

(२) कुछ कार्य श्रम करने वाले लोगो की इच्छा पर आधारित होते है। अन्य प्रकार के कार्य दबाव (जैसे दासता मे) अथवा आर्थिक आवश्यकताओ के दबाव अथवा सामाजिक आवश्यकताओ या परम्पराओ के कारण किए जाते है। यहाँ पर यह भेद बहुत स्पष्ट नही है। जब एक कलाकार सर्जन की भावना से अथवा आत्माभिव्यक्ति या सौन्दर्य के आदर्श को साकाररूप देने के लिए अथवा किसी नैतिक या धार्मिक विचार की अभिव्यक्ति के लिए एक चित्र का निर्माण करता है, तो उसके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कार्यके प्रकार को चुनता है। दूसरी ओर जब वही कलाकार अपनी आजीविका के निमित्त कोई कार्य करता है अथवा अभिभावक के विशेष आदेश पर कार्य करता है, तो वह अपने काम की कई बातो के सम्बन्ध मे कुछ स्वतन्त्र होता है, परन्तु उसे दूसरो की आर्थिक अथवा पार-म्परिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रख निश्चय करना होता है। अन्य कई बातो मे भी इस प्रकार के भेद किये जा सकते है। ऐसे बहुत कम कार्य होते है जिन्हे नितान्त स्वतन्त्र चुनावो पर आधारित बताया जा सकता है। यहाँ तक कि जब वे साधारणत स्वतन्त्र कहे जाते है परन्तु उनमे भी कुछ प्रतिरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

(३) कुछ श्रम अवांच्छनीय और थका देने वाले होते है। इसके विपरीत कुछ कार्य आनन्दप्रद और स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं। इस प्रकार उन्हे हम कुछ अस्ति और कुछ नास्ति मूल्यों वाले कार्य के रूप मे भी अभिव्यक्त कर सकते है। यह अन्तर केवल कार्य की प्रकृति मे आधारित नही होता परन्तु कार्य-कर्ता की भावना पर आधारित होता है। सामान्यत. स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाने वाला चयन आनन्ददायक होता है, चाहे वह कठिन ही क्यों न हो, और जो दबाव के अन्तर्गत किया जाता है, वह अवाच्छनीय होता है, चाहे वह सरल ही क्यो न हो। कुछ काम कोई व्यक्ति खेल-खेल मे प्रसन्नता से कर सकता है परन्तु यदि उसी कार्य को दबाव द्वारा करवाया जाए तो वही अति कष्टकर प्रतीत होगा। अधिकतर सभी कार्य व्यक्तिगत भावना, कार्य के समय, स्वास्थ्य की स्थिति, अन्य आकर्षणो और विभिन्न परिस्थितियो पर आधारित होते हैं। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि कुछ कार्य सामान्यत कष्टकर होते है और वे किसी लक्ष्य के साधन के रूप मे होते है, जब कि अन्य कार्य बहुत कुछ अंशों मे स्वयं ही लक्ष्य होते हैं।

(४) कुछ कार्य पूर्णतया शारीरिक-श्रम से सम्बन्धित होते है और कुछ मे चिन्तन अथवा कला-चातुर्य की अपेक्षा होती है।

(५) कुछ श्रम यद्यपि सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी होते हैं, फिर भी उनको मूलतः इस निमित्त नही किया जाता कि उनके पीछे कोई व्यक्तिगत प्रसन्नता अथवा कोई व्यक्तिगत तुष्टि निहित है। कुछ श्रम कर्त्तव्य की भावना अथवा समाज-सेवा के रूप मे किये जाते है। यहाँ फिर, स्पष्ट भेद करना बड़ा कठिन है। कभी-कभी एक विशेष प्रकार का कार्य समाज-सेवा के अन्तर्गत किया जाता है, परन्तु इसका विशेषरूप व्यक्तिगत-लाभ अथवा पुरस्कार की आशा पर आधारित होता है; तिस पर उसका स्थूल-भेद भी किया जा सकता है जिसका कुछ मूल्य भी हो सकता है।

इस तरह, यद्यपि ये भेद अति स्पष्ट नही है, फिर भी वे कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर उपस्थित करने का काम करते है। यह कहा जा सकता है कि सीमित अर्थो मे 'श्रम' सामान्यतः मानव के उन प्रयासो के लिए प्रयुक्त होता है जो मुख्य अथवा प्राथमिक रूप से (१) आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किये जाते हैं ; (२) कुछ किसी सीमा तक विवशता या दबावो के अन्तर्गत किये जाते है, (३) कुछ अवांच्छनीय या थका देने वाले होते है, (४) कुछ लगभग शुद्ध शारीरिक-श्रम सम्बन्धी होते है; जिनमे चिन्तन या किसी विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की आवश्यकता नही होती। यहाँ जो पाँचवाँ भेद दिखलाया गया है वह प्रयास के उन रूपो के लिए कठिनाई से हा प्रयुक्त हो सकता है, जिन्हे सीमित अर्थो मे 'श्रम' कहा जाता है।

यहाँ हमारे लिए इस सीमित अर्थ का अधिक महत्त्व नही। यहाँ, विशेषत. हम उन प्रयासो से सम्बन्धित है जो प्रमुख रूप से आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, चाहे वे स्वतन्त्र अथवा दबाव पूर्ण हो, शारीरिक अथवा बौद्धिक हो, वाञ्छनीय अथवा थका देने वाले हो, अथवा किसी अन्य प्रकार के हों। यद्यपि 'उद्योग' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत इस प्रकार के कार्य नही आते, फिर भी उसके विशाल और विशेष भागो का निर्माण इस प्रकार के प्रयासो से ही होता है। अत यहाँ इसी अर्थ मे उनका विश्लेषण करना हमारे लिए सुविधाजनक होगा।

हम चाहे श्रम को सीमित अथवा व्यापक अर्थ मे लें, यह एक सामान्य सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को कोई-न-कोई विशेष कार्य करना ही पडता है।

२ श्रम विभाजन

जैसे-जैसे समाज अपने आकार और जटिलता मे बढता जाता है, वैसे-वैसे उपर्युक्त बात अधिक सत्य होती जाती है। कभी-कभी एक विशेष व्यक्ति अनेको विभिन्न कार्यों को एक साथ करता है। एक कलाकार अनेक पात्रों के रूप में काम कर सकता है यद्यपि वह उन सभी पात्रो के कार्य का निर्वाह कठिनाई से ही सन्तोषजनक रूप मे कर पाता है। एक लेखक एक साथ अनेक विषयो पर लिख सकता है। गेटे की श्रेणी के कुछ लोग स्वय मे विश्वकोप हो सकते हैं, परन्तु ऐसे लेखको से हम यह आशा नही कर सकते कि वे प्रत्येक विषय को विस्तृत रूप मे लिख सकेंगे। इसलिए विशेष रूप से आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्यो का विभाजन अत्यधिक महत्त्व का है। कुछ लोग लगभग समस्त वस्तुओ के वितरक हो सकते है, परन्तु समस्त वस्तुओ के निर्माता नही हो सकते। आर्थिक आवश्यकताएँ सर्वव्यापी तथा सबसे अधिक सर्वाग्रही होती है और उनकी पूर्ति मे अन्य कार्यो की अपेक्षा मानव-प्रयासो का ही व्यापक स्थान है। अत उनकी तुष्टि अथवा पूर्ति के लिए ही आवश्यक उत्पादन और वितरण-सगठनो की स्थापना की आवश्यकता पडती है। मूलत इन आवश्यकताओ के कारण ही प्लेटो ने श्रम-विभाजन की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। एडमस्मिथ तथा अर्थशास्त्र के मार्शल आदि कुछ अन्य लेखको ने भी कार्य की चालू अवस्थाओ के विशेष-प्रसग के साथ इस पर जोर दिया है। लगभग सभी प्रकार के कार्यों को सतोषजनक ढग से पूरा करने के लिए विशेष प्रकार के चातुर्य की आवश्यकता पडती है, यद्यपि यह चातुर्य शारीरिक श्रम द्वारा प्रतिपादित कौशल मे भी रहता है। कभी-कभी एक काम को छोड़कर दूसरा काम करने से, उसके लिए आवश्यक चातुर्य समाप्त हो जाता है अथवा उसको ठीक तरह से और लगातार करने मे बाधा पडती है। कुछ भी हो, एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य मे लगने से समय का नाश तो अवश्य ही होता है, यद्यपि

कार्य की नवीनता से नया उत्साह और ताजगी आती है और उसकी क्षतिपूर्ति हो जाती है। यह आवश्यक है कि जीवन की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति के समय, जब किसी वस्तु की बहुत आवश्यक जरूरत होती है, तो उसके सभरण के लिए कोई व्यक्ति मिलना ही चाहिए। यह बात चिकित्सा-परिचर्या आदि पर सबसे अधिक लागू होती हैं, परन्तु भोजन और पानी, कुछ कम मात्रा मे कपडे, गरमी और विश्राम के लिए भी लागू हो सकती है। जो वस्तुएँ नितान्त आवश्यक नही उनके वितरक भी आसानी से खोजे जा सकते हैं। अत संक्षेप मे, यह माना जा सकता है, कि कम-से-कम औद्योगिक ससार मे, सामान्यत यह अत्यावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार का ही कार्य करे।[1] यद्यपि औद्योगिक कार्यो के अतिरिक्त अन्य कार्यो के लिए ऐसा नही कहा जा सकता, फिर भी यह स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति विभिन्न कार्यो के आकर्पण मे न पडकर एकाग्रता पूर्वक एक ही कार्य करता है, तो वह उसे बहुत अच्छे ढग से करेगा। सभवत एकाग्रता के अभाव मे ही गेटे के साहित्यिक कार्य मे बहुत बाधा पहुँची।

यह निर्विवाद है कि कार्य के विविध प्रकार एक दूसरे मे ग्रथित होते है। कुछ अशो मे तो यह बात काम के सभी प्रकारों के विपय मे सत्य है। विशेष-

३. सहकारिता

तौर पर आर्थिक-क्षेत्र मे तो यह नियम आवश्यकताओ की व्यापकता और अनिवार्यता के कारण लागू होता है। ये आवश्यकताएँ मनुष्य की शारीरिक-प्रकृति सम्बन्धी होती है, अतः पर्याप्त रूप से उनकी पूर्त्ति आवश्यक ही है। प्रत्येक आदमी को अपना एक उचित काम मिल जाना ही आवश्यक नही, अपितु उन सब कार्यो का पर्याप्त ठीक ढग से किया जाना भी अत्यावश्यक है। और इसके साथ-साथ वे सभी कार्य ऐसे सहयोग के साथ चले जिससे जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा हो सके। इसके लिए सगठन-चातुर्य और कौशल की आवश्यकता होती है। यद्यपि इन आवश्यकताओ की पूर्त्ति के प्रयासो को साधारण-श्रम के रूप मे वर्णन नही किया जा सकता फिर भी अन्य कार्यो की तरह वे अत्यावश्यक होते है। इस सम्बन्ध मे तथा मांग और सभरण की कठिन समस्याओ के बारे मे विचार करना अर्थशास्त्रियो का काम है। इस विषय मे श्रम-विभाजन के महत्त्व को देखते हुए हम सक्षेप मे इतना ही कह सकते है।

आर्थिक ढग का श्रम सृजनात्मक नही होता। वस्तुतः इसमे भी सन्देह है कि

---

१. इस विपय के सामान्य पहलू पर इससे अधिक व्याख्या मे डले की कृति 'एथिकल स्टडीज' में मिलेगी।

क्या हम मानव के श्रम के किसी रूप को उचित रूप मे ऐसा कह भी सकते हैं ?

४. श्रम से सम्बन्धित भूमि और पूंजी

कवि और कलाकारो को कभी-कभी सृजनात्मक कहा जाता है। यह निस्सन्देह सत्य है कि वे अपनी इन गतिविधियो द्वारा जो योगदान करते हैं, वह उन भौतिक सामग्रियो से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जिनसे वे काम लेते है। फिर यह भी सत्य है कि उन्हे कुछ भौतिक सामग्रियो की सहायता लेनी पडती है, जो कुछ अशो मे उनके प्रयासो मे सहायता देती है और कुछ अशो में वाधा भी पहुँचाती है। यद्यपि यह कहना अतिशयोक्ति होगी, जैसा कई बार हुआ भी है, कि एक प्रतिमा एक सगमरमर के टुकडे मे तैयार करने से पूर्व ही विद्यमान रहती है और फिर सगमरमर के उस टुकडे को एक विशेष रूप दे दिया जाता है। परन्तु इस तरह के उदाहरणो का यहाँ कोई सम्बन्ध नही है। शुद्ध औद्योगिक-श्रम मे काम करने वाला जिस सामग्री से काम करता है, उसे स्पष्टत कलात्मक कार्यों की अपेक्षा कम विकसित करना पडता है। प्राय श्रम उस सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है, जैसे किसी जलाशय से नगर तक पानी पहुँचाना। एक किसान बीज बोता है परन्तु वह अपने प्रयास से उसमे फल नही लगा सकता पर उसके प्रयास के विना वह बीज नष्ट हो जाएगा और मनुष्य के उपयोग का भी नही रहेगा। और श्रम बिना किसी की सहायता के भी नही किया जा सकता। इस प्रकार सभी औद्योगिक-कार्यों मे औजार अथवा मशीनें, या घोडे अथवा अन्य पशु काम मे लाए जाते हैं।

इस प्रकार आर्थिक वस्तुओ के उत्पादन मे श्रम के अतिरिक्त दो अन्य कारक और होते है। उन्हे भूमि और पूँजी के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। पूँजी के लिए प्रयुक्त 'कैपिटल' शब्द की उत्पत्ति 'कैपिटा' से हुई है जिसका अर्थ घोडो आदि की सख्या मे है, जो प्राचीन काल मे फार्म मे रखे जाते थे। इस तरह भूमि और पूँजी दोनो ही शब्द मूलत. खेती-सम्बन्धी श्रम से सम्बन्धित है। और जहाँ तक आधुनिक उद्योग से इनका सम्बन्ध है, इनका अर्थ बडा भ्रामक है। यह भी सत्य है कि हम कच्ची सामग्री (यद्यपि वह मुश्किल से ही कभी कच्ची होती है) और उन उपकरणो का अतर समझ सकते हैं जिनसे वह प्रयोग मे आती है। ये उपकरण भी पहले किये गए श्रम के परिणाम होते हैं, जिसे विशेष सामग्री मे लगाया गया था। यो तो घोडे पकडे जाते है, वश मे किए जाते हैं, उनसे नयी नसल पैदा की जाती है, उन्हे पाला जाता है, चलना सिखाया जाता है और प्रशिक्षण होता है, इस प्रकार से इस तरह के कार्य के लिए भी मनुष्य का वहुत-सा श्रम लगता है। यह भी स्पष्ट है, कि उपकरणो तथा मशीनो के उत्पादन मे भी धरती से पदार्थों को निकालने के रूप मे भी वहुत मेहनत करनी

पडती है। अतः सामान्यत यह यहा जाता है कि आर्थिक माल कच्ची सामग्री में लगाये गए श्रम से उत्पन्न होते हैं, और एक समय मे लगाया गया श्रम एक दूसरे बड़े श्रम पर आधारित होता है, जिसे कभी भूतकाल मे किया गया था। यह स्पष्ट है कि यहाँ 'श्रम' को व्यापक अर्थों मे समझा जाना चाहिए। उसमे वे सभी बाते आ जानी चाहिएँ जो किसी आवश्यक वस्तु को प्रस्तुत करने से पूर्व उसके आवश्यकता विषयक विचार से लेकर उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक उपकरणो के आविष्कार और निर्माण मे, उमकी उत्पादन की विधियो के सगठन, उनके प्रयोग के प्रबन्ध और उत्पादन को आवश्यक स्थान पर पहुँचाने मे प्रयुक्त किए जाते है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह भेद कलात्मक कार्यों पर भी लागू होता है। उदाहरणस्वरूप, कवि अपने चारो तरफ के ससार मे सुनी और देखी हुई कच्ची-सामग्री को काम मे लाता है। वह अपने पूर्व-कवियो के श्रम और किसी विषय के वर्णन करने के ढग का भी ऋणी होता है। यह विशेषत बृहत् कलात्मक कृतियो के लिए और भी अधिक आवश्यक है। उदाहरण के लिए ग्रीक नाट्यकारों ने बहुत ही कम नवीन चीज़ें खोजी। उन्होंने उसी सामग्री का प्रयोग किया जो पुरानी प्रथाओं द्वारा एक विशेप रूप ले चुकी थी और वह प्रयोग भी रूढ ढग से हुआ है। फिर भी उनकी रचनाओ मे यह विशेषता है, कि उन्होंने उनको अपने एक विशेष-ढंग से प्रस्तुत किया। इसी तरह यह एक साधारण सत्य है कि शेक्सपीयर ने जिस सामग्री और शैली का प्रयोग किया, वास्तव मे वह स्वय उसके द्वारा आविष्कृत नही थी। इसी तरह यह भी सत्य है कि वर्जिल और मिल्टन जैसे लेखको के कार्य भी पद-पद पर अपने पूर्व-लेखकों के कार्यों पर आधारित है। उनकी पृष्ठभूमि कुछ अशो मे विरासत मे मिली प्रथाओं द्वारा निर्मित है, और उनकी पूंजी दूसरो द्वारा प्रयुक्त वर्णन करने की विधियाँ हैं। इस प्रकार से वर्णित ये तीनो कारक जैसे, भूमि, पूंजी और श्रम उत्पादन के सभी रूपो मे प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु सबसे अधिक सरल और स्पष्ट रूप मे तो मूलत आर्थिक और औद्योगिक रूपो मे ही प्राप्त किये जाते है।

यदि उत्पादन के विविध कारको को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग मे लाना है, तो यह स्पष्ट है, कि कुछ अंशों मे उसका नियन्त्रण प्रयोग करने वाले के हाथ में होना चाहिए। इस नियन्त्रण की अवस्था विभिन्न मामलो मे स्वभावतः पृथक्-पृथक् होगी। कच्ची सामग्री साधारणत काम करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के हाथ मे होनी चाहिए। एक वास्तु-शिल्पी के पास संगमरमर का एक टुकड़ा और एक चित्रकार के चित्रपट अवश्य ही उसके अपने नियन्त्रण में होने चाहिएँ।

५. सम्पत्ति

यहाँ तक कि एक कवि के पास कागज अथवा इसी तरह की अन्य सामग्रियाँ होनी चाहिए, यद्यपि प्रकृति के दृश्य और ध्वनियाँ आदि सामग्री उसके लिए स्वत सुलभ होती है। इसी तरह किसान का भी अपनी भूमि पर अधिकार होना चाहिए। लकडी या धातु का काम करने वाले भी अपने पदार्थों के प्रयोग मे स्वतन्त्र होने चाहिए। इसी तरह अन्य कामगर भी अपने-अपने क्षेत्र मे स्वाधीन होने चाहिए। परन्तु उनका स्वामित्व किस हद तक हो यह एक कठिन प्रश्न है। और फिर, पूजी के नियन्त्रण का प्रश्न सामान्यत बहुत अधिक जटिल है, जैसे पूँजी को काम मे लाने का यह अर्थ नही कि उसे समाप्त कर दिया जाए, अपितु उसे एक जगह स्थायित्व देकर रखने की भी आवश्यकता नही, घोडे आदि पशुओ का सरलता से हस्तान्तरण किया जा सकता है। यह स्पष्टत सुविधाजनक है कि काम मे लाए जाने वाले छोटे-छोटे उपकरण उनसे काम करने वाले व्यक्ति के अधिकार मे हो। दूसरी तरफ बडी-बडी मशीने कुछ तुलनात्मक रूप मे स्थायी अधिकारियो के नियन्त्रण मे रखी जाएँ ताकि उन मशीनो को सुरक्षित रखा जा सके। फिर, एक कलाकार की प्रधान पूँजी उसकी स्मृति और उसके रुझान होते हैं, जिन्हे सरलता से पृथक् व दूसरो को हस्तान्तरित नही किया जा सकता। अन्तत श्रम का नियन्त्रण उद्यम करने वाले लोगो के हाथ मे होना चाहिए अथवा अन्य लोगो के हाथ मे, जबकि उसमे पूर्ण दासता से लेकर अनेक दर्जे हो सकते है, जैसे पूर्ण दास-वृत्ति और क्रीत-श्रम से लेकर बाजार की माँग के अनुसार नियमित काम करने और कार्यकर्त्ता द्वारा अपने काम को अपनी इच्छा से चुनकर करने तक की विभिन्न स्थितियाँ। प्रथम और दूसरे प्रकार के काम सभ्य-ससार से व्यावहारिक रूप से समाप्त हो गए हैं और अन्तिम प्रकार के कार्य अपने पूर्ण अर्थो मे विरल हैं। अधिकतर कार्य या तो वेतन के रूप मे अथवा उत्पादन के विक्रय के रूप मे किए जाते है। यहाँ तक कि यश अथवा सम्मान के लिए किये गए कार्य भी आशिक रूपसे दूसरो के चयन द्वारा निर्धारित होते है।

सामान्यत यह माना जा सकता है कि किसी वस्तु पर पूर्ण स्वामित्व अपवाद स्वरूप ही होता है, चाहे वह कच्ची सामग्री, पूंजी, अथवा श्रम हो। राज्य, अपने नागरिको की सम्पत्ति पर नियन्त्रण का अधिकार रखता है, यद्यपि वह अपनी सीमाओ के अन्तर्गत अपने देश का स्वामी होने का दावा करता है, फिर भी वह देश के किसी विशेप भाग और उसके कुछ विशेष पदार्थों पर व्यक्तिगत नियन्त्रण को स्वीकार करता है। इससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नो पर बाद मे विचार करेगे।[1]

१　विशेपत· इसी खण्ड का ५वाँ अध्याय देखिए।

व्यक्ति अथवा राष्ट्र जिन अशो मे मूल्यवान् पदार्थों को अपने नियन्त्रण मे रखते है, उन्ही अशो मे उनकी सम्पत्ति अथवा निर्धनता का निर्माण होता है।

६. धन और निर्धनता

धन को ऐसे नियन्त्रण के प्रतीक के रूप मे और कुछ निश्चित शर्तों के अधीन व्यवहार के लिए स्वीकृत सिक्के के रूप मे मूल्याकित किया जाता है। इस तरह के नियन्त्रण को व्यवहार मे लाने की शक्ति, एक ऐसी प्रमुख परिस्थिति होती है जो शरीर और दिमाग की प्राकृतिक शक्तियों से पृथक् होती है। और जो किसी मनुष्य को अन्य लोगो पर श्रेष्ठता प्रदान करती है और वह समाज के सदस्यो के हित को पूर्ण अर्थों मे एक सामान्य हित बनने से रोकती है। इस प्रकार का नियन्त्रण किस सीमा तक व्यक्तियों को सौपा जाए, यही सामाजिक-दर्शन मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्लेटो ने इस पर बल दिया है, कि किसी सुसगठित समाज के शासक का यह कर्त्तव्य है कि उसके राज्य मे किसी के पास अत्यधिक धन न हो और कोई अत्यधिक निर्धन भी न हो। परन्तु यह निश्चय करना सरल नही कि कितने धन को अधिक कहा जाएगा अथवा उसे वहाँ से कैसे हटाया जाएगा। अब तक इस पर हमने जितना प्रकाश डाला है, उसे आगे के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए था और इस विषय की कुछ दूसरी बातो के बारे मे यहाँ जानकारी करनी चाहिए।

आर्थिक द्रव्य कई बार एक ही समय मे एक ही व्यक्ति के स्वामित्व मे होते है, और जब ऐसे द्रव्य का सभरण सीमित होता है तो एक का अधिकार अन्यो के अभाव का द्योतक होता है।

७. प्रतियोगिता

यह बात कुछ हद तक ऐसे द्रव्यो के बारे मे भी सही है जो वास्तव मे आर्थिक नही होते। पुस्तकालयो मे रखी दुर्लभ पुस्तके सभी लोगों की पहुँच मे नही होती। सुन्दर दृश्यों का आनन्द एक समय मे कुछ सीमित लोग ही उठा सकते है, और कुछ लोग तो वहाँ तक कठिनाई से ही पहुँच पाते है, फिर दूसरी कठिनाई प्राय आर्थिक आवश्यकताओ के दबाव की पड़ती है। यह सत्य है, कि शुद्ध-मानवीय वस्तुएँ शीघ्र ही सुलभ बनाई जा सकती है, परन्तु शुद्ध आर्थिक वस्तुओं से विशेषत. जब वे जीवन के लिए आवश्यक होती है और लोगो द्वारा जब उनकी माँग अधिक होती है, तो कुछ लोग उनसे दूसरों को नुकसान पहुँचा सकते है। फिर ऐसे पदार्थ व्यवहार मे एक स्थायी सघर्ष का कारण भी बन जाते है। कुछ पदार्थो के लिए प्रतियोगिता होने लगती है। परन्तु इस सम्बन्ध मे गम्भीर सघर्ष तब उठता है जब स्वामित्व की कठिनाइयो के बजाय उनके मूल्याकन के सम्बन्ध मे मतभेद पैदा होता है। उदाहरणस्वरूप जब लोग धर्म के सम्बन्ध मे सघर्ष करते है तो वह इसलिए कि वे दूसरो के धर्म का औचित्य मानने की अपेक्षा अपना धर्म दूसरो पर थोपना

चाहते हैं। यही बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनो के लिए भी लागू होती है। राष्ट्रो और व्यक्तियो के बीच मे स्वामित्व के लिए सघर्ष होता है, वह हमेशा मूलत: आर्थिक द्रव्यो को लेकर होता है। ऐसा सघर्ष वास्तविक युद्ध या प्रतियोगिता का रूप धारण कर लेता है तथा नियन्त्रित अथवा अनियंत्रित रूप से चल सकता है और वह सामान्य हित मे गम्भीर बाधक बनता है। मूलत: वह अस्तित्व के लिए सघर्ष होता है परन्तु उससे मानव-जीवन के पशुओ के स्तर तक गिर जाने का भय रहता है। पर, इस समस्या का समाधान यहाँ सन्तोषजनक रूप से नही दिया जा सकता।

८. व्यष्टिवाद और समाजवाद

औद्योगिक जीवन की प्रतियोगिता सम्बन्धी कठिनाइयो से प्रधानत: ऐसे विवादो का प्रादुर्भाव होता है जो 'व्यष्टिवाद' और 'समाजवाद' जैसे शब्दो से सम्बन्धित होते हैं। एक ओर आर्थिक जीवन के लिए प्रतियोगिता आवश्यक है, वह व्यक्तिगत माँग और सभरण की पारस्परिक क्रियाओ से उत्पन्न होती है, इसका मतलब यह होता है कि आर्थिक मूल्य ठीक तरह से आंके जाएँ और आर्थिक द्रव्यो का ठीक तरह से वितरण हो। दूसरी तरफ, वह यह प्रदर्शित करती है कि यह तरीका सकीर्ण, भद्दा और नाशक है। इससे गभीर अन्याय उत्पन्न होता है। अत. यह वाञ्छनीय हो जाता है कि प्रतियोगिता के तरीको के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण का कोई एक रूप स्थापित किया जाए। इस तरह से उत्पन्न समस्याएँ व्यापक और कठिन होती हैं। उनमे से कुछ के बारे मे बाद मे विचार करेंगे। इसी बीच कुछ सामान्य विचार प्रस्तुत कर देना उचित होगा।

(१) यह आवश्यक है कि विशुद्ध औद्योगिक समस्याओ को सामान्य समस्याओ से पृथक् रखकर देखा जाए। 'व्यष्टिवाद' और 'समाजवाद' शब्द सामान्यत: औद्योगिक-सगठन की विधियो के प्रसग मे प्रयुक्त किये जाते हैं, परन्तु कभी-कभी वे समाज के सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे भी प्रयुक्त होते हैं।[1] इस व्यापक अर्थ मे व्यष्टिवाद का अर्थ उस विचारधारा से लिया जाता है, जिसके अनुसार समाज व्यक्तियो के एक समूह से बना है, जब कि समाजवाद का अर्थ एक आन्तरिक-बन्धन (एक अगीय-एकता या एक सामान्य-इच्छा अथवा एक सामान्य-हित) से लिया जाता है जिससे व्यक्तियों द्वारा समाज का निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं कि अगीय अथवा साम्यवादी अवधारणा का प्रयोग अधिक उचित है। परन्तु हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए, जिससे समझने मे किसी प्रकार की गडबड न हो, 'सम्प्र-

---

१. बोसाके: 'सिविलिजेशन एंड क्रिश्चियेएडम' अ० १०।

दायवाद' शब्द की ओर भी ध्यान देना चाहिए, जिसका आर्थिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नही है। अतः सामाजिक-संगठन विषयक इस अवधारणा को हमे औद्योगिक-सगठन मे प्रयुक्त की जाने वाली अनेक अवधारणाओ से सम्बन्धित 'समाजवाद' शब्द से अलग करके देखना चाहिए। जब 'समाजवाद का प्रयोग राज्य के सगठन के सम्बन्ध मे होता है, तो उसका विरोधी शब्द 'व्यष्टि-वाद' की अपेक्षा 'अराजकतावाद' (केन्द्रीय नियन्त्रण का अभाव) है। अराजकतावादी लोग सामान्यत 'सम्प्रदायवादी' होते है। वे समाज के आवश्यक गठन को मान्यता देते है और सोचते है कि वह स्वभावत. प्राकृतिक है और उसके लिए किसी बाह्य शक्ति (राज्य) की आवश्यकता नही। वास्तव मे, जो लोग अपने-आपको समाजवाद का पोषक बतलाते है, वे अराजकतावाद को अपना अन्तिम आदर्श स्वीकार करते है, परन्तु वे उद्योगो के लिए समाजवादी-सगठन को उसके प्रारम्भिक-स्तर के रूप मे आवश्यक समझते है।

(२) यह फिर आवश्यक हो जाता है, कि हम विशुद्ध उद्योग से सम्बन्धित समाजवादी सगठन के प्रकार और मानव-जीवन के सगठन-सम्बन्धी सामान्य प्रश्न मे अन्तर करके देखे। जीवन के औद्योगिक पहलू के अतिरिक्त मनुष्य के ऐसे बहुत कार्य होते हैं जिनके लिए एक केन्द्रीय सगठन की आवश्यकता पडती है। उदाहरणस्वरूप एक राज-धर्म, राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति, राष्ट्रीय-मच, या पुस्तकालय अथवा राष्ट्रीय रग-मच आदि को समाजवादी स्वरूप के रूप मे वर्णित किया जा सकता है, परन्तु इन सस्थाओं का शुभ-लक्ष्य आर्थिक नहीं होता। और उनका शुद्ध औद्योगिक समस्याओ से भी कुछ सम्बन्ध नही होता। ये चीजे स्वभावत. सार्वजनिक वस्तुओ से सम्बन्धित होती है और उन्हे सामान्यत' प्रयोग के द्वारा समाप्त नही किया जा सकता। यही बाते, यद्यपि अधिक स्पष्ट रूप मे तो नही फिर भी, सार्वजनिक अस्पतालो, नि शुल्क औषध-वितरण, यहाँ तक कि निःशुल्क कानूनी परामर्श, वृद्धावस्था मे पेंशन और विस्थापितों के सहयोग के अनेक रूपों मे भी देखी जा सकती हैं। इनको भी कभी-कभी समाजवादी कहा जाता है। परन्तु ये निजी सम्पत्ति के वर्तमान चालू ढग और औद्योगिक प्रतियोगी प्रकारो के समान ही होती हैं। इनमे से कुछ मे यदि यह ध्येय न हो तो वे बेकार ही होगी। प्रतियोगिता का अस्तित्व मानववाद के लिए असगत नही है। जीवन-रक्षक नावे दे देने का मतलब यह नही होता है कि समुद्र मे हमारा अनिष्ट हो ही नही सकता है। परन्तु यह मानकर चलना पडता है कि हमे उसका सामना करना है।

(३) यह ध्यान देने योग्य है कि जब 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग केवल-मात्र शुद्ध औद्योगिक-सगठन के लिए किया जाता है, तो भी वह कुछ अस्पष्ट रह जाता है। उससे 'साम्यवाद' से सम्बन्धित अर्थ भी लिया जा सकता है

अथवा कुछ 'समष्टिवाद' का अर्थ भी निकाला जा सकता है। साम्यवाद की अवधारणा के अनुसार सारी सम्पत्ति का सामान्यीकरण होना चाहिए, अथवा वास्तव मे सामान्यीकरण नही तो, समान रूप से उसका वितरण होना चाहिए अथवा आवश्यकताओ के अनुसार या योग्यतानुसार वितरण होना चाहिए। समष्टिवाद मे अनिवार्यत' यह नही आता, परन्तु वह उद्योग पर एक केन्द्रीय नियत्रण चाहता है जिसका अर्थ प्रमुख रूप से पूंजी के निजी स्वामित्व के उन्मूलन से है। इस प्रकार के नियत्रण एक राज्य अथवा एक नगरपालिका के रूप मे हो सकते हैं, अथवा वे अधिकार श्रमिक-सघ के सदस्यो की इच्छानुसार आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित किसी भी सस्था मे नियोजित किये जा सकते है। श्रमिक सघवाद को हम उत्पादक-सहकारिता अथवा व्यापार-सघ के एक बृहत् रूप मे समझ सकते है। समाजवाद के बारे मे विचार करते समय यह जान लेना अत्यावश्यक होगा कि सगठन के इन रूपो मे किसके बारे मे सकेत किया जा रहा है[१]।

(४) ऐसे सगठनो की विधियो की व्यावहारिकता और वाछनीयता विषयक प्रश्न इतने व्यापक और जटिल हैं कि उनके विषय मे यहाँ विचार करना उचित नही है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है, औद्योगिक कार्यों के कुछ प्रकार अन्य कार्यों की अपेक्षा केन्द्रीय नियत्रण को बहुत जल्दी स्वीकार करते है, परन्तु इसमें सन्देह है कि सभी रूपो का सयोजन एक ही ढग से वाछनीय हो सकता है। सडको, पुलो और रेलगाडियो का निर्माण व प्रयोग, पानी, गैस और बिजली का वितरण, गाँव और शहरो की योजना, डाक और तार का सवहन; सम्भवत भूमि का बँटवारा भी। सब-के-सब व्यापक स्तर के काय हैं, वे सम्पूर्ण जिले अथवा सारे देश और कभी-कभी अखिल विश्व पर भी प्रभाव डालते है। इनकी व्यापकता से स्पष्ट है कि केन्द्रीय नियत्रण विशेषत. इसी प्रकार के कामों के लिए उपयुक्त होता है। परन्तु थोडी मात्रा मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न लोगो की आवश्यकताओ और काम मे आने वाली वस्तुओ पर यह नियन्त्रण लागू हो सकता है या नही, यह सन्देहास्पद है। यहाँ तक कि भूमि के प्रयोग के विषय मे भी बलपूर्वक यह कहा जा सकता है कि उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व लाभदायक सिद्ध होते हैं, यद्यपि दूसरे पक्ष के सम्बन्ध मे भी कुछ दृढ तर्क पेश किये जा सकते हैं। सामान्यत:, जब किसी कार्य-विशेष मे कुछ लोगो की रुचि और स्वार्थ सबद्ध होते है या किसी आविष्कार के लिए चातुर्य विशेष का महत्त्व होता हैं तो उसका नियत्रण सम्बद्ध लोगो के हाथ मे ही छोड दिया जाता है।

यहाँ हम उचित रूप मे यही कह सकते है। न्याय, समानता, योग्यता तथा

---

१. श्री जी० ए० डी० कोल की पुस्तक 'द वर्ल्ड आफ लेबर' अध्याय ६।

दूसरी समस्याओं के बारे मे आगे विचार करेंगे ।

प्रत्येक आदमी का एक विशेष स्थान और काम होता है, जैसा कि हम पूर्व-अध्याय मे बता चुके है। उस विधि से चलने से जीवन-सम्बन्धी जरूरतो मे शिथिलता नही आती । यदि कोई एक अच्छा नाग-

९. काम और अवकाश

रिक बनना चाहता है, तो उसे अपने व्यक्तित्व के विकास और नागरिकता के सामान्य नियमो के पालन के लिए कुछ अवकाश अवश्य चाहिए । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम मे लगाए जाने वाले समय की एक सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए, और यह कार्य उन कार्यो मे से एक है, जिन्हे केन्द्रीय नियन्त्रण से प्राप्त किया जा सकता है । जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाएँगे, वैसे-वैसे यह विषय और अधिक स्पष्ट होता जाएगा ।

चतुर्थ अध्याय

राज्य

राज्य का उचित अर्थ क्या है, यह निश्चित करना कोई सरल बात नही है। इस शब्द के साथ कभी-कभी राष्ट्र या सरकार, जनता या देश और कभी-कभी कुछ अन्य शब्द भी मिला दिये जाते हैं। अत यह अच्छा रहेगा कि प्रारम्भ मे इस तरह के सम्बन्धित शब्दो की परिभाषा दे दी जाए। इस प्रकार के शब्द समाज, समुदाय, जनता, देश, जाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, सरकार, राज्य और सप्रभु राज्य आदि है। यहाँ इन पर क्रमश विचार करेंगे।

१ राज्य क्या है ?

(१) **समाज**—समाज का अर्थ व्यक्तियो के उस समूह से है जो किसी विशेष उद्देश्य को लेकर एकत्रित हुआ है (इसमे घनिष्ठ व्यक्तिगत-सम्पर्क की आवश्यकता नही है)। वाद-विवाद प्रतियोगिता-समाज, सहकारी-समाज, वैज्ञा-निक-समाज आदि अनेको समाज होते है, पर एक राष्ट्र अथवा एक राज्य को भी समाज की श्रेणी मे रखा जा सकता है। समाज एक सामान्य शब्द है, जिसे व्यक्तियो मे उपस्थित सगठन की अनेको विभिन्न प्रणालियो के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

(२) **समुदाय**—समुदाय एक ऐसा समाज होता है, जिसमे लोग एक प्रकार के घनिष्ठ सम्पर्क मे रहते है, जैसे, एक समाजवादी-समुदाय, मोरेवियन लोगो का समुदाय आदि। प्राचीन पैथागोरियन लोग कुछ अशो मे एक समुदाय बनाकर रहते थे और कुछ अन्य दार्शनिक-समूह, जैसे एपिक्यूरियन लोग भी एक समुदाय का निर्माण करते हैं। एक समुदाय मे घनिष्ठता का रूप भिन्न-भिन्न होता है। कोई भी समाज एक समुदाय कहला सकता है जबकि वह कुछ आध्यात्मिक सूत्र अथवा सामान्य-हित के लक्ष्य के द्वारा एक आन्तरिक-बन्धन मे बंधा होता है। सम्पूर्ण मानव-जाति यदि तात्त्विक रूप से एक भ्रातृत्त्व का रूप धारण करके एक सामान्यहित का लक्ष्य लेकर आगे बढती है, तो उसे हम एक समुदाय के रूप मे वर्णित कर सकते हैं।

(३) **जनता**—जनता ऐसे व्यक्तियो का एक समूह है जो आवश्यक रूप से

एक साथ न रहते हुए भी परम्परा अथवा स्थायी एकता को बनाए रखते है। यहूदी लोग एक साथ नही रहते रहे, लेकिन वे कुछ दृढ परम्पराओं, भाषा, धार्मिक-भावना, अनेको ऐनिहासिक घटनाओं व स्मृतियो तथा संघो के द्वारा पूर्णत सम्बद्ध रहे है। स्विस लोगो मे विभिन्न जातियाँ है, उनकी भाषा व धर्म मे भेद है, लेकिन फिर भी वे एक सामान्य-भाव मे बँधे हुए है। एक राष्ट्र सदा जनता का निर्माण नही करता। जब टेनिसन यह कहता है कि—

हम एक जनता है फिर भी

भूल गए है सभी लोग अपने अन्य सुन्दर सपने[1],"

तो वह इससे प्रकट करता है कि कुछ राष्ट्र जनता नही है।[2] जर्मनी में संभवतः सगठन का एक तत्त्व ही ऐसा रहा है जिसके कारण राजनीति, धर्म और जाति मे भिन्नता होने पर भी एक पितृभूमि का स्थायीभाव असाधारण रूप से दृढ रहा है। कार्लाइल ने एक सच्ची मित्रता के लिए आवश्यक शर्त के रूप मे यह कहा है[3] कि "विचारो मे भिन्नता के अतिरिक्त मतभेद नही होना चाहिए। यह बात जनता की एकता के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है। कभी-कभी कम सगठित जनता मे भी कुछ ऐसे समूह होते है जो बहुत घनिष्ठता से आपस मे सगठित होते है। प्राचीन ग्रीकवासी कुछ ऐसे ही लोग थे जिनकी एक सामान्यभाषा, साहित्य, धर्म तथा ऐतिहासिक-सगठन था, फिर भी एथेन्सवासी स्पार्टा-निवासियो से भिन्न थे। समान होते हुए भी, बहुत थोड़ा अन्तर इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के लोगो मे मिलता है, और इसी प्रकार का अन्तर सभवतः उत्तरी और पश्चिमी जर्मनी मे भी है। फिर, ईसाई धर्म को मानने वाले सभी लोगो का एक स्थायी भाव के कारण एक समाज बना हुआ है; यद्यपि उन लोगो मे बड़ी भिन्नताएँ है। इस मुहावरे मे बहुत कुछ सत्य छिपा हुआ है कि "पूर्व, पूर्व ही है और पश्चिम, पश्चिम।" इसका अर्थ यह है कि पूर्व मे एक विचार के लोग रहते है और इसी तरह पश्चिम मे, और उनके विचारो की भिन्नता ही पूर्व और पश्चिम के बीच का अन्तर है। परन्तु सभवतः यह प्रमुख रूप से भारत और इगलैण्ड के अन्तर को दिखाने के लिए कहा गया है।[4]

---

१ We are a people yet,
Though all men else their nobler dreams forget,

२. टेनिसन का यह दावा कहाँ तक सही है कि हम लोग विशेष प्रभावात्मक ढंग में एक जनता हैं, पर यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा सकता। हम लोग स्पष्टतः एक ही जाति के लोग नहीं हैं, परन्तु यह सत्य है कि हम लोगों ने दूसरे लोगों की अपेक्षा महत्वपूर्ण प्रश्न के समय छोटे-छोटे भेदों को भूला देना सीखा है।

३. 'लाइफ आफ स्टर्लिंग', भाग २, अध्याय २।

४. डिकन्सन : 'अपीयरेन्स्', पृष्ठ ५८—६।

(४) देश—कोई देश प्राथमिक रूप से एक भौगोलिक एकता को व्यक्त करता है, परन्तु सभी देशो की सीमाएँ उनकी भौगोलिक विशेषताओ के अनुसार कठिनाई से ही निर्धारित की जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन को स्पष्टत एक देश कहा जाता है, परन्तु इगलैण्ड और स्कॉटलैण्ड अलग-अलग देश माने जाते है, क्योकि लम्बी अवधि से वे दो पृथक् राष्ट्र रहे है। साराश मे, एक देश को किसी एक राष्ट्र या जाति द्वारा घिरा हुआ स्थान कहा जा सकता है, परन्तु प्राचीन यूनान भी सामान्यत. एक देश के रूप मे समझा जाता था, यद्यपि उसमे बहुत-से राज्य थे। दूसरी तरफ, आयरलैण्ड की ब्रिटेन मे घनिष्ठ एकता थी, फिर भी उन्हे एक देश के रूप मे नही समझा जा सकता। परन्तु हम जापान के द्वीपो को प्राय: एक देश के रूप मे गिनते हैं। इन उदाहरणो से यह प्रकट होता है कि यह शब्द कुछ अश मे भौगोलिकता तथा कुछ अशो मे राजनीति को लेकर प्रयुक्त होता है। परिणामस्वरूप यह कुछ अस्पष्ट भी है। यह प्राय: राष्ट्र[1] का समानार्थक भी समझा जाता है। देश-भक्ति की भावना में देश की भौगोलिक विशेषताएँ सम्मिलित रहती है और वे बडे सूक्ष्म रूप से उसमे सम्बद्ध रहती हैं। इसमे लोगो के चरित्र, उनका इतिहास, उनकी प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा उनकी सस्थाएँ आदि भी सम्मिलित रहती हैं[2]।

(५) जाति—एक मनुष्य दूसरे मनुष्यो से अपने शारीरिक-गठन, स्वभाव, विचार, अनुभूति और क्रियाओ की भिन्नता के कारण पृथक् दिखाई देता है। एक नीग्रो और एक ट्यूटन मे स्पष्ट भिन्नताएँ होती हैं, अत उन्हे पृथक्-पृथक् रूप मे साफ पहचाना जा सकता है। यह कहना अति कठिन है कि इस तरह की स्पष्ट भिन्नताओ वाले लोग भी एक ही तरह की जनता का निर्माण करने के लिए विचारो मे पर्याप्त समानता ला सकें[3]। परन्तु यह भी कहना कठिन है कि

---

१. पिट के प्रति एक सम्बोधन के रूप में "मेरा देश! मैं अपने देश को कैसे छोड सकता हूँ?" इसी तरह "भूमि" को भी प्रयुक्त किया गया है, टेनिसन ने "लव दाउ दाई लैंड" में लिखा है।

२. इस सम्बन्ध में शेक्सपीयर के प्रसिद्ध उद्धरण उद्धृत किए जा सकते हैं—

"This happy breed of men, this little world,
This precious stone set in the silver sea,
This blessed plot, this earth, this realm, this England,
This land of such dear souls, this dear dear land,
Dear for her reputation through the world"

इसी तरह स्कॉट तथा वाल्ट हिटमैन के अमेरिका के प्रति मनोरम विचारों के साथ तुलना कीजिए।

३. विलियम आर्चर - 'अ अफ्रो-अमेरिका' और ब्राइस की "अमेरिकन कॉमन-वैल्थ" देखिए।

ऐसी भिन्नताएँ बिलकुल रुकावट ही रहोगी। उदाहरणस्वरूप, यहूदी लोग जिन देशो मे रहते है, उन देशो के लोगो से अपनी भिन्न जाति के कारण ही नही, परन्तु दृढ राष्ट्रीय परम्पराओ के कारण भी, पृथक् दिखलाई देते है, फिर भी वे लोग जिन लोगो मे रहते है, उनके साथ अपनी अनुकूल परिस्थिति मे घुल-मिल जाते हैं। जर्मनी में रहने वाले गुलामो के विषय मे कहा जाता है कि वे "जर्मनी के लोगों की अपेक्षा अधिक जर्मनीवासी हैं" और इसी तरह के और बहुत-से उदाहरण दिए जा सकते है।

(६) **राष्ट्रीयता**—राष्ट्रीयता उन लोगो का एक समूह है जिनका केवल एक ही देश मे रहना अथवा सामान्य स्थायी भाव के कारण आपस मे सम्बद्ध होना आवश्यक नही, परन्तु उनका एक-दूसरे के साथ जाति, भाषा अथवा किसी पूर्व साहचर्य द्वारा सम्बद्ध होना आवश्यक है। सयुक्त-राष्ट्र-सघ अमेरिका मे आयलैण्ड, जर्मनी, चीन तथा अन्य दूसरे राष्ट्रो के लोग रहते हैं। चेम्बरलेन को अपनी पितृ-भूमि जर्मनी के प्रति सहानुभूति रही है, तथापि वहाँ एक लम्बे निवास के बावजूद भी उन्हे एक ब्रिटिश राष्ट्रीयता वाले के रूप मे गिना जाता है।

(७) **राष्ट्र**—राष्ट्र लोगों का एक समूह है जिसमे लोग आवश्यक रूप से नही, फिर भी एक देश के रूप मे निवास करते है, और साधारण कानून तथा परम्पराओ के द्वारा एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। जर्मनी और सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के लोग दो भिन्न-भिन्न देशो के सदस्य हैं। जर्मन लोग उन भिन्न देशो मे रहते हैं, जहाँ के लोगो ने उनके देश पर कब्जा किया हुआ है। इस प्रकार दोनो समूहो मे अनेक विभिन्न राज्यों के लोग रहते है। यद्यपि स्काटलैण्ड आज एक राज्य नही रहा है किन्तु मेरे विचारमे वह एक राष्ट्र अब भी है। यदि मान द्वीप को देश समझा जा सकता है, तो मैं सोचता हूँ कि वह एक पृथक् राष्ट्र भी होगा, परन्तु उसके लघुरूप और ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध के कारण ऐसा नही माना जाता। 'राष्ट्र' शब्द 'राज्य' के समानार्थक ही समझा जाता है, परन्तु सामान्यत, एक व्यापक अर्थ मे लिया जाता है।

वेल्स स्वय प्रभुत्व सम्पन्न नही है, और न उसकी अपनी राजधानी है, परन्तु उस का भी एक राष्ट्रीय-पुस्तकालय, एक राष्ट्रीय अजायबघर और एक विश्वविद्यालय है।

(८) **सरकार**—कानून द्वारा नियन्त्रित जहाँ कही भी कोई व्यवस्थित जीवन-प्रणाली वाला समूह होता है, वहाँ कानून बनाने, देखने और उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करने वाली कोई स्वीकृत शक्ति होनी आवश्यक है, इसी शक्ति को सरकार कहा जाता है। वह किसी एक व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्तियों ारा निर्मित हो सकती है। यह शक्ति निरपेक्ष होती है और उस पर कुछ बन्धन भी हो सकते है। उसकी प्रभुत्व-शक्ति पूरे राष्ट्र पर अथवा उस राष्ट्र के कुछ भागों

पर अथवा अनेक राष्ट्रो तक व्यापक हो सकती है। जब हम 'स्थानीय-सरकार' शब्द का प्रयोग करते है तो, वह कम या अधिक केन्द्रीय-सरकार के नियन्त्रण मे होती है। यहाँ तक कि 'होम रूल' की पद्धति के अन्तर्गत न केवल एक राष्ट्रीय-सरकार, बल्कि कई बातो मे साम्राज्य-सरकार भी, सवैधानिक नियमो के अधीन होती है। कभी-कभी 'राज्य' का प्रयोग 'केन्द्रीय-सरकार' के अर्थ के रूप मे भी किया जाता है। लुई चौदहवे ने इस शब्द का अपने लिए इसी अर्थ मे प्रयोग किया है, परन्तु राज्य को सरकार के स्वरूप मे लेने से बडी गडबड पड जाती है।

(९) राज्य—राज्य की उचित परिभाषा हम इस तरह से दे सकते है कि वह लोगो का एक ऐसा समूह होता है जो वहाँ की सरकार के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप से किसी भी दूसरी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नही होता। इसमे हम स्थानीय सरकार द्वारा शासित किसी एक जिले को भी ले सकते है, वह भी केन्द्रीय सरकार की शक्ति का विषय होता है। परन्तु एक राष्ट्र, जो कुछ अशो मे स्वय सचालित है, परन्तु कुछ अशो मे नही, उसे राज्य न कहे ऐसी बात नही है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सवैधानिक सदस्य-राज्य अथवा जर्मन साम्राज्य मे स्थित पृथक्-पृथक् राज्यो को उसी रूप मे राज्य कहा जा सकता है, यदि उनका आन्तरिक मामला इनके अपने अधिकार मे हो। परन्तु होमरूल प्राप्त अथवा औपनिवेशिक स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यो को, जो किसी राष्ट्र का ही एक भाग होते हैं, पृथक राज्य के रूप मे मानना कठिन है। एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे उन का अन्तर यही है कि केन्द्रीय सरकार अधीनस्थ सहकारी के रूप मे उनके निर्णय को बदल सकती है और नियन्त्रित कर सकती है। यह कार्य कभी-कभी बड़ा सन्देहपूर्ण होता है, अथवा किसी राज्य का किसी सीमा तक अपना नियन्त्रण अपने हाथ मे होता है और उसका बाह्य-नियन्त्रण किसी दूसरे राज्य के हाथ मे, अथवा उसके कार्य एक सन्धि द्वारा सम्बद्ध होते हैं। बेलजियम एक ऐसा ही उदाहरण है। ऐसे राज्य पूर्णत स्वतन्त्र नही होते।

(१०) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य—सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य पूर्णत: स्वतन्त्र होता है। परन्तु इसका अर्थ अनिवार्यत यह नही कि वहाँ की सरकार अपनी इच्छानुसार कार्य करने मे पूर्ण समर्थ है। सम्प्रभुता का जिस अर्थ मे यहाँ प्रयोग किया गया है, वह सरकार मे रह भी सकती है और नही भी रह सकती। लुई चौदहवे ने जो वह दावा किया था कि प्रभुत्व-शक्ति का निवास उसी मे है, और वैसे शुद्ध राजतन्त्र मे ऐसा होने मे सन्देह नही होना चाहिए। पर भले ही ऐसी सरकार को क्रान्ति के भय द्वारा हिलाया जा सकता है, परन्तु सवैधानिक सरकार पर सुनिश्चित बन्धन होते हैं। वहाँ अमेरिका की तरह एक लिखित सविधान हो सकता है, जो सरकार की शक्ति की सीमा को निर्धारित करता है, अथवा उसकी शक्ति परस्पर एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध लगाने वाले पृथक्-

पृथक् अंगो के द्वारा सीमित की जा सकती है। ऐसी अवस्था मे, सरकार के एक या अधिक अंगो का आमतौर पर कुछ निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर लोक-समुदाय के वोटो के द्वारा चुनाव होना है। ऐसी पद्धति जितनी अधिक सुविकसित होती है उतनी ही अधिक वह इस सत्य के निकट होती है कि अन्तिम स॰प्रभुता वहाँ की जनता मे निवास करती है और सरकार जनता की प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करती है। प्राय यह मान लेना एक ग़लत धारणा होगी कि ऐसी पद्धति मे जनता शासन करती है। सदैव इस बात की सम्भावना है कि निर्वाचित सरकार जनता की इच्छानुसार कार्य न करे और वास्तव मे बहुत-से लोग यही चाहते है कि निर्वाचित सदस्य-गण अपने विवेक के अनुसार कार्य करे। अतः यह वाञ्छनीय है कि राज्य मे अन्तिम प्रभुसत्ता और शासन-सत्ता मे भेद किया जाए, जैसे एक परिवार के उदाहरण मे हमने यह प्रस्तुत किया था कि एक बच्चा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होता है, यद्यपि शासन माता-पिता करते है। यह स्मरण रहे कि एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य भी दूसरे राज्यो के साथ सन्धि द्वारा अपने कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है। प्रभुसत्ता के लिए आवश्यक यह है कि जिन बन्धनो से वह सीमित होती है, वे ऐच्छिक होने चाहिए। निस्सन्देह, व्यवहार मे कभी-कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वास्तव मे ऐसी बात है या नही।

यह भी कहा जा सकता है कि जिन शब्दो या परिभाषाओ का यहाँ प्रयोग किया है, उनका भिन्न अर्थ भी हो सके। मैंने उनकी परिभाषा इस तरह से देने की कोशिश की है कि वे अपने प्रचलित प्रयोग से बहुत दूर न हो जाएँ और इसके साथ ही वे अपने महत्त्वपूर्ण अन्तर को प्रदर्शित करने मे भी समर्थ रह पाएँ। इस विषय मे अधिक विचार हमे अपनी सीमा से अधिक दूर ले जाएगा। साधारण भाषा मे प्रयुक्त होने वाले शब्द कुछ अस्पष्टता भी पैदा कर सकते है। यह आवश्यक नही है कि हमेशा उनका एक ही अर्थ मे प्रयोग हो, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि हम यह जान सके कि एक विशेष समय मे उनका प्रयोग किस अर्थ मे किया जा रहा है। राज्य की सामान्य विचारधारा से सम्बन्धित समस्याओ का उचित विश्लेषण राजनीति-शास्त्र को लक्ष्य बनाकर लिखी गई पुस्तको मे ही ठीक मिलेगा

प्रधानत राज्य के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठाया गया है कि उसकी सामाजिक संगठन की मूल आधारभूत-प्रणालियाँ प्राकृतिक है अथवा कृत्रिम। परिवार एक प्राकृतिक संस्था है, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि शिक्षा की जरूरते और औद्योगिक-संस्थाओ के द्वारा पूर्त्ति की जाने वाली विविध आवश्यकताएँ हमे स्वाभाविक रूप से किसी संगठन की प्रणालियो की ओर ले जाती है। जब ऐसे संगठन सरकार के नियन्त्रण मे आ

२ राज्य का प्राकृतिक आधार

जाते हैं तो उनमे स्वैच्छिक तत्व प्रविष्ट होते हुए दिखाई देते है और सामान्यत' सरकार के रूप स्वेच्छाचारी होते है। वे मानव की मूल प्रकृति से स्वत' उच्छ्-वसित होते हुए दिखाई नही देते, परन्तु वाह्य दबाव द्वारा आते हुए प्रतीत होते हैं। यह भी स्वीकार करने योग्य है कि वे कभी-कभी अत्यधिक स्पष्ट रूप मे जवरदस्ती थोप भी दिये जाते है। जब एक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को जीत लेता है और उस पर अपने थोडे अथवा सभी कानूनो का प्रयोग करता है, तो स्पष्ट है कि वह कार्य पराजित राष्ट्र की प्रकृति के अनुसार नहीं होता, वह उसकी प्रकृति से एकदम विपरीत भी हो सकता है। अग्नि के जलने को भी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम कहा जा सकता है। कुछ पदार्थों के लिए किसी विशेष ताप पर जलना प्राकृतिक होता है परन्तु जिन परिस्थितियो के द्वारा वह ताप उत्पन्न किया जाता है वे कृत्रिम अथवा स्वेच्छाचारी हो सकती है। इसीलिए मनुष्यो के लिए कपडा पहनना स्वाभाविक है, यद्यपि जिस विशेष ढग से वे पहने गये है, वे परम्परागत हो सकते हैं। कार्लाइल की सरटार रिसारटस (Sartor Resartus) मे सभी मानवीय परम्पराओ की तुलना कपडो के साथ की गई है। परन्तु कुछ कपडे पहनना उतना ही स्वाभाविक है जितना खाना और पीना। जब रूसो ने यह कहा कि, मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है परन्तु प्रत्येक जगह बन्धनो मे बँधा हुआ है, उससे उसका मतलब सामाजिक नियन्त्रणो की प्राकृतिकता से इन्कार करना नही था, परन्तु कृत्रिमता से प्राकृतिकता का अन्तर प्रदर्शित करना ही था।[1] कोई बात प्राकृतिक है, इस बात का पता तो इससे भी लग जाता है कि कुछ हद तक उसका अस्तित्व प्राणियो मे भी पाया जाता है। पशुओ के बहुत से झुण्डो मे नेता होते हैं और कभी-कभी वे केवल नेतृत्व ही नही करते, परन्तु दवाव भी डालते है। नियन्त्रण की प्राकृतिकता पर बल देने वाले अन्य तरीके निस्सन्देह कम विश्वासोत्पादक हैं। शेक्सपीयर ने यूलिसस[2] के मुँह से तर्क

---

१. जिन विविध तरीकों से समाज अपने सदस्यों पर नियन्त्रण का प्रयोग करता है, उस पर प्रो० ई० ए० रोम महोदय ने अपनी पुस्तक 'सोशल कन्ट्रोल' में प्रकाश डाला है। नियन्त्रण करने वाली संस्थाओं में से राज्य भी एक है, पर शायद प्रो० रोम ने उसके कार्य का कम मूल्याकन किया है। मैकाइवर की 'कम्युनिटी' पृ० स० १५३-८ को भी देखिए।

२ The heavens themselves, the planets and this centre
Observe degree, priority and place,
Insisture, course, proportion, season, form,
Office and custom, in all line of order,
And therefore in the glorious planet Sol
In noble eminence enthroned and sphered

के जिस ढंग का प्रयोग करवाया है, वह बहुत लोगों के लिए अब विश्वसनीय नही रहा है—

> दिव्य-लोक स्वयं, ग्रह, नक्षत्र व केन्द्र,
> ध्यान रखते है क्रम, प्राथमिकता व स्थान का,
> नियम, मार्ग, अनुपात, ऋतु, निर्माण,
> कानून व परम्पराएँ, सबके सब एक व्यवस्था का,
> और इसीलिए तो है यह उत्तम ग्रह-मण्डल,
> अति उत्कृष्टता से प्रतिष्ठित, एक गोलक में अंकित,
> अन्यों के मध्य मे जिसकी सर्वोपचारी आंखें
> सुधार देती हैं, ग्रहों के तुच्छ से अशुभ पहलू को,
> शुभ या अशुभ के प्रति बिना किसी अवरोध के ।

प्रकृति के नियमो को अब इस अर्थ मे नियमो के रूप में नही माना जाता और लोगो की प्रवृत्ति म इस परिवर्तन के कारण सामाजिक नियमो मे विश्वास भी कम हो गया है । विशेषतः बल प्रयोग का तत्व, जो विशेष दशाओं मे अब भी आवश्यक समझा जाता है, सामान्यत दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता माना जाता है । यदि बल प्रयोग को भी नितान्त अनावश्यक समझ लिया जाए तो भी केन्द्रीय-सगठन और मार्ग-दर्शन की विधि का कम महत्त्व अथवा उसकी कम प्राकृतिकता नही रह जाती । किसी भी सरकार की प्रणाली किस हद तक प्राकृतिक है, यह इस बात पर बहुत अधिक निर्भर है कि वह किस हद तक लोगो के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता की पूर्ति करती है । अत यह जानना अच्छा रहेगा कि राज्य की प्रकृति के लिए बल-प्रयोग की विचारधारा कहाँ तक आवश्यक है ।

राज्य की विशेषता यह है कि वह समाज पर नियन्त्रण करने की शक्ति रखता है । एक ऐसी शक्ति रखता है जो अपने आपमे पूर्ण तथा जिस पर कोई शका नही की जा सकती । अतः एच० वॉन ट्रेटस्की[1] (Treitschke) महोदय ने विशेषरूप से यह प्रकट किया कि राज्य की अनिवार्य विशेषता उसकी शक्ति है ।

३. बल के रूप में राज्य

Amidst the other; whose medicinable eye
Corrects the ill aspects of planets evil,
And posts, like the commandment of a king,
Sans check to good or bad.
—Troilus and Cressida.

१. इनकी पुस्तक 'पालिटिक्स' अब अंग्रेजी में प्राप्त है, इसका परिचय श्री बलफोर महोदय द्वारा दिया गया है । इसमें इनके पक्षपात और अतिरंजन के अतिरिक्त भी ग्रहण करने योग्य सामग्री प्रचुर मात्रा में है ।

यह विचार जर्मनी मे बहुत व्यापक था, वहाँ अनेकों कारणों से राज्य पर बल बहुत मजबूती के साथ दिया गया। यह सत्य है कि राज्य एक समायोजित समुदाय है, जिसके निश्चित कानून और लक्ष्य होते हैं, और यदि आवश्यकता अनुभव करे तो उन्हें लागू करने के लिए वह इनका प्रयोग कर सकता है। उसकी शक्ति का प्रयोग दो ढंग से होता है, एक अपने आन्तरिक-नियन्त्रण के लिए और दूसरा अपने बाह्य-संरक्षण के लिए। प्लेटो ने राज्य-शासकों की तुलना पहरे देनेवाले कुत्तों से की है, जो अपने घर वालों के मित्र होते हैं और बाहर वालों के लिए आक्रामक। परन्तु यह बहुत अच्छी तुलना नहीं है। एक बुद्धिमान् शासक बाहर और अन्दर दोनों पक्षों से मित्रता स्थापित करता है। पर जब वह ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने मे असफल होता है, तभी उसे शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह कहना मुश्किल से ही सत्य हो सकता है कि बल ही राज्य का अत्यावश्यक तत्व है। जहाँ कहीं सरकार होती है, वहाँ विरोध की संभावना होती है, और उस विरोध को शक्ति के द्वारा ही जीता जा सकता है। माता-पिता, अध्यापक और उद्योगों के संयोजक दबाव के किसी-न-किसी रूप को अपनाते हैं। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता है कि ऐसे सम्बन्धों के लिये शक्ति एक अत्यावश्यक पहलू है। इस सम्बन्ध मे संभवत राज्य की समानता में निकटतम संस्था औद्योगिक संगठन है। औद्योगिक संगठन को भी अपने भीतर सतोषजनक स्थिति पैदा करनी पड़ती है और बाहर से आने वाली कठिनाइयों और खतरों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है। इन दोनों बातों मे कुछ औद्योगिक ढंग का संघर्ष, उद्योगशाला के संगठन अथवा वहाँ के वातावरण की सामाजिक स्थिति मे कोई दोष आजाने के कारण पैदा हो सकता है। राज्य के बारे मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है। यदि कानून अच्छे बनाये गए हैं तो विद्रोह अपवादस्वरूप ही उठता है, और यदि कोई राज्य अपने पड़ौसी राज्यों के साथ मैत्री से रहता है तो यह आशा की जा सकती है कि पड़ौसी भी उसके साथ मैत्री से ही रहेंगे।

शक्ति पर बल देने का सिद्धान्त कुछ अंशों मे अस्तित्व के लिए संघर्ष नामक जैव सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु प्राणी-जीवन के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग संभवत: कुछ गलत रूप से किया गया है और उससे भी ज्यादा गलत प्रयोग मानव के जीवन के सम्बन्ध किया गया है। वास्तव मे बात यह है कि जीवन का विकास अपनी परिस्थितियों मे सबसे अधिक समायोजन करने वाले प्राणियों के अस्तित्व तथा अपने आपको समायोजित न करने वाले प्राणियों के नाश पर आधारित है। परन्तु प्राणी-जीवन मे भी आक्रामक-क्रियाओं द्वारा इस प्रकार के परिणाम निकलने आवश्यक नहीं हैं और आन्तरिक रूप मे सर्वोच्च-विकसित प्राणियों मे भी ऐसे परिणामों का

उत्पन्न होना तो आवश्यक हो ही नही सकता। मानव-जीवन में सर्वोत्तम रूपों के चुनाव के लिए सघर्ष नही होता वरन् उस सर्वोत्तम रूप को चेतना युक्त प्रयासों से तो प्रोत्साहन मिलता है। सामान्यत युद्ध तो सर्वोत्तम वस्तुओ का नाश सर्वप्रथम करता है। रोग तथा दोष तो निम्न श्रेणियो के प्राणियों का नाश करने मे अधिक समर्थ होते है। सौजिनिकी का विश्लेषण करते समय इस बारे में हम पहले कुछ कह भी चुके है तथा युद्ध-विषयक विशेष समस्या पर हम आगे प्रकाश डालेगे। इसी बीच यह कहना पर्याप्त होगा कि राज्य का सार केन्द्रीय नियन्त्रण मे है, शक्ति मे नही। शक्ति तो केन्द्रीय नियन्त्रण के लिए एक साधन मात्र है।

इस तरह यह प्रतीत होता है कि राज्य का मूल कार्य अपने अन्दर किसी सगठन को बनाये रखना है और उसका दूसरा कार्य उस सगठन की रक्षा करना अथवा जैसे जर्मन लोग इसे कल्टर (Kultur) के रूप मे पुकारते थे। इन दोनो उद्देश्यो की प्राप्ति सरकार अपने दो प्रधान अगो विधान निर्मातृ सभा और व्यवस्थापिका-सभा के द्वारा करती है। केन्द्रीय नियत्रण निश्चित निर्णयो और सघबद्ध-क्रियाओ के द्वारा व्यक्त होता है। उसकी सामान्य-प्रकृति के बारे मे हम पहले ही कह चुके है[1]। राज्य का जीवन बहुत लम्बा होता है और अधिकतर उसके कार्य नियत्रण - प्रणालियो मे निहित अथवा प्रयुक्त होते है, जो बहुत वर्षो तक चलते रहते हैं। राज्य कानून और सस्थाओ मे साकार रूप धारण करता है, जिससे किसी विशेष समय किये गए निर्णयो को कार्य रूप मे परिणत किया जाता है। किसी राज्य का जितना अधिक पूर्ण संगठन होता है, उतनी ही अधिक उसके संविधान द्वारा निर्धारित कार्यो और लागू किये गए नियमो की पूर्त्ति होती है, इसके विपरीत विशेष व्यक्तियो और प्रकारो के निर्णय क्षणिक होते है[2]। सब जगह कानून एक समान हो, यह आवश्यक नही है। बहुत-सी बाते स्थानीय सरकार पर छोड़ी जा सकती है। यदि विभिन्न राष्ट्र एक राज्य मे सयुक्त होते है, तो प्रत्येक के कानून भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उनको शक्ति और अनुदान केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त होते है। सामान्यतः, एक सुव्यवस्थित राज्य को अपने कानून सीधे लागू करने की आवश्यकता नही पडती। वाल्ट ह्विट मैन ने अपनी 'ग्रेट-सिटी' मे यह प्रतिपादित किया है कि लोग 'कानूनों को कानून के

४. कानूननिर्माता के रूप में राज्य

१. अध्याय ३, विभाग ४।

२. इसके बारे में एक विशेष रोचक विश्लेषण प्लेटो के 'स्टेट्समैन' पृ० सं० २६४-३०२ में तथा अरस्तू की 'पालिटिक्स्' खण्ड ३, अध्याय १५ मे देखें।

रूप मे' बहुत कम सोचते है क्योंकि उन्हे वे केवल अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति के रूप मे अनुभव करते है। यदि आवश्यकता पडने पर कानूनो को लागू नही किया जा सकता तो उन्हे हम किसी राज्य के कानून नही कह सकते हैं, उन्हे हम प्रथाएँ, नियम अथवा नैतिक शिष्टाचार कह सकते है, परन्तु राज्य के कानून नही। अत यह सत्य है कि राज्य की गतिविधि के पीछे सदैव शक्ति सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार हम देख सकते है कि किस अर्थ मे यह सत्य है कि बल राज्य के जीवन मे एक अनिवार्य तत्व है। प्रत्येक वास्तविक निर्णय को, चाहे वह किसी व्यक्ति का हो, या समाज का, प्रभावपूर्ण बनाने के लिए साधनो की आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति द्वारा कोई ऐसा निर्णय करना, जिसे प्रयोग मे न लाया जा सके, पागलपन ही कहा जाएगा और यही बात प्रत्येक व्यवस्थित-समाज अथवा निगम के बारे मे भी सत्य है। किसी राष्ट्र मे उसके कार्य को लागू करने के साधन राज्य द्वारा दी गई शक्ति पर निर्भर होते है। जब एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का प्रयोग करने का निर्णय करता है, तो उस निर्णय को कार्य रूप मे परिणत करने का उसका विश्वास इस ज्ञान पर आधारित होता है कि उसे अपने देश के कानून का समर्थन प्राप्त है तथा आवश्यकता पडने पर आरक्षी विभाग भी उसका समर्थन करेगा। और अतत. इस प्रकार के नियन्त्रण-प्रकारो की सफलता जल और स्थल सेना पर आश्रित है।

अत राज्य के निर्माण मे आवश्यक तत्व के रूप मे शक्ति के विचार का खण्डन उसके महत्त्व को कम नही करता। शक्ति पर प्रशियन लोगो का ही एकाधिकार नही है। कार्लाइल, जो शक्ति को राज्य के सार के रूप मे नही समझता, कम-से-कम सिद्धान्तरूप मे, उसके प्रयोग के लिए उतना ही दृढ दिखाई देता है जितना कोई भी प्रशियन हो सकता है। 'माधुर्य और प्रकाश' का पोषक भी अपने पिता के कथन से सहमति प्रकट करता है[1] कि "उपद्रव के बारे मे, रोमन लोगो का उसके साथ व्यवहार करने का ढग सही था कि हर एक सिपाही के कोडे लगाओ और उसके सरदार को तारपीयन की चट्टान से लुढका दो।" इसमे माधुर्य नही है। उपद्रव हमेशा प्राय कुछ वास्तविक कठिनाइयों व दु खो के कारण होते है और उसे हटाने के लिए अवश्य ही कोई अन्य उपाय अपनाना चाहिए। यह सत्य है कि अन्त मे, सैन्य-शक्ति का सामना सैन्य शक्तिसे ही होता है[2]। अतः यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिको की रक्षा करे और कानून लागू करे। यह प्रसन्नता की बात है कि जब पर्याप्त सैन्य-शक्ति होती है तो उसके प्रयोग की आवश्यकता शायद ही कभी होती हो।

---

१ 'कल्चर एण्ड अनार्की'।

२ श्री जे० ए० हाब्सन · 'टुवर्ड्स इण्टरनेशनल गवर्नमेंट', पृ० स० ८७ ८६।

हम पहले ही देख चुके है कि संगठन के सबसे अधिक निश्चित दो रूप—परिवार और राज्य है। ये दोनो मनुष्य के जीवन मे व्यापक रूप से उपस्थित हैं और उसके सभी प्रमुख पहलुओ से सम्बन्धित होते है। परिवार निस्सन्देह राज्य के अधीन होता है। राज्य उसके निर्माण और उसकी रक्षा के लिए, और यदि आवश्यकता पड़े तो, उसकी समाप्ति के लिए भी शर्तें निर्धारित करता है। कानून बनाते समय राज्य चालू प्रथाओ और धार्मिक परम्पराओ का प्रयोग कर सकता है। सामान्यतः राज्य परिवार को स्वतन्त्रता का अश देता है, वह माता-पिता को उसके हितो के सरक्षक के रूप मे समझता है और अत्यधिक अन्याय के समय अथवा जब कोई विशेप प्रार्थना की जाए तभी उसमे हस्तक्षेप करता है। साराश मे परिवार साम्राज्य के अन्तर्गत एक ऐसा साम्राज्य है, जिसके विशेष कार्य और अपने हित होते है।

५. राज्य और परिवार

तथापि, सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित सगठन की ये प्रणालियाँ आपस मे कुछ विरोधी रूप भी धारण कर सकती है। इस पर प्लेटो ने बहुत बल दिया है। उसने सरक्षक के रूप मे पारिवारिक जीवन के विचार को ठीक नही समझा और स्त्री तथा पुरुप के कार्य को अलग-अलग समझाने की चेष्टा की है। यदि यह हम स्वीकार कर लेते है कि परिवार का प्रमुख उद्देश्य बचपन के प्रारम्भिक वर्षों मे देखभाल करना है, तो यह एक ऐसा कार्य है जो राज्य के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इस कार्य को स्वभावतः ही माता और पिता दोनो को, या विशेष तौर पर माता को सौप दिया जाता है। शैशव के आरम्भिक-काल के व्यतीत हो जाने पर माता-पिता के हाथ से बच्चे की शिक्षा का इन्तजाम अधिक-से-अधिक रूप मे राज्य अपने हाथ मे ले लेता है। शैशव-काल मे भी यह देखा जा सकता है कि राज्य बच्चे के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध मे माता-पिता के प्रति कुछ नियन्त्रण लगाता है और वह उनके आपसी-व्यवहार तथा सम्पत्ति सम्बन्धी बातो पर नियन्त्रण लगाता है। उचित प्रकार से निर्मित परिवार और राज्य परस्पर विरोधी प्रतीत नही होते[1]; वरन् परिवार विशाल नागरिक-जीवन के लिए शिक्षण का एक सर्वश्रेष्ठ आधार हैं—उस नागरिक-जीवन के लिए जो राज्य के संगठन के रूप मे विशाल रूप से सगठित है।

विशेषरूप से राज्य का कार्य संगठन का है, अतः उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह शिक्षा के सार और उसके विभिन्नरूपो के साथ सन्तोषपूर्वक

---

१. श्रीमती बोसाके : 'दि फैमिली'।

व्यवहार कर सकेगा। वह अध्यापको की तैयारी और बच्चो के शिक्षणके लिए एक मशीनरी मुहेया कर सकता है और इस कार्य को सन्तोषप्रद रूप से और योग्यता-पूर्वक सम्पन्न करवाने के लिए निरीक्षण की सुन्दर व्यवस्था भी कर सकता है। इसके साथ यह सन्देहास्पद रह जाता है कि क्या राज्य का उसमे दखल देना वाञ्छनीय हो सकता है। यदि राज्य के कर्मचारी बच्चो से व्यवहार करने का अनुभव रखते है और श्रेष्ठ शैक्षणिक विधियो के ज्ञाता हैं तो भी वे एक शासकीय-मशीन के पुर्जे है, और उन्हे निरन्तर बच्चो के उभरते हुए दिमाग और बदलती हुई परिस्थिति के सम्पर्क मे रहने वालो की बजाय यह कार्य करने मे बहुत कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। यदि शिक्षण-तत्त्व राज्य द्वारा तैयार किया गया है, तो यह एक जीवन-हीन तत्त्व होगा, इसका इतिहास एक पथभ्रष्ट इतिहास होगा, इसका धर्म एक पुरातनवादी-धर्म होगा, इसकी नैतिकता एक रूढगत नैतिकता होगी और अन्य वे सब विषय जिनके साथ इसका सम्पर्क होगा सब-के-सब कुछ पाषाण जैसे निष्प्राण हो जाएँगे। इसका कार्य तो केवल अभिनेताओ के लिए उचित मँच तैयार करना है, उसमे सक्रिय-भाग लेना नहीं।

६. शिक्षक के रूप मे राज्य

दो प्रमुख तरीको से हम राज्य और नैतिकता के सम्बन्ध मे विचार कर सकते है। उनमे से पहला यह है कि किन अर्थों और अशो मे यह स्वय नैतिकता के विचारो मे बँधता है और दूसरे किस सीमा तक यह अपने नागरिको मे नैतिकता का प्रचार करता है। प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि जो लोग राज्य को शक्ति के रूप मे प्रस्तुत करते हैं, वे इसे पूर्णत नैतिकता की आवश्यकता से बाहर कर देते है अथवा उसकी शक्ति की सुरक्षा की आवश्यकता पर ही अधिक बल देते है। इससे इकार नही किया जा सकता है कि यह बात महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि राज्य को शक्ति के रूप मे देखना एक अपूर्ण विचार है। वह अपनी सीमाओ मे न्याय करने का अधिकारी है, और बाहर के लोगों से सुरक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। इस प्रकार उसे इन दो उद्देश्यो की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त शक्ति की आवश्यकता पडती है। परन्तु यदि वह केवल शक्ति पर ही आधारित है तो वह सरलता से न्याय नही कर सकता। यदि उसके कार्यो के बारे मे यह कहा जाए कि "आवश्यकता अन्धी है और उसे किसी नियम की चिन्ता नही", तो उसके नागरिको से यह आशा नही की जा सकती कि वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्त्ति करते समय इसी सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करेंगे। यदि वह अनैतिकता से अपने पडोसी राज्य को लूटता है, तो वह अपने नागरिकों को अपने पडौसियो को लूटते समय केवल

७ राज्य और नैतिकता

शक्ति के द्वारा ही रोक सकता है। जहाँ नैतिकता केवल शक्ति पर ही आधारित होती है वहाँ नैतिकता का अभाव ही होता है। बटलर[1] ने केवल शक्ति और वैधानिक शक्ति के बीच जो अन्तर स्थापित किया है, उसे राज्य और व्यक्ति दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है। यह सत्य है कि एक राज्य के कार्य एक व्यक्ति के कार्यों से भिन्न होते है। राज्य अपने कार्यों को तर्कसगत रूप से कर सकता है, पर व्यक्ति उन्हे तर्कसगत रूप से नही भी कर सकता। परन्तु दोनो के कार्य सही तथा गलत तो होगे ही। इस विषय मे अधिक विचार नीति-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के ग्रन्थो पर छोड़ दिया जाना चाहिए।[2]

दूसरे प्रश्न के उत्तर मे बहुत कुछ अशो मे वही लागू होता है, जो पिछले प्रश्न के उत्तर मे कहा जा चुका है। यदि नैतिकता का प्रयोग शक्ति से नही किया जाता, तो राज्य के साथ मूलत. उसका सम्बन्ध एक शैक्षणिक ही रह जाता है। मेरा विचार है कि यह कहना उचित ही होगा कि प्रत्यक्ष रूप मे नैतिकता को प्रोत्साहन देना राज्य का कार्य नही है। अरस्तू ने इसी सम्बन्ध मे नीति-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र मे जो अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह अप्राकृतिक नही है, क्योकि उसमे ग्रीक नागरिको के जीवन की, उनके राज्य मे समायोजित होने की एक सम्पूर्ण विधि प्रदर्शित की है। यह स्पष्ट है कि अपने नागरिको को शिक्षा प्रदान करना राज्य के कार्यो मे से एक है और उसमे नैतिक-शिक्षा का स्थान भी होता है। परन्तु यह निश्चय करना किसी राज्य के लिए बुद्धिमत्ता पूर्ण नही कि शिक्षा का सामान्य प्रकार क्या हो। शैक्षणिक-सस्थाओं के स्वय अपने विशेष कर्त्तव्य होते है, जिस प्रकार परिवार के। राज्य का कार्य तो इन सस्थाओ की रक्षा करना और यह देखना रह जाता है कि ये सस्थाएँ ठीक कार्य कर रही है। उसका यह कर्त्तव्य नही कि उनकी जगह वह स्वयं काम करने लगे। फिर विधि-निर्माण का उद्देश्य कुछ विशेष प्रकार की नैतिक गलतियो का सुधार करना है, परन्तु यदि वही एक परिवार के जीवन में, अथवा व्यक्तियो के जीवन मे, अथवा सम्पत्ति की रक्षा मे बाधक बनता है तो वह स्वयं एक उन्मत्त की तरह अपराध करता है। परन्तु राज्य का कार्य तो सामान्यत. पूर्वोक्त प्रकार के कार्यो से रक्षा करना है और मुख्य रूप से खतरो और प्रलोभनो को दूर करना है। इस प्रकार से राज्य का कार्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिकता को सक्रिय प्रोत्साहन देना ही है।[3]

---

१. 'सर्मन्स आफ ह्यूमन नेचर।'

२ इस अध्याय के अन्त में प्रस्तुत राज्य के सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवेचन तथा खण्ड ३ के अध्याय १ के ५वें भाग को भी देखें।

३ ग्रीन' 'प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटिक्स आब्लिगेशन' तथा बोसाके की पुस्तक 'फिलासफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट'।

सरकार के अनेको विभिन्न रूपो का वर्णन किया गया है। प्लेटो ने पाँच, अरस्तू ने छ. और आधुनिक कई विद्वानो ने और भी अधिक सूक्ष्म भेद किए है। यदि हम सभी सभव भेदो पर

८. सरकार के प्रकार

विचार करें तो सख्या बहुत लम्बी हो जाएगी, परन्तु यह सन्देहास्पद है कि इसकी दो आधारभूत, अल्प-जनतन्त्र तथा लोकतन्त्र की पद्धतियो के अतिरिक्त अन्य भेद भी प्रदर्शित करने चाहिए या नही ? यद्यपि कुछ सरकारो को राजतन्त्रिक कहा जाता है, और उन्हें निरकुश शासन से भिन्न प्रदर्शित किया जाता है, फिर भी व्यवहार मे शासको की प्रभुसत्ता उनके सलाहकारो के परामर्श से ही चलती है। कम-से-कम जहाँ ऐसा नही होता है और जहाँ शासक यह कह सकता है, चाहे वह दिखावट की ही बातें हो, कि 'मै ही राज्य हूँ', वहाँ समाज राज्य का निर्माण करने वाला नही समझा जा सकेगा। ऐसी अवस्था मे वास्तव मे उसे किसी बाह्य शक्ति द्वारा ही नियन्त्रित समझा जाएगा। फिर जैसे प्लेटो ने कहा है कि लोकतन्त्र को भी एक अराजकता माना जा सकता है, जिसमे सरकार का कोई रूप नही होता। साराश मे यह कहना सत्य है कि एक वास्तविक सरकार के साथ चाहे एक वास्तविक राज्य हो, हर सरकार या तो कुछ थोडे स्वतन्त्र लोगो के हाथ मे होगी अथवा वह पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले लोगो के हाथ में होगी। अल्पतन्त्र और लोकतन्त्र की भी पद्धतियाँ विभिन्न हैं। एक अल्पतन्त्र मूल रूप मे एक अभिजाततन्त्र हो सकता है, जिन्हे विशेषज्ञ या बुद्धिमान् कहा जा सकता है, वह एक आनुवशिक, सैन्य-वर्ग या सम्पत्ति शाली लोगो की सरकार भी हो सकती है। एक वास्तविक अभिजाततन्त्र सब लोगो का प्रतिनिधि भी हो सकता है, इसलिए वह लोकतन्त्र के कुछ समकक्ष हो सकता है। अन्य पद्धतियाँ तो लगभग निरकुश-शासन के समान होती हैं, अर्थात् वह एक ऐसी सरकार होती है जो तत्त्वतः उनके लिए बाहर की होती है। फिर, लोकतन्त्र का अर्थ भी बहुमत वाले लोगो का शासन अथवा बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ थोडे से निर्वाचित व्यक्तियो का शासन अथवा थोडा कम स्वेच्छाचारी तरीके का शासन होता है। यह स्पष्ट है कि एक विशाल समाज मे, कुछ अशो मे एक सरकार अवश्य ही प्रतिनिधि के रूप मे होनी चाहिए। अतः इसका मतलब फिर यह हो जाता है कि वह सरकार धनवानो अथवा विशेषज्ञो या वक्ताओ की होती है। इस प्रकार सरकार की विभिन्न पद्धतियो का सूक्ष्म भेद नही किया जा सकता। एक सुव्यवस्थित सरकार जनता के हृदय मे अवश्य ही स्थान बना लेती है और कुछ अशो मे शासन भी अच्छा होता है। प्रधान प्रश्न केवल सरकार के ढग, उसमे इन तत्वो के आपसी मेल

और उनके उत्साह से काम करने के बारे मे रहता है। एक आधुनिक विद्वान्[1] ने यह कहा है, कि "इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण सवक यह है कि सरकार की पद्धति का मूल्य केवल उसके प्रकार पर आधारित नही है, परन्तु प्रधान रूप से उसकी भावना पर आधारित है।" परन्तु उसकी भावना उसके ढाँचे द्वारा अवश्य प्रभावित होती है। पोप की ये पक्तियाँ—

"सरकार के ढांचे के बारे मे मूर्खों को लड़ने दो;
जो सर्वोत्तम ढंग से शासित है वही सर्वोत्तम शासन है।[2]

तभी सही कही जा सकती हैं जब सरकार के प्रकार को औपचारिक रूप मे समझा जाए। परीक्षण का प्रश्न मुख्यत सुशासित सरकार पर आता है। परन्तु वह किसी सामान्य प्रकार पर इतना आधारित नही होता, जितना किसी सरक्षण पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए किसी राज्य के प्रधान व्यवस्थापक को सम्राट्, राजा अथवा राष्ट्रपति कहने से कोई विशेष अन्तर नही पडता जबतक कि वह जो कुछ करता है वह अपनी प्रजा के सुविज्ञ नागरिको के विचारो के साथ अपने विचारों का सामञ्जस्य स्थापित नही करता। सरकार के सभी साधनो का यदि कुछ भी महत्त्व है, तो वे केवल इसी उद्देश्य की पूर्त्ति करते है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे कोई भी सरकार आसानी से प्राप्त नही कर सकती, चाहे वह अधिक से-अधिक लोकतन्त्रीय ही क्यो न हो।

राष्ट्रपति लिंकन की उक्ति "जनता द्वारा, जनता के लिए जनता की सरकार" को लोकतन्त्र की परिभाषा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। यदि इसका विस्तृत विश्लेषण किया जाए तो इसे किसी भी अच्छी सरकार की विशेषता कह सकते हैं। दूसरी तरफ यदि सीमित अर्थ मे लिया जाए तो इसे किसी भी प्रकार की सरकार के लिए प्रयुक्त करना कठिन है। सरकार का वास्तविक कार्य लोगों के एक छोटे से हिस्से द्वारा कभी भी नहीं चल सकता। कभी-कभी इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि सरकार का कार्य किन्ही विशिष्ट क्षणों मे ही होता है, जब कि लोगो का जीवन कई पीढियों तक बिखरा पड़ा रहता है। परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि सरकार की व्यवस्था करने वाला जनता का भाग सम्पूर्ण जनता मे से सब से अधिक बुद्धिमत्तायुक्त और सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिए।

---

१. हिल, 'दि पीपल्स गवर्नमेन्ट' की भूमिका, सं० पृ० ७।

2. For forms of government let fools contest,
whatever is best administered is best—

—Pope

किसी आधुनिक विशाल राज्य के कार्यो का नियन्त्रण व्यावहारिक रूप से पूर्णत किसी एक केन्द्रीय प्राधिकारी मे निहित नही किया जा सकता। जैसे

९ स्थानीय सरकार

हम पहले कह चुके है कि चाहे तो राज्यो के अन्तर्गत राज्य हो अथवा कुछ अशो मे स्वतन्त्र राष्ट्र हो, कुछ भी हो, नगरपालिका और जिले अपने स्थानीय कार्यो मे कुछ अशो मे स्वतन्त्र होगे और परिवार, धार्मिकस्थान, उद्योगशाला,, वाणिज्य-सस्थान तथा सामाजिक सगठन आदि भी अपने एक सीमित क्षेत्र मे स्वाधीन होगे। आमतौर पर सरकार के ये कुछ ऐसे प्रकार है जिनमे राज्य की विशाल सरकार की सामान्य भावना का पता चलता है। एक पैतृक पद्धति की सरकार के अन्तर्गत सामान्यतः एक परिवार का पिता किसी लोक-प्रिय सरकार के व्यक्ति की अपेक्षा अपनी छोटी-सी परिधि मे अधिक बडे प्राधिकारी का रूप धारण कर लेगा, परन्तु ऐसी भिन्नताएँ यहाँ प्रदर्शित करना आवश्यक नही।

राज्य की सामान्य प्रवृत्ति फैलाव की है और फैलाव का अर्थ उसमे कुछ

१० राज्य का क्रम विकास

परिवर्तन आना होता है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्न प्रकार के होते है—(१) नागरिको और राज्यो का सम्बन्ध सविदा रूप से कुछ अधिक होता है[1]। सामान्यत यह माना जाता है कि किसी राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे इस प्रकार की किसी सविदा की आशा करना भूल ही होती है। परन्तु ज्यो-ज्यो वह बढता है, अधिक से अधिक सविदाएँ स्थापित होती है, उनमे से कुछ को निस्सन्देह प्रारम्भ मे ही स्थापित समझना चाहिए। परन्तु उनका प्रारम्भ सामान्यत: प्रथा अथवा शक्ति पर आधारित वर्ग-भेद की स्वीकृति पर ही होता है और उनका अन्त कानून पर आधारित सविदा के रूप मे।

(२) प्रारम्भिक-काल के राज्य, यूनान के नगर राज्यो की तरह अथवा कम से कम छोटे समुदायो के रूप मे थे। वे अपनी पर्याप्त सुरक्षा की शक्ति और आन्तरिक विभिन्नता के अभाव मे असफल रहे। अत राज्यो को सयुक्त करने के प्रति लोगो की रुचि हुई। प्रारम्भ मे कुछ शिथिल रूप मे सगठित राज्य थे और बाद मे अधिकाधिक संगठित होते गए। वे विस्तृत साम्राज्यो के रूप तक पहुँचे, उनमे उपनिवेश और आश्रित राज्य मिलाये गए। फिर यह प्रगति थोडी या अधिक विघटनकारी आन्दोलनो द्वारा स्थानीय स्वय-सचालन की

---

१ श्री मेंने द्वारा रचित 'एनशेंट ला' के अ० ५ में यह प्रवृत्ति अतिरंजित रूप से प्रकट हुई है। सर एफ पोलक के संस्करण के नोट को भी देखिए।

की दिशा की ओर प्रवृत्त हुई। साम्राज्य राष्ट्रमण्डल के रूप मे परिवर्तित हुए और शायद इसके तुरन्त बाद पृथक् २ राज्यो के रूप मे फैले। ऐसे पृथक् पृथक् राज्य परस्पर एक-दूसरे के साथ कुछ सामान्य सम्बन्ध रखते है और किसी विशेष उद्देश्य के लिए तुरन्त संगठित हो जाते है। उदाहरणस्वरूप, एक मनुष्य के लिए 'एक अच्छा यूरोपियन' बनाना सम्भव है, क्योकि सारे यूरोप मे एक समता है, जो उसे रोमन-साम्राज्य द्वारा मिली[1]। इस प्रकार की समानता से फिर हम एक व्यापक ढग के संगठन की ओर बढते है, जिसमें अनेको दूसरे राष्ट्र भी भाग लेते है, और सभवत वह संगठन शीघ्र ही विश्व-सगठन का रूप धारण कर सकता है। परन्तु यह व्यापक तथा विचारणीय विषय है, जिस पर हम आगे के अध्यायो मे प्रकाश डालेगे। राज्यो के इन सम्बन्धो और उनके इन ढाँचो मे वास्तविक प्रगति तभी सभव हो सकती है, जब वे सामान्य-इच्छा अथवा सामान्य-उद्देश्य को अधिकाधिक रूप मे साकार बना सके और मानवता के सामान्य हित की ओर बढ सके, किसी दूसरे अर्थ मे हमारी प्रगति अवनति ही होगी।

राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों पर टिप्पणी

राज्य के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे पूर्ण विचार करना तो राजनीति-शास्त्र का विषय है। यहाँ समाज-दर्शन की सामान्य रूपरेखा जैसी रचना मे उसकी वाह्य रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु राज्य सम्बन्धी विचारो का एक विशेष महत्त्व होने के कारण यहाँ उनके बारे मे एक सक्षिप्त टिप्पणी जोड देना अधिक उपयुक्त होगा। इन महत्त्वपूर्ण विचारों को हम निम्नलिखित भेदो के रूप में प्रस्तुत कर सकते है :—

(१) राज्य एक व्यक्तित्व के रूप मे (२) राज्य एक अति-वैयक्तिक इकाई के रूप मे, (३) राज्य एक परम व्यक्तित्व अथवा अपौरुषेय शक्ति के रूप मे, (४) राज्य एक यन्त्र के रूप मे, जिसके अनुसार वह उन व्यक्तियो का भार वहन करता है, जो उसका निर्माण करते है, तथा (५) राज्य एक प्राकृतिक साहचर्य पद्धति के रूप मे, जिसका अपना एक विशेष मूल्य और विशेष कार्य होता है। इनमे से प्रत्येक पर कुछ सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किये जा रहे है।

इस विचार के लिए ब्लुँटशी की परिभाषा एक विशेष अभिव्यक्ति के रूप

---

१. यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की उत्पत्ति का कारण उस समय की परिस्थितियाँ थीं। एकत्व की भावना ईसाई-धर्म द्वारा ही संभव हो सकी। बाद में ये शक्तियाँ केन्द्रीय रूप धारण करने लगीं, जिससे वे संकुचित होती गई।

मे प्रयुक्त हो सकती है। उसका कहना है,[1] "राज्य लोगों का एक सगठन अथवा एक साहचर्य है, जो एक निश्चित प्रदेश शासक और शासित और परस्पर सम्बद्ध पुल्लिग व्यक्तित्व के रूप मे सगठित है।" अन्तिम विशेषरण ब्लुटशीने विचित्र मान्यता के कारण रखा है। उनका कहना है कि राज्य पुल्लिग है और चर्च स्त्रीलिंग है। ऐसा लगता है कि उनकी मान्यता के पीछे इसके सिवाय कुछ भी आधार नही है कि जर्मनी मे लोग राज्य और चर्च को इन्ही लिगो मे प्रयुक्त करते रहे हैं। यह सत्य है कि शब्दो के लिंग को निर्धारित करना एकदम अपनी इच्छा का विषय नही है। मेरा विचार है कि यह स्वीकार किया जा सकता है कि राज्य के कुछ भागो का काम स्त्रियो की अपेक्षा स्वभावतः पुरुषो से अधिक सम्बन्धित है और स्त्रियाँ अधिकतर परिवार तथा चर्च के काममे लगी रहती हैं। परन्तु ब्लुटशी ने तो इस पर अतिरजित ढग से बल दिया है।[2]

१. राज्य एक व्यक्ति के रूप मे

राज्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट है कि शाब्दिक रूप से हम इसे नही रख सकते,[3] और ऐसे विषय मे रूपक आदि बाँधना भी खतरे से खाली नही है। फिर यह भी सत्य है कि राज्य कुछ ऐसी विशेषताओ से युक्त होता है जो पुरुष से सम्बन्धित होतीं हैं। विशेषतः राज्य निर्णय करता है, उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करता है और उनके लिए उत्तरदायी होता है। पर ऐसा तो एक बैंक अथवा फुटबाल क्लब के सम्बन्ध मे भी होता है, परन्तु मेरा विचार है कि उन्हें कोई भी एक व्यक्ति के रूप मे नहीं मानेगा। किसी राज्य के बारे मे प्राय यह कहना कठिन है कि निर्णयो के लिए उत्तरदायित्व कहाँ है। एकतन्त्रीय शासन मे राजा प्राकृतिक रूप से ही उत्तरदायी होता है, यद्यपि वह अपने परामर्श-दाताओ के दबाव पर भी बहुत अधिक आश्रित होता है। ब्रिटेन मे यह कहा जाता है कि "राजा कोई अशुभ नही कर सकता है" और सामान्यतया प्रशासन कार्यों का उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री पर होता है। परन्तु कई महत्व के मामलो मे निर्णय का उत्तरदायित्व विशेष अधिकारियो अथवा किसी सरकारी सस्था पर आधारित होता है। कुछ भी हो यह उत्तरदायित्व कुछ लोगों अथवा कुछ लोगो के एक मण्डल पर ही मढा जाता है।[4] यह सत्य है कि लोकतन्त्रीय देशों पर बाहर के

---

१ थ्योरी आफ स्टेट, भाग १, अध्याय १।

२ कुछ आलोचनाओं के लिए श्रीमती वोसाके की पुस्तक 'दि फेमिली' में पृ० सं० २८६ देखिये।

३ यह हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं, देखिए (खण्ड १, अ० २, ६५) कि इसे एक वैधानिक विधि द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है।

४ ध्यान देने की बात है कि डा० वोसाके पहले इससे इन्कार करते थे, परन्तु अब कुछ अशों में अपने विचारों को बदल दिया है। उनकी पुस्तक 'सोशल एंड नेशनल आइडियल' पृ० २६० देखिए।

लोगो के विचारों का प्रभाव विशेषत. पडता है परन्तु यही बात व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्तियो पर भी लागू होती है।

राज्य के सम्बन्ध मे अपौरुषेय अवधारणा फिश्ते और हेगेल से सम्बन्धित है। मेरे विचार मे इस समय ब्रिटेन मे डा० बोसाके इसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि के रूप में हो सकते हैं। हेगेल ने राज्य को

२. राज्य का अपौरुषेय रूप

ईश्वर तक कहा है और इस अवधारणा के सभी समर्थकों ने राज्य को कुछ सदस्यो के सर्वोत्तम आदर्शों का साकार रूप बतलाया है। पर इस विचार के समर्थक मैथ्यू आर्नल्ड न राज्य को 'हमारा सर्वोत्तम एकत्रित अश व राष्ट्रीय सत्य के चिन्तन का उत्तम स्वरूप'' बताया है। डा० बोसाके के अनुसार वह राष्ट्र की 'यथार्थ-इच्छा' की अभिव्यक्ति है, जिसमे विशेष व्यक्ति केवल आशिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। यह स्वीकार करना पडेगा कि ऐसी विचारधाराओ को पूर्णतः आदर्श राज्य के बारे मे ही प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु जिन विद्वानो का यहाँ उल्लेख दिया गया है, वे सामान्यतः इस बात के लिए तुले हुए हैं कि यदि आदर्श को व्यावहारिक रूप मे परिणत नही किया जाता तो उसका कोई मूल्य नही है। परन्तु क्या यह अवधारणा राज्य पर भी लागू होती है ? यह स्वीकार कर लिया गया दीखता है कि विज्ञान. कला और धर्म के विकास मे उच्चतर मानवीय क्रियाएँ राज्य के वैधानिक क्षेत्र से हमे वहुत कुछ दूर ले जाती है, यद्यपि इस प्रकार के प्रोत्साहन और क्रियाओ की रक्षा करना राज्य के कार्यो का ही निश्चित भाग है। सभी प्रकार के रचनात्मक कार्य जैसे, आविष्कार, अनुसधान और शैक्षणिक-प्रयोगो आदि के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही दीखता है। पर ये सब केवल वैयक्तिक आदर्शो पर आधारित होते हैं और आदर्श राज्य भी उन्हे वैसे ही लोगो पर छोड देते है। एक राज्य कवियो, सन्तो, या विचारको का निर्माण नही कर सकता। अत यही ठीक होगा कि वह न तो उन्हे कुचले व सताये और न उन्हे अन्यो के द्वारा कुचला जाने दे। यह और भी अच्छा होगा कि वह उन्हे कुछ ठोस प्रोत्साहन दे। परन्तु वे लोग तो भूतकाल की तरह अपनी भविष्य मे प्राप्त होने वाली प्रेरणाओ को राज्य से सम्बन्धित स्रोतो की अपेक्षा अन्य स्थानो से प्राप्त करते है। राज्य तो अपनी परिभाषा के अनुसार, प्रमुख रूप से कानूनो के निर्माण और उन्हे कार्यो के रूप में परिणत करने, सामूहिक अध्यवसायो के आयोजन, आन्तरिक शान्ति के स्थापन, निर्धनता के अवरोध, समाजिक मूल्यो के सभी कार्यो की रक्षा और उनके प्रोत्साहन से सम्बन्धित होता है। प्रत्येक राज्य के लिए यह पर्याप्त है, चाहे वह कैसा भी आदर्श राज्य ही क्यो न हो ? किसी चीज की रचना करना व्यक्तियो तथा ऐच्छिक सघो का काम है।

परन्तु उनकी रक्षा करना, उन्हें प्रोत्साहित करना तथा संगठित करना राज्य का काम है।

बल अथवा शक्ति के रूप मे राज्य के सम्बन्ध मे हम पहले ही विचार कर चुके है। परन्तु यहाँ यह विचार करेंगे कि इसका बल के साथ क्या सम्बन्ध है।

३ राज्य एक बल के रूप मे

कभी-कभी कहा जाता है कि ट्रेटस्की का सिद्धान्त फिश्ते और हेगेल से लिया गया है, और मुझे विश्वास है कि इसमे कुछ सचाई भी है। वे सभी लोग उस समय के प्रशिया की विशेष परिस्थितियो से बहुत अधिक प्रभावित थे। सामान्यत सामाजिक और राजनैतिक विद्वानो के विचारो पर स्थान की परिस्थितियो का ध्यान रखे बिना विश्लेषण करना एक बडी भूल होगी। यहाँ तक कि महान् दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू तक मानवातीत नही कहे जा सकते है। वे भी केवल मानव ही थे और इस परिवर्तनशील संसार मे रह कर उसे अपनी आखो से देखते हुए चिन्तन करते थे। हेगेल तो इस बात को अच्छी तरह समझता ही होगा। फिश्ते और हेगेल दोनो ने एक ही समय मे जर्मन जनता को उनकी राष्ट्रीय एकता का बोध कराने और उन्हे प्रशिया की सी राजनैतिक-दिशा मे प्रेरित करने के लिए लिखा। ट्रेटस्की ने उस समय लिखा जब उसके अपने आशिक प्रभाव म देश ने यह ध्येय प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार उन सभी ने राज्य की एकता और उसके नियन्त्रण पर विशेष बल दिया। और सम्भवत. यह भी सत्य हैं कि उन सभी ने अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्तियो से काम लिया। ट्रेटस्की ने तो अपने अतिशयोक्तिपूर्ण कथन मे फिश्ते और हेगेल को मात ही कर दिया। वह एक दार्शनिक की अपेक्षा वक्ता और इतिहासकार अधिक था, इसलिए उसके अतिरजन मे कुछ कारण भी हो सकता है। यदि फिश्ते और हेगेल की तरह हम भी राज्य को एक महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय स्थान दें तो यह स्वत: सिद्ध है कि उसका महत्त्व उसके बल पर ही आधारित होगा। अवकाश (अरस्तू के कथन के अनुसार) जिस पर सभी मानवीय उच्च क्रियाएं आधारित होती है मुख्यतया राज्य के बल से ही प्राप्त और रक्षित किया जा सकता है। इस विषय मे यह कहना थोडी-सी अतिशयोक्ति होगी कि राज्य ही तत्त्वत: शक्ति है। यह एक ऐसी अतिशयोक्ति होगी जिसमें स्वभावत जर्मनी फंस गया और वहाँ यह तत्त्व महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर गया। जर्मनी की एकता 'रक्त और शस्त्र' से प्राप्त की गई थी। इतने पर भी उसे पूर्णतया सफलता नही मिली। कुछ अंशो मे जर्मनी अब भी एक पूर्ण राज्य आदर्श राज्य नही है, की तो बात ही क्या। वरन् बेलोक तथा कुछ अन्य विद्वानो ने यह ठीक ही कहा है कि वह निरंकुश सैनिक शासन के अन्तर्गत राज्यो का एक समूह है, अथवा जैसा प्लेटो ने कहा था कि वह विशुद्ध सैनिक शासन है। ऐसे राज्यो के सम्बन्ध मे विशेषत: यह

सत्य है कि उनका सारतत्त्व बल ही होता है। इस प्रकार से ट्रेटस्की ने तो जो देखा वही कुछ कहा परन्तु वह ऐसी परिस्थिति थी कि जिससे जर्मनी अन्य पहलुओ मे श्रेष्ठ होने पर भी विश्व-सभ्यता के लिए भयकर खतरा बन गया।

हेगेल महोदय ने निश्चय ही यह नही कहा कि राज्य एक बल है। डॉ० बोसांके ने हाल मे ही एक उद्धरण की ओर ध्यान दिलाया है जिसमे उसने बल के दावे का जोरदार शब्दों मे खण्डन किया है। यह स्मरण रखने की बात है कि ट्रेटस्की ने किसी प्रकार की शक्ति का समर्थन नही किया परन्तु वह तो एक उच्च सभ्यता का समर्थन करने वाले एक सुव्यवस्थित राज्य के बल के समर्थक है। यद्यपि उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक राज्य मे एक सेना होनी चाहिए, परन्तु उन्होने यह नही कहा कि किस प्रकार का बल राज्य का निर्माण करता है। अतः हेगेल ने नेपोलियन की शक्ति की जो भर्त्सना की है, उसे उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करना उचित नही होगा। नेपोलियन के बल की अन्तिम असफलता के दृष्टिकोण से ट्रेटस्की इसका खण्डन और भी अच्छी तरह करता। नेपोलियन को राज्य के बल का प्रतिनिधि भी कठिनाई से ही कहा जा सकता है। वह तो राज्यो के लिए आतक था, और उसके प्रशसक लोग सामान्यतः राष्ट्रीय शासन के शत्रु थे। यह सत्य है कि हेगेल ने बल और राज्य की एकता को उस अर्थ मे नही लिया जिसमे ट्रेटस्की ने लिया है। वास्तव मे ट्रेटस्की ने अपने सिद्धान्त का आधार हीगेलीय राज्य सम्बन्धी अवधारणा के खण्डन पर आधारित की है।[1]

परन्तु हेगेल महोदय ने राज्य के महत्त्व पर इस प्रकार बल दिया है जिससे सगठन का व्यापक प्रयास अनुपयुक्त सिद्ध होता है और अन्ततः युद्ध को एक आवश्यक स्थायी सस्था के रूप मे प्रस्तुत किया है। डॉ० बोसाके ने इस सम्बन्ध मे पूरी तरह उसका अनुसरण नही किया; फिर भी कुछ अंश तक वह भी इसी मत का प्रतीत होता है।

कभी-कभी कार्लाइल को ट्रेटस्की की तुलना में रखा जाता है, परन्तु यह तुलना निराधार है। क्योकि कार्लाइल का विश्वास राज्यो मे नही था, वरन् वह तो नेता या नायक का बल था जिसकी उसने प्रशसा की है। नायक स्वय मनुष्य होते है, अत. उनमे नैतिक न्याय की भावना होती है। इस सम्बन्ध मे वह ट्रेटस्की की अपेक्षा अपने अभिमानव के प्रति भक्ति पूर्ण विचारो के कारण नीत्शे के निकट है। फिर उसने उन दोनो की अपेक्षा अपनी बात बहुत ही बचाकर कही है और इसलिए उसे उनके समकक्ष नही रखा जा सकता। वास्तव में नीत्शे और

---

१. पॉलिटिक्स, भाग १, अध्याय १।

ट्रॅटस्की को भी एक वर्ग मे नही रखा जा सकता, यद्यपि उनमे बहुत अधिक समानता है।

हॉब्स नामक एक और विद्वान ने राज्य के बल पर जोर दिया है। उन्होने राज्य को नैतिकता के सामान्य नियमो के एक स्रोत के रूप मे प्रस्तुत किया है, परन्तु उसे विषय नही बनाया है। उन्होने राज्य का व्यक्तियो के अह से सरक्षण के लिए मून्याकन किया है। और उनकी प्रवृति प्रशियन लोगो से मेल नही खाती परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और उसके परिणामो के सम्बन्ध मे उसके विचार ट्रटस्की के समान ही प्रतीत होते है।

यदि हम इस तरह कुछ विशेष दार्शनिको के सिद्धान्तो पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे तो अपने क्षेत्र से बहुत दूर निकल जाएँगे।

ब्रिटेन मे राज्य के सम्बन्ध मे कम और लोगो की स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति है।[1] राज्य को सामान्यतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रमुख साधन समझा गया है। इस तरह राज्य को तो एक यान्त्रिक क्रिया से भी छोटा समझते हैं। और वह एक ऐसा यन्त्र है जिसका कार्य बहुत ही कम कर दिया गया है। राज्य के हित अथवा शुभ को प्रोत्साहन देने वाले बल को कम कर दिया गया है। और कभी-कभी उसकी अहित प्रतिरोधक-शक्ति का निरादर अथवा भर्त्सना तक की जाती है। यह सम्भवत. प्रशियन लोगो की तरह एक बहुत बडी भूल है और लगभग शरारत पूर्ण है। विशेषत, अहित अथवा अशुभ का प्रतिरोध न करने का चरम सिद्धान्त कठिनाई से दृढता पूर्वक खण्डित किया जा सकता है। अन्य चरम सिद्धान्त की तरह यह परिस्थितियो को ध्यान मे रखे बिना आदि-सन्तो के उपदेशो पर आधारित है। उन सन्तो मे से एक ने तो यह कह कर सावधान भी कर दिया था कि उसके कथन को अक्षरश ग्रहण न किया जाए। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जब किसी अहित या बुराई का प्रतिरोध किया जाए, तो वह इतना प्रभावपूर्ण होना चाहिए कि अहित को समाप्त करके हित वाली बात को विजयी बना सके। परन्तु प्राय इस तरह का प्रतिरोध बुराई को चालू रखता और बढावा देता है।

४. राज्य के एक यन्त्र के रूप मे

अप्रतिरोधक-सिद्धान्त को जब सामाजिक समस्याओ पर लागू किया जाता है तो उसके अनेक रूप हो जाते है। बहुत समय तक ब्रिटेन मे उसका बहुत स्पष्ट रूप 'ताटस्थ्य अवधारणा' के रूप मे रहा जो अब पूरी तरह से अविश्वस-

---

१ राज्य के सम्बन्ध में ब्रिटिश और जर्मन प्रवृत्तियों में अन्तर प्रो० सोरली ने अपनी व्याख्यान माला 'इन्टरनैशनल क्राइसिस ' द थ्यूरी आफ द स्टेट' विशेषत पृ० सं ३४-३५ में प्रकट किया है। एच० इलियट के 'हरबर्ट स्पेन्सर' परिचय को भी देखें।

नीय बन चुका है। उसका परम विरोधी सिद्धान्त राज्य-समाजवाद है। परन्तु कुछ समाजवादी भी अप्रतिरोधक सिद्धान्त का कुछ भिन्न रूप से प्रचार करते है। जैसे, उनका कहना है कि राष्ट्रीय की जीवन रक्षा और समाज-व्यवस्था के प्रतिपादन के उपकरण के रूप मे बल का आश्रय छोड़ देना चाहिए। परन्तु जब बल का एक रूप मे परित्याग कर दिया जाता है तो वह दूसरे रूप में स्वय पैदा हो जाता है। राज्य के बल के विरोध के रूप में अब भी वर्गीय हिंसा के समर्थन की प्रवृत्ति रही है[1]। इसके मूल मे एम० बर्गसन के दर्शन को माना गया है, परन्तु वह कुछ अशो मे रसेल के एक भिन्न प्रकार के दर्शन के साथ भी सम्बन्धित है[2]। मानव-जीवन की एकता के लिए मूल तथ्य के रूप में विवेक पर अविश्वास और विशिष्ट मनोवेगो, भावावेगो और रुचियो का आश्रय इन दर्शनो की समानता है।[3]

इस विचारो के विरोध मे राज्य की एकता पर बल दिया जा सकता है। सभी लोगों के सहयोग द्वारा ही हम कुछ व्यक्तियो अथवा वर्गीय स्वार्थों को रोकने मे समर्थ हो सकते है और सही विवेक की आशा कर सकते है। जैसे कि मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है कि सुसमायोजित राज्य का अस्तित्व 'जहाँ आवश्यक महान् परिवर्तनो पर आधारित होता है, वहाँ स्थायी व्यवस्था पर भी बहुत कुछ आधारित होता है।' अत इस ध्येय के लिए भी पर्याप्त बल का विधान होना चाहिए। यहाँ तक कि यदि हम किसी एक प्रकार के विश्व-सघ की स्थापना मे भी सफल हो जाएँ तो भी हमे उसकी व्यवस्था के लिए एक दृढ आरक्षी-बल की आवश्यकता होगी। इसी तरह, वास्तव मे, जब तक राज्यो में वर्तमान अराजकता की हालत चलती रहेगी, तब तक एक दृढ प्रतिरक्षात्मक बल के अस्तित्व की आवश्यकता रहेगी। यूरोप के समाजवादी नेताओं ने इसे स्वीकार कर लिया है, परन्तु ब्रिटेन मे अभी इसे स्वीकार नही किया जा रहा है।[4]

राज्य सामाजिक एकता का एक ढग है, इस अवधारणा द्वारा हम इन

---

१. सारेल की पुस्तक 'रिफ्लैक्शन्स आन वायलैन्स' देखें।
२. 'प्रिंसिपल्स आफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' पृ० ६७।
३. इस सम्बन्ध में, जे० डब्लू० स्कॉट के अरिस्टोटेलियन सोसाइटी में मार्च १६१८ में पढे गए एक रोचक-पत्र "रिअलिज्म एण्ड पालिटिक्स" को देखें।
४. स्विस लेखक जोरस की पुस्तक L'Armie Nouvelle देखे। अंग्रेजी अनुवाद 'डिमाक्रेसी एंड मिलिटरी सर्विस' के नाम से जी० जी० कॉल्टन ने किया है। लेबनेथ का 'मिलिटरीज्म एंड ऐण्टी मिलिटरीज्म', भाग दो, अध्याय ६ देखें। आवश्यक नहीं कि उनके विचार दूसरों के लिए भी आवश्यक हों।

हानिप्रद चरमसीमाओं से बच सकते हैं और इस तरह सामान्य हित का विचार भी प्रभावपूर्ण हो सकता है। अन्य पद्धतियों की तरह इसकी

५. राज्य : सामाजिक एकता के रूप मे

वृद्धि भी प्राकृतिक और अत्यावश्यक है, यह केवल एक यान्त्रिक उपकरण नहीं है, परन्तु अन्य पद्धतियो की भाँति इसके विशेष कार्य और इसकी विशेष सीमाएँ हैं। मानवीय हित और उसके साधनो की पूर्ति इसके लिए स्वाभाविक है। ग्रीन ने हमें यह विचार दिया है और इसी विचार को मैंने इस पुस्तक मे प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। डॉ॰ बोसाके का विचार भी मुझे इससे मेल खाता दीखता है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि बोसाके, हेगेल के पुराने सिद्धान्त की ओर अधिक प्रवृत्त हुए है। ग्रीन ने हीगेल के सिद्धान्त मे से सर्वोत्तम सार को ग्रहण किया है।[1] वह हीगेल की तरह एक बडा दार्शनिक नही था जैसे कि वर्डस्वर्थ, गेटे जैसा महान् कवि नही था। परन्तु इन दोनो मामलो मे सोचते समय हमे अपने दिल मे कुछ कारणों से असन्तोष नही होता। परन्तु बोसाके के विचारो मे रूसो और हीगेल के विचारो से बहुत अधिक अन्तर है। ब्रिटिश प्रज्ञा व्यापक अवधारणाओ को पूर्णता से ग्रहण करने मे जर्मनी की बराबरी नही कर सकती। इसी तरह वह फ्रास से स्पष्टता मे भी निम्न है, परन्तु वह कभी-कभी उन दोनो से अधिक सन्तुलित उतरती है। यद्यपि इस प्रकार के सन्तुलन मे ढुलमुलपन और असगति होती है, फिर भी यह सदा कमजोरी का चिह्न नही है। इस ब्रह्माण्ड की तरह मानवसमाज का ढाँचा भी बहुत जटिल है और उसे विभिन्न पक्षो और दृष्टिकोणो से देखा जाना चाहिए। मैं यह सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि डॉ॰ बोसाके ने राज्य सम्बन्धी अवधारणा पर जो विशेष बल दिया है[2], वह उस व्यक्तिवाद के विनाश के लिए अत्यावश्यक था, जो आज भी हमारे लिए एक स्थायी पाप बना हुआ है।

---

१. सर हेनरी जोन्स अपनी पुस्तक 'दि वर्किंग फेथ आफ दि सोशल रिफार्म्स' पृ० २१२ में कहते हैं कि यह प्लेटो और अरस्तू के मूल विचारों का 'एक थोड़ा बहुत आधुनिक रूप है।

२. मैकाइवर की पुस्तक 'कम्यूनिटी' देखे। हेगेल को उसके अपने देश में ही 'प्रशियन राज्य का शत्रु कहकर अपमानित किया गया।

पंचम अध्याय

न्याय

जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उसके आधार पर हमें यह मान लेना चाहिए कि एक सुव्यवस्थित राज्य का मूल उद्देश्य अपनी सीमाओ मे न्याय-स्थापना और उसकी रक्षा करना होता है। परन्तु न्याय-सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करना सरल कार्य नही। मूलत: इस शब्द का अर्थ किसी शासन-शक्ति द्वारा दिया गया आदेश होता है, अत: कुछ लोग प्लेटो के 'रिपब्लिक' मे थ्रेसिमेकस (Thrasymachus) की तरह यह प्रतिपादित करते है कि न्याय सामान्यत: कुछ शक्तिशाली लोगो की स्वार्थ-सिद्धि के अतिरिक्त कुछ नही है। शक्तिशाली लोगो से यहाँ अर्थ उन लोगो से है जिनके हाथ मे सत्ता होती है। यह विचार वर्डस्वर्थ द्वारा रोब रॉय के प्रति कहे गए सामान्य सिद्धात के साथ ठीक मेल नही खाता—

१ न्याय सम्बन्धी सामान्य अवधारणा

शुभ पुरातन नियम, सफल योजनाएँ,
अपने हाथो में रखें उन्हें वे ही जो हैं शक्तिशाली,
और रक्षा करे उनकी वे ही जो हैं पूर्ण सामर्थ्यवान्,[1]

यह इस मान्यता से भिन्न है कि सभी मानव एक समुदाय के सदस्य हैं और वे नियन्त्रण रखने वाली शक्ति के अधीन रहते है, परन्तु यह उसी शासन-शक्ति के सम्बन्ध को बतलाता है जिसके द्वारा रोब रॉय को निर्दिष्ट किया माना गया है। फिर यह मान लेने पर भी कि न्याय शक्तिशाली लोगो की स्वार्थ पूर्ति का साधन होता है, प्रश्न उठता है कि शक्तिशाली लोगो का वास्तविक न्याय क्या है?[1] फिर, शक्तिशाली लोग भी तो मानव होते है, इससे फिर एक दूसरा महान् प्रश्न उठता है कि मानव का अन्तिम हित क्या है?[2] फिर यदि हम आगे

---

१. The good old rule, the simple plan,
That they should take who have the power,
And they should keep who can.

—Wordsworth.

२ यह प्लेटो की रिपब्लिक की प्रथम पुस्तक का प्रमुख विषय है।

यह मानने की चेष्टा करें, और हमे अवश्य करनी भी चाहिए, कि एक शासन-शक्ति का कर्त्तव्य अपने स्वार्थों को पूर्त्ति करना नही है, परन्तु उसका कर्त्तव्य सब लोगो के हित की पूर्ति करना है। इससे यह और स्पष्ट हो उठता है कि प्रच्छन्न समस्या यह है कि मानव हित का निर्माण कैसे हो। यह एक कठिन समस्या है, इसका विश्लेषण करना नीतिशास्त्र का कार्य है।[१] यहाँ केवल इतना ध्यान मे रखना ही आवश्यक होगा कि प्रसन्नता, कल्याण, शुभ, आत्म-साक्षात्कार, जीवन-विकास तथा अन्य ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ उस हित का चित्रण करती है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है। यह कहना गलत नही होगा कि यह उन क्षमताओ की पूर्त्ति है, जो स्पष्ट रूप से मानवीय है। अतः न्याय का अभिप्राय शासन शक्ति की स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए दिये गए आदेश नही हैं, अपितु जिन नागरिको पर वह शासन करती है उनके हित के लिए दिये गए आदेशो से लिया जाना चाहिए। यहाँ थोड़ा-सा परिवर्तन पर्याप्त होगा कि शासन शक्ति स्वतः नागरिको का हित नही कर सकती, अधिकांश हित की प्राप्ति व्यक्तियो के अपने प्रयत्नो से होती है। यह भी कहा जा सकता है कि उनके प्रयत्न उनके हित के एक अश होते है। उदाहरणस्वरूप, कहा जाता हैं कि सत्य प्राप्ति की अपेक्षा उसका अनुशीलन ही अत्युत्तम है। यद्यपि यह सदेहास्पद है, फिर भी ऐसा भी लगता है, कि जिन वस्तुओ को मनुष्य प्राप्त करना चाहता है उनका महत्त्व, उनके गुण दोष, विवेचन और चयन पर आधारित होता है। अत कोई भी बाह्य-शक्ति उनकी पूर्ति करने मे समर्थ नही हो सकती। इसलिए हमे यहाँ पूछने को यह नही रह जाता कि जनता के हित को कैसे प्राप्त किया जाता है? वरन् पूछना यह है कि शासन-शक्ति उस शुभ को प्राप्त करने मे कितना प्रभाव डाल सकती है? यह कुछ सीमित सा ही प्रश्न है, फिर भी काफी बडा और अनुसन्धानात्मक है।

इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही हो सकता है कि राज्य-सत्ता प्रत्येक हित की प्राप्ति मे असमर्थ होती है। परन्तु वह नागरिकों के सर्वोत्तम हित के लिए उन्नत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और रक्षा कर सकती है। अरस्तू ने इस समस्या के दो, अथवा यह कहना ठीक होगा कि तीन, प्रमुख पहलुओं की ओर सकेत किया है[२]। प्रथम प्रश्न यह है, कि समाज का सर्वोत्तम प्रबन्ध क्या है जिसे राज्य स्थापित कर सकता है? दूसरा प्रश्न यह है कि परिवर्तित होती हुई परिस्थितियो मे इसकी रक्षा भली प्रकार से कैसे हो सकती है? और, तीसरा यह, कि जब इसमे बाधा आ पडती है, तो उसे सबसे अच्छी तरह कैसे

---

१. 'मैनुअल आफ एथिक्स' देखिए।
२. 'एथिक्स', खंड ५, अध्याय २–५।

ठीक किया जा सकता है ? अरस्तू के अनुसार प्रथम प्रश्न वितरण-सम्बन्धी न्याय और अन्य दो प्रश्न शोधक न्याय से सम्बन्धित हैं। शोधक न्याय को, फिर बदले और प्रतिशोध की विभिन्न विचारधाराओं के रूप में अरस्तू की तरह, प्रस्तुत करना वांछनीय प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ वितरण-सम्बन्धी न्याय और शोधक न्याय से प्रारम्भ करना ही उत्तम रहेगा।

यहाँ मूल प्रश्न यह है कि सब लोगों के अधिकाधिक हित की प्राप्ति के लिए समाज का उत्तम प्रबन्ध क्या है ? इसके अनेकों उत्तर हैं, परन्तु उन सबकी व्याख्या वर्तमान सीमा के बाहर की बात है। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि प्लेटो ने इसका जो उत्तर दिया है, वह सबसे अच्छा सामान्य उत्तर प्रतीत होता है। उसके अनुसार समाज का सर्वोत्तम प्रबन्ध वह है, जिनमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार उस स्थिति मे रखा जाता है, जिसके लिए वह पूर्णतया योग्य है और उस कार्य की पूर्ति के लिए उसे आवश्यक सामग्री और साधन दिये जाते हैं। इसे हम वितरण-सम्बन्धी-न्याय की आधारभूत अवधारणा के रूप में स्वीकार करते हैं, फिर भी इसमें कुछ विशेषताओं और योग्यताओं को जोड़ देना अधिक उचित रहेगा।

२ वितरण सम्बन्धी न्याय

सबसे पहले यह स्वीकार करने योग्य बात है, कि किसी भी आधुनिक विस्तृत राज्य में, प्लेटो की अवधारणा मे निहित, सभी कुछ प्राप्त करना संभव नहीं। यह भी सन्देहास्पद है कि क्या यह बात उस छोटे से समुदाय मे भी सम्भव है जो प्लेटो के दिमाग मे थी। यह सत्य है, कि उसे प्राप्त करना प्रत्येक समाज का लक्ष्य होना चाहिए और कोई समाज उसे प्राप्त नही कर लेता तो यह उसके प्रति कुछ अंशो मे अन्याय ही होता है। फिर यह भी सत्य है, कि सभी लक्ष्यों को एक दम से प्राप्त कर लेना असभव है और कम से कम उसे प्लेटो ने बहुत अच्छी तरह से जान लिया था। उदाहरणस्वरूप, भैषज्यकला का यह ध्येय है, कि प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ हो, पर होता यह है कि, प्रत्येक व्यक्ति निश्चय ही उसमे अपूर्ण होता है। इस तरह न्याय के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी योग्यतानुसार उचित स्थान उपलब्ध नही कर सकता, परन्तु कुछ अंशो मे वह इतना कर सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यतानुसार स्थान की खोज और उसे पाने मे किसी प्रकार की बाधा उसके मार्ग मे न आए। शिक्षा द्वारा उसकी प्राप्ति के लिए उसकी शक्तियों के विकास मे सहायक हो सकता है। इसी तरह भूमि-प्राप्ति के अधिकार श्रम-विनिमय और इसी तरह के अन्य साधनों के विधान मे सहायक हो सकता है। परन्तु इन सहायताओ के साथ डॉ० जॉन्सन के कथन, 'निर्धनता के बोझ से उत्थान बहुत धीमा होता है' मे स्थायी प्रभाव रहेगा और यह हम आशा करते हैं, कि चेटरटन

की सी घटना फिर नही होगी। इस तरह राज्य यह आशा नही कर सकता कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार स्थान प्राप्त कर भी लेता है, तो वह अपने कार्यों को उचित प्रकार से पूर्ण करेगा। परन्तु वह सर्वेक्षण और निरीक्षण की विधियाँ चालू कर सकता है, तथा वह उचित शिक्षा चालू कर सकता है जो कि प्राकृतिक शक्तियो का विकास ही नही करेगी, अपितु उसमे कुछ नागरिक दायित्व की भावना भी भर देगी। निस्सन्देह, प्लेटो की योजना का यह आवश्यक भाग था। फिर राज्य यह आश्वासन नही दे सकता, कि वह प्रत्येक व्यक्ति के कार्य की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री और साधन जुटा देगा; परन्तु वह कम से कम इतना कर सकता है कि चरम निर्धनता को दूर कर दे, जो उनकी प्राप्ति में बाधक है और उसके पास इतना धन भी इकट्ठा होने दे जो उन साधनो को व्यर्थ नष्ट करने के प्रलोभन मे फांस ले। वह उसके लिए उचित आवास व्यवस्था, जल और विद्युत् का उचित सम्भार, पुस्तकालय, कला-संग्रहालय तथा यात्रा आदि की सुविधाएँ दे सकता है, और उन्हे सभी के लिए प्राप्य भी कर सकता है। प्लेटो भी अपनी योजनाओ की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सहायता के महत्त्व से अपरिचित नही था।

प्लेटो द्वारा निर्धारित सामान्य सिद्धान्त की दूसरी अर्हता, जो राज्य नियमों में निहित है, प्रत्येक व्यक्ति पर प्रयुक्त नही की जा सकती। राज्य के कानून, जैसा कि अरस्तू ने कहा है[1] सामान्यत वही कुछ प्रदान कर सकते हैं, जो लोगों के लिये सर्वोत्तम होता है। यह छोटे ग्रीक समुदाय की अपेक्षा आधुनिक विशाल राज्यों के लिए यह अधिक सही है। उदाहरण के लिए, एक राज्य के द्वारा शेक्सपीयर वर्डस्वर्थ अथवा वाट के योग्य सर्वोत्तम शिक्षा दी जाने की आशा नही की जा सकती। इसमे भी सन्देह है कि कोई व्यक्तिगत संस्था ऐसा करने मे समर्थ हो सकती हो और इसी तरह कोई राज्य भी किसी ऐसे अपवाद-स्वरूप विषय के लिए जो कुछ ही अशो मे सामान्य से पृथक् होता है, विशेष प्रबन्ध नही कर सकता है, जब तक उसे बहुत से लोग न चाहते हो। उदाहरण के लिए हम भूमि की दाय का विषय ले सकते हैं। कभी-कभीविशाल सम्पत्तियाँ सबसे बड़े लडके को प्राप्त होती हैं। जिस आदमी के हाथ वह सम्पत्ति आती है, क्या वह उसका उपयोग जनता के हित मे करेगा? अब यह सोलह आने सही है कि सदैव ऐसा नही होता। परन्तु यह कहा जा सकता है[2] कि किसी अन्य सुनिश्चित प्रबन्ध

---

१ 'एथिक्स' खण्ड ५, अध्याय १५। प्लेटो ने इस पर पहले अपने स्टेटसमैन, पृ० २८९५ में, काफी बल दिया है।

२. यह केवल एक उदाहरण के रूप में रखा गया है। यह इस विवाद का उपयुक्त निर्णय कहा तक हो सकता है, उसका विश्लेषण उचित रूप में यहा नहीं किया जा सकता है। इसका उत्तर व्यापक रूप से बदलती हुई परिस्थितियों पर आधारित है।

द्वारा अधिक अच्छे परिणाम की आशा हो सकती है। यह भी हो सकता है कि बटवारे से सम्पत्ति के छोटे छोटे टुकडे ही रह जाए। बडे लडके को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने का आधार यह भी हो सकता है कि अन्यों की अपेक्षा वही सतोषप्रद ढग से उस काम को कर सकेगा। इसी प्रकार का तर्क राजतन्त्र के वशानुगत होने के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भी दिया जा सकता है। यहा भी यही कहा जा सकता है कि इसमे सामान्यत सर्वोत्तम परिणामो की आशा नही की जा सकती। दूसरी ओर, यदि भूमि के मामले मे सम्पति के स्वामित्व की पद्धति अथवा शासक के सम्बन्ध मे निर्वाचित राष्ट्रपति की पद्धति को अपनाया जाए तो यह भी निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति के उदाहरण मे ये विधिया भी सर्वोत्तम सिद्ध नही होगी। सामान्यत, सब लोगो के लिए जो सामान्य हित की बात है कानून दे सकता है, व्यक्तिगत समस्याओ का समाधान कैसे हो, यह एक पृथक् प्रश्न है।

एक और दूसरी आपत्ति प्लेटो के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उठाई जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि इससे व्यक्तिगत जीवन राज्य के कार्य के लिए अधीनस्थ कर दिया जाता है। एक व्यक्ति का कार्य, जिस समाज मे वह जीता है, उससे सीधा जुडा हुआ होना चाहिए और ससार के लिए वह अक्षुण्ण महत्व का हो सकता है। स्पिनोजा का दर्शन किसी एक देश-विशेष के लिए न होकर सारे विश्व के लिए है। इस समग्र विश्व मे, यद्यपि उसका मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति बहुत ही कम है। इसी प्रकार की बात संभवत. ब्राउनिङ्ग के व्याकरणशास्त्री तथा अनेक महान् गणितज्ञो, कलाकारों तथा अन्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। और यह भी कहा जा सकता है कि बुद्धिमान राज्य ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन दे, जो उसकी संस्कृति, विकास और उसकी कीर्ति मे चार चाँद लगाते है। प्लेटो इस बात को अस्वीकार करता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि उसके सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप दिया जाए तो उसमे यह बात नही आएगी। फिर, सेवा के अयोग्य होने की स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा अपने नागरिको का ध्यान रखना आवश्यक कर्तव्य है। यहाँ निश्चित रूप से प्लेटो के विचार भिन्न हैं। वह अवश्य ही यह कहता प्रतीत होता है कि जैसे ही कोई व्यक्ति अपने विशेष कार्य को करने मे असमर्थ हो जाता है, भले ही असमर्थता अस्थायी हो, उसे अपने भाग्य पर ही छोड दिया जाना चाहिए। आजकल बहुत से लोग इस सिद्धान्त को अमानवीय बतलाएंगे। कुछ लोग यह भी कह सकते हैं, कि राज्य का यह कर्तव्य नही कि वह असहाय लोगों की सेवा करता फिरे, अपितु यह कार्य तो व्यक्तिगत अथवा धार्मिक संस्थाओं का है, कि वे ऐसे लोगों का प्रबन्ध करें। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हम बाद मे विचार करेंगे।

इन आपत्तियो और अर्हताओ मे कितना भी वल क्यो न हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि प्लेटो का सिद्धान्त हमारे वितरण न्याय के सिद्धान्त का सही आधार प्रस्तुत करता है।

यदि किसी विशेष समुदाय से वितरण मे न्याय की प्राप्ति हो चुकी है तो उसमें बाधा डालने वाली विविध परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं। इन्हीं बाधाओ को दूर करने का सही मार्ग ही हमे अरस्तु के शोधक न्याय मे मिलता है।[1] बाधाऐं अथवा गड-बड किसी आकस्मिक घटना (अर्थात् किन्हीं व्यक्तियों द्वारा नहीं) व्यक्तियो के मध्य किन्ही समझौतो, अथवा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा विघ्न डालने पर उपस्थित हो सकती हैं। व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह विभिन्न समुदायों के हो सकते हैं। इस तरह यह अन्तर्राष्ट्रीय बातो से सम्बन्धित प्रश्न है जिस पर विचार इस समय स्थगित कर देना ही उचित है। दुर्घटनाओ की क्षतिपूर्ति कुछ अशो मे बीमे द्वारा की जा सकती है और कभी इसका विधान राज्य द्वारा भी किया जाता है। समझौते के बारे मे विनिमय सम्बन्धी न्याय के रूप मे आगे बहुत अच्छी तरह से प्रकाश डाला गया है। व्यक्तियो द्वारा एक दूसरे को पहुचाई गई चोट या हानि एक ऐसी अव्यवस्था है, जिसका सरकारो से सीधा सम्बन्ध होता है। क्षति मे अधिकतर, संविदाभंग लूट अथवा व्यक्तिगत हिंसा (जो शाब्दिक अथवा शारीरिक हो सकती है) आदि बातें आती है। सविदाभग की पूर्ति अथवा समय अवसर की क्षतिपूर्ति करके की जा सकती है, यदि समय की हानि घातक सिद्ध होती है अथवा माल की प्राप्ति भी नही की जा सकती, तो यह सब व्यक्तिगत क्षति मे आयगा। लूट के सम्बन्ध मे भी यही बात है। सामान्यत व्यक्तिगत हानियों अथवा चोटों की क्षतिपूर्त्ति नही की जा सकती। आँख की पुन प्राप्ति नहीं हो सकती और उसके बराबर की कोई चीज दी भी नही जा सकती। यह सिद्धान्त कि "आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत' क्षति-पूर्त्ति करने वाली बात नही, अपितु एक प्रतिशोध है और दो बुराइयो से एक अच्छाई पैदा नही हो सकती। अत. एक राज्य का यही कार्य हो सकता है कि वह इस प्रकार की घटनाएँ सुरक्षा के किन्ही साधनो (आरक्षी) द्वारा विविध दण्ड विधियो द्वारा मादक द्रव्यों अथवा घातक शस्त्रो आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर और नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध करके रोकने का प्रयत्न करे। इस प्रकार के साधनो पर विचार करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु विनिमय अथवा बदले मे न्याय, पुरस्कार अथवा दण्ड के स्थान के सम्बन्ध मे कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। अरस्तू का इस

३. शोधक न्याय

---

१ 'एथिक्स', खण्ड ५, अ० ६।

विषय मे विश्लेषण कई पहलुओं से अपर्याप्त रहा है। उन्होने व्यक्तिगत हानि और उसके लिए दिये गए दण्ड को विनिमय एव क्षतिपूर्ति के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

शोधक न्याय के अन्तर्गत विनिमय-सम्बन्धी न्याय को प्रस्तुत करना भ्रामक होगा।[1] इसको इस तरह लिखने का अर्थ यह मानना होगा कि मूलतः वितरित किये जाने वाले पदार्थ पूर्णत. निश्चित होते हैं और वह विनिमय इस निर्णय मे एक बाधा ही पहुँचाएगा। वास्तविक रूप मे होने वाले अधिकार विनिमय सेवाओं के विनिमय के रूप मे हुआ करते हैं और वे वितरण के एक आवश्यक भाग हैं। यदि कायदे से देखा जाए तो लोग अपने औजारो अथवा उत्पादन के साधनो का विनिमय नही करते, वरन् अपने श्रम द्वारा उत्पादित चीजों का विनिमय करते है। इस प्रकार के विनिमय द्वारा ही वे भोजन, वस्त्र तथा जीवन-निर्वाह सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते है। इसलिए विनिमय सम्बन्धी समस्या वितरण न्याय से सम्बन्धित समस्याओ का एक भाग है। इस तरह राज्य को वितरण-सम्बन्धी पहलू के लिए उचित रूप से सगठन करना चाहिए ताकि इससे भूमि तथा अन्य स्थायी सम्पत्तियो के वितरण में सुविधा हो। राज्य ऐसे कदम भी उठा सकता है कि नागरिक सभी आवश्यक पदार्थ आवश्यक मात्रा मे उत्पन्न करें ताकि प्रत्येक की आवश्यकताओं का संभरण हो सके। कुछ लेखकों ने ऐसे आदर्श-समुदाय की रूपरेखा खीचने का प्रयास किया है, जिसमे यह सब कुछ हो। परन्तु यह सन्देहास्पद ही है कि कोई जटिलतापूर्ण समाज के लिए ऐसी किसी योजना को बनाएगा जो व्यावहारिक रूप से ठीक बैठ सके। ऐसी योजनाओं को छोड कर कुछ लोगो ने अपनी परिस्थिति के अनुसार समायोजन के लिए चलाऊ ढग का काम किया है, तथा उन्होंने अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी उत्पादित वस्तुओ के विनिमय द्वारा जरूरी वस्तुओ को प्राप्त किया है। इस तरह के विनिमयो मे सुविधा पैदा करने के लिए मुद्रा जमानत और विविध प्रकार के ऋण की पद्धतियाँ चलायी गई और अन्त मे एक जटिल बैंक-पद्धति को जन्म दिया गया। इस विस्तृत पद्धति की सहायता से माँग और सम्भरण की समस्याएँ कैसे हल होती हैं, इन सबका विश्लेषण अर्थ शास्त्र का विषय है। हमारा इन समस्याओं से यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यहाँ सम्बन्धित प्रश्न केवल प्रबन्धों मे न्याय से है, जिसके कारण हमे यह थोड़ा-सा विश्लेषण करना पड़ा। यदि न्याय के सम्बन्ध में हमारी सामान्य अवधारणा सही है तो उचित व्यवस्था का यह अर्थ

४. विनिमय-सम्बन्धी न्याय

---

१ मरस्तू ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाया है।

होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अच्छी तरह से कार्य करे और अपने कार्य को ठीक ढग से चालू रखने के लिए अपने जीवन निर्वाह-सम्बन्धी वस्तुओ को वहाँ से प्राप्त करता रहे। उसकी आवश्यकताओ मे हम उसके परिवार की आवश्यकताओ को भी सम्मिलित कर सकते है और कम से कम उसके बच्चो की प्रारभिक शिक्षा तो अवश्य ही उसमे आनी चाहिए। अब, यह स्पष्ट है कि माँग और सम्भरण के कार्य के सम्बन्ध मे, दृढता के साथ नही कहा जा सकता कि वहाँ न्याय का सही अर्थ यही होगा। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इसमे भी कुछ मोटे रूप मे ऐसा ही होता है, जैसा किसी भी सामान्य तरीके से आशा की जा सकती है। माँग और सम्भरण कार्य को सम्पन्न करने मे निम्न प्रमुख दोष होते हैं—

(अ) लोगो को उनकी योग्यता के अनुसार काम नही मिलता।

(आ) वे उसमे अपनी पूरी शक्ति नही लगाते।

(इ) कभी एक ही काम के लिए अनेको लोग उपलब्ध होते हैं और अन्य कार्यों के लिए लोग मिलते ही नही।

(ई) लोगो की माँग कभी-कभी उनकी आवश्यकताओ के अनुसार नही होती, कभी-कभी ऐसी माँग करते हैं जो उनके लिए हानिप्रद होती है।

(उ) कभी-कभी मूल्यवान् वस्तुओ की माँग बहुत कम होती है।

इन दोषों को दूर करने के निम्नलिखित उपाय प्रस्तुत किये जा सकते है—

(अ) तकनीकी प्रशिक्षण के लिए अच्छी विधियाँ,

(आ) क्षमतापूर्ण श्रमिक एक्सचेंज,

(इ) कुछ अत्यधिक आवश्यक वस्तुओ का सम्पूर्ण सरकारी नियन्त्रण,

(ई) अथवा हानिप्रद वस्तुओ पर प्रतिबन्ध अथवा टैक्स,

(उ) यथार्थ मूल्यो के गुण दोष विवेचन की शिक्षा आदि।

इन सभी के सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से लिखना हमारी सीमा से बाहर की बात है, परन्तु आगे चलकर कुछ कहा जा सकता है।

पुरस्कार एव दण्ड का सबसे अच्छा सामाजिक महत्त्व हम इसी मे देख सकते हैं कि वे स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के सकेतो के रूप मे अस्ति और नास्ति मूल्यों के परिणामो के द्वारा निर्मित होते है।

५ पुरस्कार और दण्ड आमतौर पर पुरस्कार से प्रसन्नता होती है, एक दण्ड पीडा दायक होता है, परन्तु सदैव ऐसा नही होता। एक मनुष्य उस समय पुरस्कार लेना एकदम नापसन्द करेगा जब वह यह सोचेगा कि उसने अपने कर्तव्य-पूर्ति के अतिरिक्त कुछ भी नही किया, फिर भी कार्य पूर्ति के प्रमाण रूप मे एक चिन्ह देना सामाजिक महत्त्व रख सकता है। इसी तरह कोई मनुष्य दण्ड मिलने पर प्रसन्न भी हो सकता है, यदि वह उसे उचित सम-

भता है। कोई यह भी सोच सकता है कि वह दण्ड पाने का अधिकारी है और किसी बाह्य-शक्ति द्वारा दण्ड न दिये जाने पर वह स्वयं अपने आपको दण्ड दे सकता है और प्रायश्चित्त द्वारा सन्तोष प्राप्त कर सकता है।

जब अस्ति अथवा नास्ति मूल्य सामान्यतः क्षतिपूर्त्ति के रूप मे प्रदान किए जाते है, तो उन्हें पुरस्कार अथवा दण्ड के रूप मे वर्णित करना उचित नही। डा० जानसन को दी जाने वाली पेन्शन निस्सन्देह अंशतः अनुमोदन का ही रूप था परन्तु अंशत. यह इस बात की स्वीकृति भी है कि उसे उसके कार्य के लिए उचित रूप से अदायगी नही की गई। दूसरी ओर जब किसी क्षतिपूर्त्ति के लिए कहा जाता है, तो वह भी कुछ अशो मे आस्थगित-भुगतान के रूप मे होती है, यद्यपि उनका मतलब अननुमोदन भी होता है। अतः अरस्तू का पुरस्कार और दण्ड के लिए क्षतिपूर्त्ति के रूप मे किया गया विश्लेषण असन्तोषजनक है और कई बार तो बिल्कुल अनुचित भी प्रतीत होता है।

पशुओ को दिये गए पुरस्कार और दण्ड के प्रति भी यह बात नहीं कह सकते। वे प्रायः पशुओं को कुछ कार्यों के करने और कुछ कार्यों से विमुख होने की शिक्षा के मतलब से दिये जाते हैं। पशुओं के साधारण जीवन में इस उद्देश्य की पूर्त्ति तो उनकी सफलता तथा असफलता के रूप मे हो जाती है, जो प्रायः सुख और दुख के रूप मे उन्हे प्राप्त होती है और वह उन्हे कुछ कार्य करने और न करने की शिक्षा भी देती रहती है। पशुओं से तथाकथित पुरस्कारो और दण्डो द्वारा वही परिणाम चाहना एक अप्राकृतिक ढंग है। मुख्यतः बच्चों को दिये जाने वाले पुरस्कार और दण्ड भी इसी तरह के होते है। यह उनके कार्यो के अनुमोदन अथवा अननुमोदन की बजाय भावोद्दीपन के लिए होते हैं। उनकी तुलना गधे के सामने गाजर लटकाने अथवा घोड़े को एड़ लगाने से की जा सकती है। इन्हे कठिनाई से ही पुरस्कार अथवा दण्ड कहा जा सकता है, यद्यपि उनमे अनुमोदन अथवा अननुमोदन के कुछ तत्व होते है,पर ऐसे मामलों मे तो बहुत ही कम। इसके विपरीत जब नेल्सन की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की जाती है अथवा आलिवर क्रॉमवेल की अस्थियाँ कब्र मे से खोदकर फाँसी पर लटका दी जाती है, तो यह दोनों काम अनुमोदन अथवा अननुमोदन के रूप में किये जाते हैं, परन्तु उन्हे दण्ड अथवा पुरस्कार के रूप मे भी वर्णित किया जा सकता है, यद्यपि इन दोनो सम्बन्धित व्यक्तियो को इससे न प्रसन्नता हुई और न पीड़ा।

इस प्रकार पुरस्कार और दण्ड विषयक न्याय की जानकारी प्राप्त करते समय पाठक को इन दोनों शब्दों का अन्तर ध्यान मे रखना चाहिए। जब हम क्षतिपूर्त्ति (उदाहरणस्वरूप, नागरिक क्षति आदि के रूप मे पूर्व वर्गीकृत) की बात कहते हैं तो उससे सामान्य सिद्धान्त काफी स्पष्ट हो जाता है। यह एक

शोधक न्याय का विषय है, जैसा कि अरस्तू ने लिखा है। उनका यह प्रयास उस सिद्धान्त के समान ही कहा जा सकता है जिसके अनुसार "जिस व्यक्ति के पास बहुत कम है, उसे दिया जाए और जिसके पास बहुत अधिक है उससे ले लिया जाए।" परन्तु इस मामले मे सदैव क्षतिपूर्ति की सही मात्रा का अनुमान लगाना सरल काम नही, विशेषतः कुछ मामलो में ठीक बराबर की क्षतिपूर्ति आँकना असभव है। परन्तु मोटे तौर पर इस तरह न्याय करना सामान्यतः स्पष्ट है। इसके विपरीत, जब पुरस्कार और दण्ड उद्दीपक के रूप मे ग्रहण किये जाते हैं तो उनसे तत्त्वतः एक विशेष उद्देश्य सिद्धि की कामना होती है। यह मान लेने पर कि वह लक्ष्य अपने आप मे शुभ है और दिये जाने वाला पुरस्कार अथवा दण्ड उन्नति में सहायक होगा, तो उनका औचित्य सिद्ध हो सकता है। यदि पशुओं को किसी चातुर्यपूर्ण कार्य अथवा सेवा के लिए प्रशिक्षण देना हमारे लिए उचित है, तो उन्हें उत्साहित करने के लिए प्रभावात्मक-विधियाँ अपनाना भी अनुचित नही, बशर्ते कि वे निर्दयतापूर्ण न हो। यदि बच्चों को विशेष प्रकार की शिक्षा और ज्ञान देना उचित है तो उन्हें उत्साहित करने के लिए ऐसी विधियाँ अपनाना भी अनुचित नही, परन्तु वे भी निर्दयतापूर्ण और अपमानजनक न हो। वयस्कों के सम्बन्ध मे ऐसा साध्य चुनने का औचित्य सन्देहास्पद है जिसे वे स्वय अपने लिए चयन नही करते, परन्तु आत्मानुशासन के सम्बन्ध मे ऐसी आपत्ति नही उठाई जा सकती। अन्ततः पुरस्कार और दण्ड का सही अर्थ के रूप मे उद्देश्य अनुमोदन अथवा अननुमोदन के लक्ष्य तथा आधार को स्पष्ट करना है। पुरस्कार और दण्ड का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब वे उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम हो और अनुमोदन अथवा अननुमोदन अधिकारी व्यक्ति द्वारा किया जाए।

पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड के सम्बन्ध मे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। वयस्को को सामान्यत उनके अच्छे कार्यों के लिए पुरस्कार दिया जाता है, तो वह 'उनकी आगे बढने और प्रगति के लिए प्रशसा होती है।' ग़लत कार्यों के लिए ही विशेष व्यवहार की आवश्यकता होती है। दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त और उनसे सम्बन्धित कार्य और उद्देश्य तो स्पष्ट ही हैं उन्हे हम पहले ही बता चुके हैं। उन सबके लिए निवारक सिद्धान्त लागू होता है। अरस्तू का क्षतिपूर्ति वाला सिद्धान्त तो केवल प्रथम बात के लिए ही लागू होता है। निवारणार्थ दण्ड सिद्धान्त प्राकृतिक परिणामी सिद्धान्त जैसा रूसो अथवा स्पेन्सर ने प्रतिपादित किया है; यह दूसरे प्रकार के सिद्धान्त के रूप मे लागू होता है। प्रतिकारी सिद्धान्त अपने सुधारात्मक अथवा शैक्षणिक अर्थों मे तीसरे प्रकार के लिए लागू होता है। परन्तु इन सिद्धान्तो का विवेचन समाज-दर्शन की अपेक्षा

नीतिशास्त्र, विधि-दर्शन और शिक्षा-शास्त्र से सम्बन्धित है। कम-से-कम हमारी इस परिधि से तो यह बाहर की बात है।[1]

पूर्व कथन से यह स्पष्ट है कि जो बात कानूनी रूप से सही है वह व्यक्तिगत रूप से अथवा विशेष मामलो मे समाज के लिए सही नही हो सकती। कानून की सामान्यता के सिद्धान्त मे विशेष परिस्थितियों पर ध्यान नही दिया जा सकता। अतः ऐक्यता की वैध न्याय-अवधारणा से साम्य अवधारणा को पृथक् किया गया।[2] इस अर्थ में साम्यिक व्यवस्था, जिसमे समस्त परिस्थितियों को ध्यान मे रखा जाता है, न्याय नही कहला सकती। अतः अर्थ में साम्यिक क्या है, यह कानून के लिए जानना असभव ही नही वरन् सही निर्णय तक पहुँचने के लिए विधि निकालना भी कठिन है। निस्सन्देह कभी-कभी वैध निर्णयो मे भी विशेष परिस्थितियो का ध्यान रखना सम्भव होता है। एक अपराधी मनुष्य लघुकारक परिस्थितियो के कारण पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से अपने दोष से मुक्त हो सकता है। दूसरी तरफ, जानता-बूझता हुआ अयोग्य अथवा लापरवाह व्यक्ति अपने प्राप्त वैध अधिकारों से वचित किया जा सकता है। परन्तु इन अस्पष्ट विषयो पर वैध रूप से कुछ विचार नही किया जा सकता। अत. यह व्यक्तिगत रूप से लोगो अथवा स्वेच्छा से काम करने वाले संघो का कर्तव्य हो जाता है कि वे ऐसी वैध अयोग्यताओ को दूर करने मे सहयोग दें। चर्च आदि धार्मिक अथवा उसी तरह की संस्थाएँ अन्य उपकारी व्यक्ति लोगों के उन विशेषाधिकारो की रक्षा कर सकते हैं, जिनके लिए उनका वैध दावा नहीं होता। परन्तु ऐसी संस्थाएँ अनेक होती हैं और उनके निर्णयों मे साम्य होना कठिन होता है। इस सम्बन्ध मे कुछ अधिक विचार बाद में करेंगे।

६. साम्य

यह ध्यान रहे कि 'साम्य' (Equity) शब्द का अर्थ कुछ भ्रामक प्रभाव डालने वाला है। यह समता (Equality) प्रत्ययक है। निस्सन्देह, कुछ अर्थों में साम्यिक ही नही, वैध भी साम्य ही होता है। दोनो का सकेत यही है, कि एक तरह की बातों मे एक ही तरीके से व्यवहार किया जाए। परन्तु जब बातें भिन्न-भिन्न होती हैं तो उनमे समता नही लाई जा सकती। वाल्ट ह्विटमैन का यह कथन अति सुन्दर है,[3] कि "मैं ऐसी कोई चीज स्वीकार नहीं करूँगा जिसका समान

१- उल्लेखनीय पुस्तकें ग्रीन;—प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन बोसांके फिलासफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट, अध्याय ८, ७; मेकटागर्टः स्टडीज इन हीगेलियन कास्मोलाजी रेशडाल. थ्योरी आफ गुड एण्ड ईवल' अ० ५; ख० १, अ० ६; स्पेन्सर : 'एजूकेशन' अ० ३।

२. अरस्तू ख० १४ द्रि प्रिन्सिपल्स आफ मॉरल एम्पायर" अ० ५ भी उल्लेखनीय है

३. सांग ऑफ माईसैल्फ, २४'।

रूपो मे अपना प्रतिरूप नही,"—अक्षरशः स्वीकार नही किया जा सकता। अन्धा व्यक्ति अपनी आँखो के लिए कोई समप्रभावी वस्तु प्राप्त नही कर सकता। इसी तरह किसी प्रकार से असमर्थ व्यक्ति कोई समप्रभावी प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्वोक्त कथन स्वाधीन अथवा कृत्रिम साधनो के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, पर उसे प्राकृतिक विभिन्नताओ के लिए नही, और कभी-कभी तो प्रथम के लिए भी ऐसा नही कहा जा सकता। पर समता के सम्बन्ध मे हम पूर्णतया अगले अध्याय मे विचार करेंगे।

वैध रूप से लोग राज्य अथवा राज्य से मान्यता प्राप्त अधिकारियो द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत अधिकारो के भागी होते है। नैतिक रूप मे उनके अधिकार पूर्व-वर्णित न्याय तथा साम्य जैसे विचारो द्वारा निश्चित

७ प्राकृतिक अधिकार

होते है। यदि वैध तथा नैतिक अधिकार एक दूसरे के अनुरूप नही होते तो उनमे सुधार के लिए तर्क-सगत साधन अपनाए जा सकते हैं। क्या सरकार के प्रति सक्रिय प्रतिरोध वैध है या नही, और यदि है तो किन परिस्थितियो मे, यह एक कठिन प्रश्न है। इसका सन्तोषजनक विश्लेषण यहाँ नही किया जा सकता। यहाँ जो कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि वह अराजकता की बुराइयो के सन्तुलन पर आधारित है—उस सन्तुलन पर जिसका कोई यथार्थ माप नही है, परन्तु आनुमानिक अन्दाज़ लगाया जा सकता है। हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए तो इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि एक सुव्यवस्थित समुदाय के विधान मे वर्णित अधिकारो को ही प्राकृतिक कहा जा सकता है, परन्तु प्राकृतिक अधिकारो का भाव भिन्न अर्थ मे लिया जाता है। उनका सम्बन्ध किसी आयोजित राज्य के निर्माण से पूर्व वर्तमान 'प्राकृतिक-राज्य' की अवधारणा से जोडा जाता है। उदाहरणस्वरूप हॉब्स का इस विषय पर सबसे अधिक निश्चित व अतिरजित कथन है कि "प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को सब चीजे प्राप्त करने का अधिकार है, अर्थात् सभी वस्तुओ के सम्बन्ध मे जैसा चाहता है वैसा ही प्रयोग और उपभोग कर सकता है तथा वह उन्हे प्रात कर सकता है, जिस व्यक्ति के प्रति वह ध्यान देना चाहता है, दे सकता है।" यह पहले ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक राज्य की अवधारणा काल्पनिक है, और यह सोचने के लिए भी कोई यथार्थ आधार दिखाई नही देता कि एक सुव्यवस्थित समुदाय का अस्तित्व मनुष्य के लिए तत्वत प्राकृतिक नही है। हम एक निश्चित व्यवस्था से पूर्व की प्राकृतिक वृत्तियो के बारे मे सोच सकते है, परन्तु पशुओ मे भी तो प्राकृतिक वृत्तियाँ कुछ अवरोध उत्पन्न करती हैं, फिर मानव मे तो वे अधिक निश्चित रूप से उनके व्यक्तिगत-हित और सामान्य-हित द्वारा प्राकृतिक रूप से 'अवरोध उत्पन्न करने वाली होगी साराश मे, यह कहना सत्य है कि वही प्राकृतिक

अधिकार है जिन्हे सुगठित समाज मान्यता दे ।[1]

यह स्पष्ट है कि अधिकार चाहे साम्यिक हों अथवा वैध, वे उन्हे प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा आबन्धों की पूर्ति के आश्रित होते है । साम्यिक अधिकारो के विषय मे तो यह विशेष रूप से स्पष्ट हैं ।

८ अधिकार और आबन्ध प्लेटोवादी न्याय की अवधारणा के अनुसार अधिकार नागरिक कर्त्तव्यो की पूर्त्ति से सम्बन्धित होते है । यह विचार जैसा हम देख चुके हैं, चरम-बिन्दु पर पहुँचा माना जाता है । यह माना जा सकता है कि अपने आत्म-विकास तथा विशुद्ध आबन्धो की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्रता और सुअवसर प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए । परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकारो की स्वीकृति किसी वांछित लक्ष्य के विकास की पूर्ण मान्यता मे निवास करती है । इस कर्त्तव्य की पूर्ति के अभाव मे नैतिक-कर्त्तव्य शून्य हो जाते है, परन्तु वैध-कर्त्तव्य तो अत्यधिक अवहेलना पर ही अवरुद्ध होते हैं । यदि कोई राज्य, यह चाहे कि जो अधिकार उन्हें दे दिये गए हैं, वे उनका उपयोग एक ही ढग से करें तो यह असह्य प्रजा-पीडन की बात होगी । परन्तु यह तो निश्चित है कि उनका उपयोग तर्कसगत तरीके से होना चाहिए । शुद्ध वैध विचार के अनुसार केवल वे आबन्ध, जो अधिकार पर आधारित होते है, उन्हे उपभोग की अपेक्षा दूसरो पर अधिक थोपा जाता है । इस प्रकार सम्पत्ति के अधिकार मे भी यह आबन्ध होता है कि दूसरे व्यक्ति "उसे छीने और चुराएँ नही ।" इस प्रकार प्रायः सभी आबन्ध शुद्ध नास्तियुक्त होते है; और वैध दृष्टि से तो इसके अतिरिक्त कुछ है ही नही । अस्ति आबन्धो को वैधानिक रूप से लागू किया जाना अति कठिन है । परन्तु यह स्मरण रहे कि कुछ ऐसे भी आबन्ध होते हैं जो अधिकारो के साथ आबद्ध रहते है और कानून उनका लेखा-जोखा लेता रहता है । "पूर्ण आबन्ध" और "अपूर्ण आबन्ध" की अभिव्यक्ति वैध रूप से चालू किये जाने वाले कर्त्तव्यो की, वैधानिक रूप से लागू न किये जाने वाले कर्त्तव्यों अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा मोल लेकर लागू किये जाने वाले कर्त्तव्यो के साथ पृथकता प्रदर्शित करने के लिए की गई थी । उदाहरणस्वरूप, वैधानिक रूप से एक व्यक्ति 'अपनी वस्तुओ से इच्छानुसार व्यवहार तभी तक कर सकता है,' जब तक वह दूसरो के वैधानिक अधिकारो मे बाधक नही बनता । इसके साथ ही बहुत कम वस्तुएँ ऐसी होती है जिनको पूरी तरह से किसी

---

१ डी० जी रीची : "नेचुरल राइट्स" में इस विषय के नास्ति स्वरूप पर; इसका अस्ति स्वरूप प्रो० डब्लू० जे० राबर्ट के अप्रैल १९१० के "इण्टर नेशनल जनरल आफ एथिक्स" पत्रिका के 'अपील टू नेचर इन मारेल एण्ड पालिटिक्स' लेख में।

व्यक्ति की निजी सम्पत्ति कहा जा सके और जिनके प्रयोग के लिए वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति पशु रख सकता है, परन्तु उनके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के लिए वह स्वतन्त्र नहीं, भले ही पशुओ को कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नही। वैधानिक कानूनो द्वारा तो मर्यादा-हीन अचेतन वस्तुओ तक को भी गाली देना निषिद्ध हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि समुदाय अपने नागरिको को जहां कुछ रखने की स्वीकृति देता है, तो वह उन वस्तुओ के प्रति कुछ अधिकार भी देता है। परन्तु दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि नागरिक जिन वस्तुओ का उपयोग करते हैं, उनके प्रयोग सम्बन्धी कर्त्तव्यों का भी ध्यान रखे। कम-से-कम इस सीमा तक तो प्लेटो की अवधारणा पुष्ट मालूम देती है।

षष्ठम अध्याय

सामाजिक आदर्श

मनुष्य जीवन के अन्य पहलुओ की तरह समाज भी तत्त्वत: प्रगतिशील है। समाज क्या होता है और उसका विकास कैसे होता है, यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। कुछ अशो तक यह बात उन सब चीज़ों पर लागू होती है जो जीवित रहती, बढती है। अरस्तू ने भी इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनके अध्ययन के समय हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए

१. आदर्शों का सामान्य महत्त्व

कि विकास के लिए समाज मे अनन्त शक्ति होती है। परन्तु बहुत-सी जानदार चीज़ो मे यह शक्ति सीमित रूप मे है। एक बीज एक विशेष प्रकार के पौधे के रूप मे, और एक भ्रूण एक विशेष प्रकार के पशु के रूप मे परिर्वातत होते हैं, और उनमे हेर-फेर भी तुलनात्मक रूप मे बहुत ही कम होता है। मानव के शारीरिक पहलू के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। हम अपने शारीरिक ढाँचे मे, विचारपूर्वक यदि एक रत्ती-भर भी हेर-फेर करना चाहे तो नही कर सकते, और न हमारे स्वभाव और नैर्सागक-सम्पत्ति और सामान्य विशेषताओ मे कोई परिवर्तन सभव होता है। परन्तु इसके विपरीत हम मानव-जाति के विकास की सभावनाओं के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की सीमाएँ निश्चित नही कर सकते। हमारा ज्ञान अपने स्वय और इस विश्व के सम्बन्ध मे, जिसमे हम रहते है, असीमित रूप मे विकसित हो सकता है और हमारी भावी भौतिक समस्याओ के नियन्त्रण और हमारे सामाजिक सम्बन्धो के विकास के लिए वर्तमान मे ही अच्छे परिणाम उत्पन्न कर सकता है। इस सम्बन्ध मे, कम-से-कम इतना कहना सत्य है कि 'मनुष्य आशिक है और वह पूर्ण बनने की आशा करता है।' निस्सन्देह यह तथ्य हमे उसके सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करने से रोकता है। कभी-कभी यह कहना भी सही है कि "मनुष्य कभी भी उतना आगे नही बढ सकता जब तक उसे यह पता न हो कि वह कहाँ जा रहा है।" फिर भी मनुष्य कुछ हद तक आगे दृष्टिपात कर सकता है और कुछ अशो मे जिस सामान्य-दिशा की ओर वह बढ रहा होता है, उसके सम्बन्ध मे भी बता सकता

है। इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर अब हम समाज के लक्ष्यभूत आदर्शों को प्राप्त करने के लिए अपनाये गए प्रमुख उपायों की ओर ध्यान देते हैं। वे अधिकांश मे सरकार की प्रमुख अवधारणाओ से सम्बन्धित होते हैं, जिन्हे अभिजात्य और लोकतन्त्र के आदर्शों के रूप मे चित्रित किया जा सकता है। उन आदर्शों की व्याख्या करने से पूर्व सरकार के इन दोनों ढाँचो पर प्रकाश डालकर हम उन्हे अधिक निश्चित रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं। सामान्यत अभिजात्यतन्त्र का आदर्श प्रमुख रूप से योग्यता तथा उच्चतम वैयक्तिक विकास होता है, जबकि लोकतन्त्रात्मक आदर्श स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व से पूर्ण रहता है। हम पहले इन दोनों आदर्शों पर तथा फिर उनमे निहित विशेष ध्येयो पर विचार करेंगे।

२. अभिजात्य आदर्श

इस आदर्श की प्रकृति पर इसके अपने प्रेरणात्मक ढग मे प्लेटो के 'रिपब्लिक' तथा कार्लाइल और रस्किन के लेखों मे अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसे अत्यधिक विरोधाभासपूर्ण और विकर्षणात्मक ढग से नीत्शे ने अपनी कृतियों मे प्रस्तुत किया है। इस विषयक आदर्श-वाक्य होमर की इस उक्ति मे मिलता है, "दूसरो से अधिक समृद्ध बनो और उनका अतिक्रमण करो" तथा आधुनिक समय मे "कुलीनो के प्रति आबन्ध" मे मिलता है। इस सिद्धान्त के समर्थक दैवी तथा वीर गुणो से युक्त उन महान् व्यक्तियो से प्यार करते हैं जो "खतरो मे निवास करते हैं" तथा अपनी जाति को महानता से विभूषित करते हैं, अथवा जो गेटे की तरह अपने जीवन के पिरामीड को जितना ऊँचा सभव हो सकता है, ले जाते हैं। अभिजात्यतन्त्र का ध्येय समाज के लिए योग्यतम व्यक्तियो की उपलब्धि करना अथवा विशेष रूप से शासन के लिए योग्य व्यक्तियो को खोजना है। हम यह देख चुके हैं कि योग्यतम व्यक्तियो के खोजने का सामान्य सिद्धान्त इन व्यक्तियो के अपने कार्य को सुचारु तरीके से करने की विधि मे निहित है, जैसे की प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा मे प्रस्तुत किया गया है और जिस अर्थ मे हम स्वीकार भी कर चुके हैं। परन्तु उस अर्थ मे वह विशेषत अभिजात्यतन्त्र नही कहला सकता, जब तक यह न मान लिया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ कार्य करने के योग्य होता है और एक दूसरे के अधीन रहकर काम करना आवश्यक नही है। उसे अभिजात्य सिद्धान्त तभी कहा जा सकता है जब वह विशेष रूप से शासको के लिए प्रयुक्त किया गया हो। निस्सन्देह इसके सर्वोत्तम व्याख्याता इसकी कठोरता "कुलीनो के प्रति आबन्ध" की अवधारणा पर बल देकर कम करने का प्रयत्न करते हैं। बाइबिल के इस आदेश कि "यदि तुम लोगो मे से कोई प्रधान बनता है तो उसे जनता का सेवक बनने दो," में अधिकतर यही अनुशासन

पूर्व-भासित हो रहा है जो प्लेटो द्वारा शासको पर कठोरता के साथ लगाया गया था और उन्हे वाणिज्य और औद्योगिक वर्गो को दिये जाने वाले अनेक लाभो से वंचित किया था। कार्लाइल कहता है[1] "बुद्धिमान् लोगो द्वारा शासित होना मूर्ख लोगो का विशेषाधिकार है।" वीरता-सम्बन्धी अवधारणा, जो मध्ययुग के सामन्तो तथा जापान के समुराई लोगो मे पाई जाती है, इसी तरह विशेषाधिकार के विपरीत प्रतिष्ठा-सन्तुलन को प्रदर्शित करती है। यह स्मरण रहे कि 'नाइट' (Knight) शब्द का अर्थ मूलत एक सेवक है और कुछ राजकुमारों का आदर्श-वाक्य "मैं सेवा करता हूँ" था। परन्तु जिस तरह एक मखमली दस्ताना कठोर मुट्ठी को ढक लेता है, उसी तरह कभी-कभी एक विनम्र चाल कठोर आत्माओ पर परदा डाल देती है। फिर भी, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अभिजात्य-आदर्श का उद्देश्य अभिजात्य ही है। एक सुविकसित व्यक्तित्व को मुश्किल से ही कभी उचित पुरस्कार मिल पाता है। एक नेतामे योग्यता होना परम महत्त्व की बात है। एक शासक की योग्यता के पश्चात् (यद्यपि उसकी गणना पहले की जानी चाहिए) शिक्षा-शास्त्री की योग्यता का सबसे अधिक महत्त्व है।

३. लोकतन्त्रात्मक-आदर्श

लोकतन्त्रात्मक-आदर्श का कभी-कभी अभिप्राय समाज के निम्नवर्ग के शासन अथवा (लगभग उसी मतलब वाले) बहुमत के शासन से लिया जाता है। इसी अर्थ मे इस अवधारणा को प्लेटो तथा आधुनिक काल मे कार्लाइल, रस्किन और हेनरी मेन ने समझा और उस पर आपत्ति की। जे० ऑस्टिन[2] ने लोकतन्त्र की परिभाषा, 'वह सरकार जिसके शासन-मण्डल मे तुलनात्मक रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र का विशाल अंश भाग लेता हो" की है, परन्तु इस आदर्श के अधिवक्ता इस परिभाषा को मुश्किल से ही सही मानेंगे। राष्ट्रपति लिंकन के "प्रजा के लिए, प्रजा के द्वारा, प्रजा की सरकार" वाला वाक्यांश सामान्यत: सही परिभाषा के रूप में अधिक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस अभिव्यक्ति का प्रथम और अन्तिम भाग सभी अच्छी सरकारो के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। अभिजात्य-तन्त्र के अधिवक्ताओ का उद्देश्य प्रजा की सरकार मे है, और वे सोचते हैं कि ऐसी सरकार लोगो के हित के लिए होती है। उनकी धारणा है कि अपने-आपको लोकतन्त्रीय कहने वाली सरकार मुश्किल से ही सरकार हो सकती है परन्तु वह प्रच्छन्न स्थिति मे अराजकता का ही रूप है। वह यथार्थ मे लोगो के हित के लिए नही होती, परन्तु कम-से-कम लोगो के उस भाग के लिए होती है, जिन्होने शक्ति

१. 'लेटरेडे पैम्फलट' I।

२. 'ए प्लोआ फार दी कान्सटीस्यूशन' 'लैक्चर्स आन ज्यूरिस पड़ेन्स' तथा मेने के 'पापुलर गवर्नमेंट एस्से।'

और प्रभाव को हथिया लिया है। लोकतन्त्र के अधिवक्ता इसका प्रत्युत्तर यह देते है कि लोकतन्त्रात्मक-व्यवस्था मे ये दोष आवश्यक नही हैं और यह भी अनिवार्य नही कि अभिजात्यवर्ग की सरकार योग्य अथवा सम्पूर्ण रूप से लोगो के हित को ध्यान मे रखने वाली हो। उनका कहना है इस ध्येय की प्राप्ति के लिए सरकार प्रजा की, और प्रजा के लिए ही न हो, अपितु वह प्रजा के द्वारा भी हो।

अब एक और प्रश्न उठता है कि प्रजा अथवा जनता क्या है? इस सम्बन्ध मे कुछ अधिक कहना उपयुक्त रहेगा। प्रजा से अभिप्राय व्यक्तियो के उस निकाय से लिया जाता है, जिनका आपस मे घनिष्ठ साहचर्य हो और जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो। प्रमुख कठिनाई यह है कि यदि हम इस अर्थ मे इसकी व्याख्या करते हैं, तो किसी राष्ट्र मे वास्तविक रूप से इस प्रकार की जनता होती ही नही। यहूदियो के इतिहास मे एक ऐसा भी काल बताया जाता है जब इजराइल मे कोई राजा नही था और प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार से जो उचित समझता, वही करता था। परन्तु यदि हम प्रजा को ही राजा का स्थान दे दें, तो यह भी सभव है कि ऐसी स्थिति आ जाए जब प्रजा का नाम भी न रहे और प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे का विरोधी हो। इस तरह के अनेको दु:खभरे उदाहरणो को प्रस्तुत करना बडा सरल है। ऐसे समय यदि कोई सरकार बनती है तो वह कुछ लोगो द्वारा, कुछ दूसरे लोगो की बनेगी, और वह उनकी स्वार्थ सिद्धि के लिए होगी जिनकी सरकार होगी। और कुछ अशो मे वह धनिक तन्त्र का रूप धारण कर लेगी। क्या यह नही कहा जा सकता कि सभी लोकतन्त्रीय सरकारें धनिकतन्त्रात्मक अल्पतन्त्र होती है? इतना होने पर भी जो लोग सरकार चलाते हैं, वे मुश्किल से ही उनमे से होते हैं जिनके भले के लिए वह काम कर रही होती है। एक सरकार का, और विशेषत लोकतन्त्रात्मक सरकार का, जीवन-काल बहुत छोटा होता हैं। वह सामान्यत: किसी पार्टी की सरकार होती है और एक पार्टी को बडी तेजी से दूसरी पार्टी को स्थान देना पडता है, तथा प्रत्येक पार्टी कुछ अशो मे दूसरी पार्टी के लिए बाधक भी होती है। दूसरी ओर, प्रजा यदि सही अर्थ मे प्रजा है, तो पीढी-दर-पीढी चलती रहती है। वह हित, जो एक हित के रूप मे वाछित है, केवल उन लोगो के लिए हो नही, जो वर्तमान मे जीवित है और सरकार के कार्य मे कुछ सक्रिय भाग भी लेते है, परन्तु उन बच्चो के लिए भी है जो नागरिकता के लिए तैयार किये जा रहे हैं तथा आगे आने वाली भावी पीढ़ियो के लिए भी हैं। परन्तु इस बात की क्या गारण्टी है कि ये सभी पार्टियाँ इन सब लोगो के हित का ध्यान रखेगी। क्या यह सभव नही कि जिस प्रकार सरकारे अल्पकालीन होती है, उसी तरह वे अल्पदर्शी अथवा सकुचित दृष्टिकोण वाली होगी? अत 'जनता द्वारा सरकार' वाला मुहावरा बहुत भ्रामक हो सकता है। इस बात पर इतना बल देने का अभिप्राय यह है कि एक अच्छी

सरकार मे प्रजा के सामान्य-हित का ध्येय निहित हो। और हम ऐसी सरकार की दृढता मे तभी विश्वास कर सकते हैं जब सामान्य-हित स्पष्ट हो और सभी द्वारा वाछित हो। इन्ही सब बातो पर 'स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व' आदि सुन्दर शब्दो मे बल दिया गया है। इनका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए यह सुविधाजनक होगा कि इन पर विपरीत-क्रम से विचार किया जाए। इनकी सक्षिप्त व्याख्या के पश्चात् अभिजात्यतन्त्र की अवधारणा का मूल्यांकन और विविध उद्देश्यो के समन्वय की सभावना पर विचार सरल होगा।

भ्रातृत्व को किसी भी सामाजिक आदर्श का तात्त्विक आधार माना जा सकता है। किसी भी मौलिक सामाजिक एकता की अवधारणा के लिए जैसा

४ भ्रातृत्व

हम पहले लिख चुके है, यह आवश्यक है कि लोगो मे विचारो की एकता तथा सामान्य-हित के प्रति साझेदारी की भावना होनी चाहिए। प्लेटो ने राज्य की अगीय एकता पर बल दिया है और अरस्तू ने मित्रता को न्याय का आधार बताया है। इस अवधारणा के सामान्य सिद्धान्त मे आधुनिक वक्तव्यो से कुछ वृद्धि नही हुई परन्तु स्टोइको के विश्व-नागरिकता और ईसाइयो की मानव भाई-चारे की शिक्षाओ से विशेष बल प्राप्त हुआ है। समाज की एकता का प्रत्येक मौलिक आदर्श इसी केन्द्रीय अवधारणा से उद्भूत होता और अपना प्रभाव डालता-सा दिखाई देता है। उदाहरणस्वरूप यह स्पष्ट है, जैसा कि अरस्तू ने कहा है,[1] कि "मैत्री अथवा भाई-चारे मे एक प्रकार की समता की भावना छिपी-हुई है।" अब आगे इसी पर प्रकाश डालेंगे।

समता की व्याख्या कई अर्थों मे की जा सकती है, और हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि कौन-सी व्याख्या सबसे अधिक स्पष्ट तथा आधारभूत है। समता

५ समता

का अर्थ स्वामित्व की समता और कानून के समक्ष समता आदि से लिया जाता है अथवा जाति, वश, लिङ्ग, राष्ट्रीयता, शिक्षा, योग्यता, चरित्र और इसी तरह के अन्य भेदो के अन्यतम महत्त्व से केवल इन्कार करना ही हो सकता है। इन प्रत्येक बात पर थोडा-थोड़ा प्रकाश डालना लाभदायक होगा।

(१) स्वामित्व की समता का प्रचार अपने-आपको साम्यवादी अथवा समाजवादी[2] कहने वाले लोग करते है। यह ऐसा दृष्टिकोण है जो स्वतः ही भ्रातृत्व

---

१. "एथिक्स" खण्ड ८ अ० ६।

२. सभी के द्वारा तो नहीं। कभी-कभी निश्चय करना कठिन होता है कि कौन विशेष समाजवादी लेखक इसको अन्तिम आदर्श के रूप में कहाँ तक मानता है। वर्तमान समय में पक्के समाजवादियों में श्री बर्नार्ड शा उनमें से एक हैं, जिन्होंने इसका निकटतम मूल्यांकन किया है।

की अवधारणा मे जोडता है। एक पुरानी कहावत के अनुसार 'मित्रो मे सभी वस्तुए समान होती हैं।" यदि इसे हम तुरन्त सही मान लें तो यह आपत्ति हो सकती है कि सभी लोग मित्र नही होते, परन्तु उत्तरोत्तर वे मित्र बन सकते हैं। कुछ भी हो, इस अवधारणा के यथासभव पूर्णत्व को स्वीकार करने मे ये बातें बाधक नही हो सकती। इस विषय मे सबसे अधिक आपत्ति वाली बात प्लेटो की कार्य मे भिन्नता की अवधारणा हो सकती है। जिनके कार्य भिन्न होते है, उनकी आवश्यकताएं भी भिन्न होनी हैं। एक कवि एक कल्पनाशील दार्शनिक अथवा एक धार्मिक शिक्षक की केवल सामान्य भौतिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त कुछ और आवश्यकताएँ भी होती हैं। उन्हे अपने स्वतन्त्र प्रत्यक्षीकरण, विचार अथवा अन्त प्रज्ञा के लिए अवकाश तथा सम्भवत' अध्ययन के लिए पुस्तको, जो किसी सार्वजनिक पुस्तकालय मे मिल सकती हैं, की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत एक आविष्कारक अथवा प्रकृति विज्ञान के एक विद्यार्थी को अनुसधान के समय कुछ सूक्ष्म यन्त्रो अथवा अन्य उपकरणो की आवश्यकता हो सकती है और वे उनका उपयोग अपनी इच्छा अनुसार करना चाहेगे। यदि जनता ही यह वस्तुएँ उन्हे थोडे समय के लिए देती है, तो भी कुछ समय के लिए वे उन्ही की सम्पत्ति होगी, दूसरे लोगो को उनका प्रयोग करने का कुछ भी अधिकार नही होगा। पर मैत्री की भावना रखने वाली जनता भी उन्हे वह वस्तुएँ तब तक सौपने के लिए तैयार नही होगी, जब तक वे अपने साहसिक कार्यो द्वारा जनता का विश्वास प्राप्त नही कर लेते।

फिर, यदि सब लोगो का परिग्रह समान होगा तो व्यावहारिक रूप मे यह भी आवश्यक होगा कि सब लोग सेवाएँ भी समान करे, पर यह होना एकदम अवश्यम्भावी नही। सेवाएँ सामग्रियो की तरह सरलता से नही मापी जा सकती। ऐसा लगता है कि यह सब सामग्रियो की समता का प्रचार करने वालो ने मान लिया है कि वर्तमान समय मे विद्यमान वस्तुएँ या सामग्रियाँ वितरण के लिए प्राप्त होगी। परन्तु ये सामग्रियाँ जिस श्रम से पैदा होती हैं, उन्हे प्राप्त करने के लिए भी पूरी तरह से वैसा ही श्रम किया जाए। यदि प्रत्येक व्यक्ति समान-सेवा की शर्त का पालन किये बिना समान-भाग का अधिकारी होना चाहता है, तो भी ऐसी व्यवस्था करना कठिन होगा कि सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती रहेंगी। सच तो यह है कि ऐसा प्रबन्ध प्राकृतिक ही नही है। लोगो के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे आवश्यक वस्तुएँ पाने के लिए प्रयास करे, और वे वस्तुत उन वस्तुओ का उत्पादन करके कर सकते है, अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य वस्तुओ का उत्पादन करके उनके विनिमय द्वारा कर सकते हैं। परन्तु मनुष्य मे अपनी दृष्टि अथवा मूल्याकन की शक्ति से बाहर लक्ष्य का अनुसरण करने की प्राकृतिक प्रेरणा ही नही होती। और यदि हम यह मान ले कि उनमे ऐसी दृष्टि

है तो बात ही दूसरी होगी। सम्भवतः शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था और सौजिनिकी के सिद्धान्तो के प्रयोग से ऐसी जाति उत्पन्न की जा सके, परन्तु वर्तमान समय मे अतिमानव गुणों से युक्त ऐसे सामाजिक संगठन की कल्पना करना उपयोगी नही होगा। इस बीच यह मान लेना भी ठीक नही कि अत्यधिक व्यवस्थित परिवारों मे भी सम्पत्ति की समता का सिद्धान्त पालन किया जाता होगा। परन्तु लोगो की प्रवृत्ति ऐसी है कि सम्पत्ति का आवश्यकता और योग्यता के अनुसार समायोजन किया जाए। यह केवल प्लेटो की न्याय-सम्बन्धी अवधारणा को लागू करना है, जिसके सम्बन्ध मे हम यह देख चुके है कि उसमे समता की बात नही है ।

(२) कानून की नजरो मे समता न्याय के प्रत्यय से युक्त है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यदि प्रासंगिक परिस्थितियाँ समान होगी, तो न्याय भी समान ही होगा। कानून व्यक्तियो मे भेद नही करता जबकि उसके प्रतिपादन के समय साम्य मे कुछ अन्तर आ सकता है। साम्य सम्बन्धी अवधारणा स्वय कुछ सम्भ्राति पैदा करती है। यह कहा जा सकता है कि साम्य मे समता के अर्थ निहित है, पर है ऐसा कठिन। उदाहरणस्वरूप, स्पेन्सर ने साम्य और समता के आपसी सम्बन्ध पर अत्यधिक बल दिया है।[1] मैं सोचता हूँ कि कुछ अंगो मे यह मिथ्याधारणा से हुआ है। कभी कभी लोग ऐसा सोचते है कि साम्य सम्बन्धी अवधारणा समता से उत्पन्न हुई है, परन्तु ऐसा लगता है कि हुआ इससे विपरीत है।

(३) समता का तीसरा अर्थ हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए बहुत महत्त्व रखता है और वह इसे भ्रातृभाव के प्रत्यय से सम्बन्धित करता है। इस मान्यता मे यह भाव अन्तर्ग्रस्त है, कि एक मानव को दूसरे मानव से पृथक् करने वाली वस्तुएँ उनको सगठित करने वाली वस्तुओ की तुलना मे महत्त्वहीन होती है। सामान्यत. जब हम एक ही प्रकार के जीवधारियो के विषय मे बात करते है तो यह बात सही प्रतीत होती है। कुत्ते अनेको तरह के होते है, परन्तु शायद उनके जीवन-प्रकार के विषय मे निर्णय करते समय उनके शारीरिक-गठन की अपेक्षा उनके कुत्तेपन पर अधिक ध्यान देना होगा। कुछ भी हो, यह अच्छी तरह से प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह हमारी सामान्य मानवता ही है जो हमे विश्व मे अद्वितीय स्थान प्रदान किये हुए है, अन्य अन्तर महत्त्वहीन है।[2] "एक मानव, एक मानव ही होता है," यह इसलिए कि उसमे कुछ अन्यो की अपेक्षा

१. डाटा आफ एथिक्स ।

२. मै इस विचारधारा पर पाठकों का ध्यान वाल्टह्विट मैन के लेखों तथा अति आधुनिक एव अति प्रसिद्ध श्री जे० के० चेस्टर टन महोदय के लेखों में निरन्तर दिए बल की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

अधिक आधारभूत अन्तर होते है। वर्न ने अपने गीतो मे स्थिति और भाग्य द्वारा प्रतिपादित अन्तर को महत्त्वहीन बताया है। "ज्ञान और योग्यता" अब भी भिन्नता के तर्कसगत आधार माने जाते हैं। परन्तु जब हम मानव की तात्त्विक एकता के सम्बन्ध मे विचार करते है तो जातीय भेदो को स्थान नही देना चाहिए। आजकल के लोग प्लेटो के इस "उदात्त झूठ" को गलत कहेंगे कि "कुछ लोग सोने, कुछ चाँदी और कुछ भिन्न धातु के होते हैं।" अरस्तू ने अपेक्षाकृत ऐसे कम भेद स्थापित किए है फिर भी उसने "स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र" तथा "स्वाभाविक रूप से दास" के रूप मे तीव्र भेद प्रस्तुत किया है। स्टोइकवाद और ईसाई धर्म ने ऐसे भेदो को हटाने का बहुत प्रयास किया, फिर भी वे नीत्शे की स्वामी और गुलामो की नैतिकता की प्रतिस्थापना के रूप मे पुनः प्रकट हो गए। कार्लाइल का "बुरे और अच्छे आदमी मे शाश्वत अन्तर" का आग्रह भी ईसाई धर्म के विपरीत है और अपने-आप म पुष्ट नही है। बहुत से लोग न काले होते है न गोरे, परन्तु कुछ भूरे रग के भी होते हैं। शेक्सपीयर अथवा वाल्टह्विटमैन जैसे प्राकृतिक शक्तियो से युक्त अतिमानव भी देवता न होकर देव-स्वरूप मानव ही अधिक थे। कुछ भी हो इसी तरह के विचारो से मानवीय भ्रातृत्व के विचारों की स्थापना होती है। इसी भावना मे समता शब्द भ्रातृत्व का आशय रखता है और अधिक सुनिश्चित अर्थ देता है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि इसका भाव उन भेदो को अस्वीकार करना भी नही है और यह हमे इस इच्छा की ओर प्रेरित भी नही करता कि हम एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समाप्त ही कर दें। इसे समाप्त करने के दो ढग है। एक यह कि किसी कोण के सिरे को समाप्त अथवा उसका विस्तार कर दें। पहली विधि का क्षेत्र सीमित और दूसरी का व्यापक है। ऐसा लगता है कि दूसरी विधि ही हमारा ध्येय है। उदाहरण के लिए धर्म के सम्बन्ध मे उस पहलू को समाप्त कर देना बुद्धिमत्ता होगी जिसके द्वारा विभिन्न धर्मो मे अन्तर दिखाई देता है। शायद इससे यह अच्छा होगा कि आधारभूत सिद्धान्तो की तात्त्विक एकता के विकास के लिए प्रयास किया जाए, जिससे धीरे-धीरे उनमे पाये जाने वाले भेद स्वतः ही प्रभावहीन हो जाएँ। परन्तु इस उदाहरण पर हम अधिक कुछ नही कहेगे।

अब हम स्वतन्त्रता की अवधारणा पर आते है। एक आदर्श समाज मे स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता से है जब तक कि वह दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधक न हो। काण्ट ने इसका प्रतिपादन इसी प्रकार से किया है, और अभी वर्तमानकाल मे स्पेन्सर ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु क्या यह

६ स्वतन्त्रता

मर्यादा उपयुक्त है? स्वातन्त्र्य-नियन्त्रण के कई ढग हो सकते हैं, परन्तु वे दूसरो को दिये गए अधिकारो या कार्य-स्वातन्त्र्य के अनुरूप ही होते हैं।

"जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धान्त पर सभी अमल कर सकते है और उद्योगों में अहस्तक्षेप की अवधारणा इसी सिद्धान्त का एक सीमित प्रयोग है, और स्वतन्त्रता का वास्तविक सीमा-निर्धारण तो सामान्य-हित के प्रत्यय मे है। भाइयो मे कार्य-स्वातन्त्र्य सीमित होता है। यह केवल इसीलिए ही नही कि दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुँचे, वरन् इसलिए भी कि किसी के हित मे रुकावट न पड़े। यदि मानवीय भ्रातृत्व की अवधारणा मे कोई वास्तविकता है, तो ऐसी ही मर्यादाएँ विशाल समाज के लिए भी लागू होगी। यह सन्देहास्पद है कि स्वतन्त्रता के विशेष रूपों के लिए कोई सतोषजनक आधार, सिवाय इसके कि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है, दिया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि वे ऐसे अधिकार हैं जिनके साथ उनके सवादी आबन्ध रहते हैं। उदाहरणस्वरूप सभ्य-समाज के लिए बोलने की स्वतन्त्रता का दावा किया जाता है; वह उचित भी है क्योकि उस पर रोक लगाना एक बाधा होगी और कुछ बातों के प्रति वे विचार छिपे रह जाएँगे, जिनका प्रकट होना ही अच्छा है। परन्तु यह बात तभी सही हो सकती है जब लोग बोलने के सम्बन्ध मे आत्म-सयम के एक विशेष स्तर तक पहुँच गए हो, परन्तु युद्ध-काल-जैसी परिस्थितियों मे यह बात सही नही होती, अर्थात् उस समय बोलने की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती। वैसे शान्ति के समय मे भी बोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता पर कुछ रुकावट होनी ही चाहिए। डॉ० जानसन ने कहा है कि प्रत्येक आदमी जो कुछ सोचता है, वह कहने का उसे अधिकार है, परन्तु दूसरो को भी उस बात के खण्डन का पूरा अधिकार है। परन्तु यह सामाजिक व्यवस्था और भ्रातृत्व की भावना के लिए सहायक नही। यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि सामान्यतः सरल अभिव्यक्ति अथवा सादे ढंग से किसी बात को कहने से किसी को नुकसान नही होता परन्तु इस प्रकार की अभिव्यक्तियों का नियन्त्रण (साहित्यिक कार्यों पर सेन्सर) सरकारी अधिकारियो के हाथों सौंप देना अथवा कानून द्वारा यह निर्णय करने की कोशिश करना कि किस तरह के विचार व्यक्त किये जाएँ, आदि बातो से महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों अथवा साहित्यिक-कला के मूल्यवान् रूपो का अधिलंघन होगा। परन्तु शान्ति-काल मे भी कुछ अर्हताएँ निर्धारित करना अच्छा रहेगा। यह बात स्वीकार नही की जा सकती कि एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को बिना पुष्ट प्रमाण के झूठा अथवा हत्यारा कहे। इस बात की भी आज्ञा नहीं दी जा सकती कि कोई मनुष्य अनावश्यक आक्रामक तरीके से अथवा घर की छत से चिल्ला-चिल्ला कर अपनी राय ज़ाहिर करे। परन्तु ऐसे मामलों मे यह निश्चय करना कठिन है कि किस मात्रा तक आक्रामक ढंग और उसके ऊँचेपन पर रोक लगायी जाए। परन्तु इस प्रकार की अर्हताएँ कानूनी नियन्त्रण की अपेक्षा नैतिक नियन्त्रण के रूप मे अच्छी समझी जानी चाहिए, कम-से-कम ऐसे समाज में जहाँ लोग

आत्म-सयम जानते है। परन्तु अब इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तारपूर्वक कहने की आवश्यकता नही।

सामान्यतः, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता का दावा भ्रातृत्व के सिद्धान्त मे निहित है। जो लोग एक दूसरे का आदर-सत्कार करते है, वे एक दूसरे के कार्यो मे पर्याप्त कारण के बिना बाधा नही डालेगे। परन्तु कुछ ऐसी बातें भी होती हैं, जिनके लिए ऐसे पर्याप्त कारण प्रस्तुत करने पडते है, जैसे जब यह स्पष्ट हो जाए कि स्वतन्त्रता का कोई विशेष रूप सामान्य-हित का बाधक होगा। पर प्रचुर प्रमाणो के विश्लेषण के बिना किसी बात को उचित बताना, किसी विशेष गतिविधि को रोकने का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए प्रमाणो का भार-वहन करने के सिवाय कुछ नही होता।[1]

७ व्यक्तिगत विकास

स्वतन्त्रता की अवधारणा लोकतन्त्र को अभिजात्य आदर्शो मे परिवर्तित करने वाली कही जा सकती है, क्योकि ज्यो-ज्यो लोग अधिक-से-अधिक स्वतन्त्र होते जाते है, वे अपने उत्कर्ष और हीनता को अधिकाधिक प्रदर्शित करते है। और सामान्यत जो लोग किसी भी पहलू मे उत्कृष्ट (विशेषत प्रमुख और शक्तिशाली पहलू मे) होते है, वे अपने से हीन लोगो पर प्रभुत्व जमा लेते है। अभिजात्य आदर्शो की उत्पत्ति भी इसी मान्यता से होती है कि उत्कृष्टता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यह बात भ्रातृत्व की भावना के विरुद्ध नही है, यद्यपि अरस्तू ने कहा है कि जब स्पष्ट रूप से असमता होती है, तो वास्तविक मैत्री होना बडा कठिन है। यह भी असम्भव नही है कि जब तक मानव-जाति मे वास्तविक रूप मे असमता रहेगी तब तक कोई भी मानवीय-भ्रातृत्व ऐसी असमताओ से भरा रहेगा और सभी पहलुओ मे वैभवशाली लोगो का नेतृत्व रहेगा। ऐसी मान्यता अभिजात्य समाज के लिए आवश्यक नही है, परन्तु प्राय ऐसा होता रहा है, विशेषत ऐसी परिस्थितियो मे अधिक, जब श्रेष्ठता के किसी विशेष ढांचे पर बल दिया जाता रहा हो—जैसे, सैन्य-कला मे प्रवीणता तथा किसी विशेष ज्ञान को रखना, जैसे प्राचीन शास्त्रो का अध्ययन आदि। स्पिनोजा का यह कहना कि, "सर्वोत्तम हित सबके लिए सामान्य होता है, और सब लोग इसका समान रूप से उपभोग कर सकते है।" यह इस कथन के साथ सगत नही बैठता, कि सुन्दरतम वस्तुओ का मूल्याकन एक लम्बे अर्से और अत्यधिक श्रम के बाद ही किया जा सकता है। इस प्रकार प्लेटो द्वारा अनुमोदित अभिजात्यतन्त्र इस मान्यता

---

१. इस विषय में सम्भवतः अब तक मिल की "लिबर्टी" हर पुस्तक सर्वोत्तम सुगम पुस्तक है। स्पेन्सर की "दि मैन वरसस दि स्टेट" एकपक्षीय पुस्तक है, और इसी तरह मैं सोचता हूँ कि जी० के० चेस्टरटन तो अपने प्रतिपादन में अराजकतावादियों के मित्र बन गए हैं।

पर आधारित है कि सर्वोत्तम हित उचित रूप से कुछ ही लोगों द्वारा समझा तथा मूल्याकित किया जा सकता है। और वे ऐसा तभी कर सकते हैं कि जब उन्हे लम्बे काल तक ज्ञान तथा प्रशिक्षरण दिया जाए। जो लोग इस तरह अनुशासित नही वे प्लेटो के अनुसार किसी बाह्य नियन्त्रण मे रहने चाहिएँ। ऐसे विचारों के प्रति प्रमुख आपत्तियाँ इस प्रकार है, कि (१) उच्चतम मूल्यों का मूल्याकन करने योग्य और अयोग्य व्यक्तियो में स्पष्ट भेद नही किया जा सकता, (२) उन लोगों का मूल्याकन प्रशिक्षण की विशेष-विधि की अनुभूति के अनुसार होता है; और (३) मानव-भ्रातृत्व की मान्यता (प्लेटो द्वारा स्वीकृत) स्वयं एक उच्चतम मूल्य है तथा वर्गों का तीव्र भेद उस मान्यता के मार्ग मे एक घातक रुकावट पैदा करता है। परन्तु इस प्रकार की आपत्तियाँ हमें यह मानने से रोक नही सकती कि कुछ लोग कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओ मे दूसरे लोगो से अधिक महत्त्वपूर्ण होते है और प्रत्येक प्रकार की उत्कर्ष-भावना नेतृत्व के रूपो को जन्म देती है। प्रत्येक जीवन-पथ सभी प्रकार के बुद्धि-जीवियो के लिए खुला होना चाहिए, जिससे जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य योग्यतम तरीके से पूर्ण हो सकें। इस प्रकार से हम योग्यता के आदर्श तक पहुँच सकते है, जो कि स्वभावतः ही स्वतन्त्र-विकास से सम्बन्धित होता है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, उससे यह स्पष्ट है कि सुव्यवस्थित-समाज-सम्बन्धी अवधारणा दक्षता, समता और स्वतन्त्रता के रूप में निहित रहती है। इस प्रकार उसमें अभिजात्यतन्त्र तथा लोकतन्त्रात्मक प्रणालियों के तत्व विद्यमान रहते हैं। सामान्य-हित की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ तक हो सके, उसकी योग्यतानुसार उचित स्थान देकर ही की जा सकती है। वास्तव मे यह बात महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पदों तथा दूर तक प्रभाव डालने वाली नियुक्तियों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि दक्षता का तात्पर्य सामान्य-हित सम्बन्धी योग्यता से है। एक शासक अपने कार्यों में दक्ष हो सकता है, फिर भी वह मूलतः अपने निजी तथा कुछ व्यक्तियो के स्वार्थों की पूर्ति मे प्रयत्नशील हो सकता है। केवल यह कहना, जैसा कि कार्लाइल ने कहा कि समर्थ व्यक्ति राजा होना चाहिए, सन्तोषजनक अभिव्यक्ति नही है। कार्लाइल के विचार कुछ अशों मे योग्यता के विशेष रूपो मे अविश्वास तथा योग्यता व अच्छाई के किन्ही भेदो के मध्य आधारित है। परन्तु कम-से-कम जैसा बेकन ने कहा है कि "स्वयं व्यक्ति के लिए प्रज्ञान" स्पष्टतः सामुदायिक प्रज्ञान से भिन्न होता है। एक विजय के लिए सेना के नेतृत्व की योग्यता का अर्थ यह नही कि विजय का उचित प्रयोग अथवा ऐसा करने की इच्छा उस व्यक्ति मे होगी। यह सत्य है कि बडे और महत्त्वपूर्ण साहसिक कार्यों मे, विशेषतः

८. दक्षता

जहाँ तुरन्त निर्णय की आवश्यकता पडती है, यह अनिवार्य हो जाता है कि सब से योग्यतम व्यक्ति ही नेतृत्व करें और उन्हे कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। ऐसी परिस्थितियो मे होमर की इस उक्ति को जोरो से प्रयुक्त किया जा सकता है कि "बहुत-से लोगो का शासन अच्छा नही," एक को ही मुखिया बनने दो। परन्तु होमर ने भी यह माना है कि किसी विचार-विनिमय के समय नेता भी अपनी सभा से मार्गदर्शन प्राप्त करे। प्रधान रूप से व्यवस्था-कार्यों के लिए तुरन्त निर्णय कर सकने वाला एक योग्य व्यक्ति अच्छा रहता है। कॉम्टे ने विचार-विनिमय तथा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यवाही का अन्तर स्पष्ट करने पर विशेष बल दिया है। उसके शिष्य एफ० हैरिसन ने इसे सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया,[1] "एक तरफ, हमे वास्तविक नेतृत्व की आवश्यकता होती है, तथा दूसरी ओर मौलिक परामर्श की।" इस प्रकार अभिजात्यतन्त्र तथा लोकतन्त्र की विशेषताओ का एक समन्वय-सा हो जाता है।

६. सामाजिक आदर्श, संक्षिप्त रूप में

अब हम सामाजिक आदर्श के दो प्रमुख प्रकारो का साराश सक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं — (१) शुद्ध लोकतन्त्रात्मक आदर्श समता की अवधारणा पर अत्यधिक बल देता है। इस प्रकार इसमे इस बात की अवहेलना होती है कि प्रत्येक स्थान पर उपयुक्त और योग्य व्यक्ति ही रखे जाएँ। इस प्रकार उसमे दक्षता और उच्चतम व्यक्तित्व का विकास नही हो पाता। इसमे ब्राउनिङ्ग के कथनानुसार सर्वतोमुखी व्यक्तित्व वाले लोगो की इतनी आवश्यकता नही, अपितु उनकी अपेक्षा "सम्पूर्ण जाति का ही विकास करना चाहिए।" परन्तु जाति का विकास धीरे-धीरे ही हो सकता है। जाति के विकास मे मुख्य तत्त्व उच्चतम योग्यता एव चरित्र वाले लोगो की उपस्थिति, प्रभाव एव योग्यतानुसार उन्हें स्थान प्रदान करने मे है।

(२) दूसरी ओर अभिजात्यतन्त्र के आदर्श मे निम्न कमियाँ है—

(अ) इसमे कभी इस बात की व्याख्या नही की गई कि योग्यतम शासको को कैसे खोजा जा सकता और उन्हे उचित स्थान पर कैसे रखा जा सकता है। शासन के योग्य सर्वोत्तम व्यक्ति उचित स्थान प्राप्त करने मे सदैव समर्थ नही होते। अत प्लेटो को यह कहना पडा कि योग्य शासको को शासन के लिए बाध्य किया जाएगा। खतरे क समय कभी-कभी सर्वोत्तम योग्य व्यक्ति उनकी इच्छाओ के विरुद्ध भी सबसे आगे धकेले जाते हैं, परन्तु सदैव यही होता हो, ऐसा नही माना जा सकता।

---

१. आर्डर एण्ड प्रोग्रेस, पृ० २८२। सर चार्ल्स वाल्ड स्टीन महोदय की अरिस्टो-डिमाक्रेसी तथा पैट्रिआटिज्म, नेशनल एण्ड इण्टर नेशनल" भूमिका देखिये, श्री ए० एम० लुडोवीसी द्वारा प्रणीत "द डिफेन्स ऑफ अरिस्टक्रेसी" भी देखें।

(आ) एक योग्य शासक के लिए भी मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। ऐसा नेता दूसरे लोगो से ऊपर उठा हुआ होता है, इसी से यह सिद्ध होता है कि वह जिन लोगो पर शासन करता है, उनकी आवश्यकताओ को समझना उसके लिए कठिन होता है। ऐसा तब तक नही हो सकता जब तक समाज छोटा न हो, और वह अपने नीचे वाले लोगो के साथ निरन्तर संसर्ग न रखे। यह नहीं कहा जा सकता कि योग्यतम शासक भी सभी आवश्यक बातें जानने मे समर्थ हो सकता है।

अत एक मौलिक आदर्श मे अभिजात्यतन्त्र और लोकतन्त्र दोनो के तत्त्व रहने चाहिएँ। इन दोनो का समन्वय किन अशो मे हो, यह समय और स्थान की परिस्थितियो पर आधारित होता है। सामान्यत., शायद यह कहना सत्य हो सकता है कि जब तक जनता शिक्षित और सुसगठित नही होती, तब तक उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सर्वोत्तम और योग्यतम व्यक्ति के सरक्षण में रहे और वह उनका पथ-प्रदर्शन कर। जब लोगो मे सगठन आ जाता है, उनमे सुव्यवस्थित परम्पराएँ पड़ती है और ज्ञान प्राप्त होता है, तब उनके सविधान मे एक लोकतन्त्रात्मक तत्त्व बढने और विकसित होने लगते है।

कम्पनेला तथा अधिकतर विलेमी, विलियम मौरिस और एच० जी० वेल्स के रामराज्य अर्थात् एक पूर्ण सामाजिक-सगठन की काल्पनिक स्थिति की रूपरेखा खींचने के प्रयास संभवत' मानव-जीवन के सही विचार व सही दिशा की भविष्यवाणी के अभाव से ग्रस्त हैं। उनकी जब एक-दूसरे के साथ तुलना की गई तो वे अधिकतर शिक्षात्मक पाये गए और उनमे ऐतिहासिक रुचि की बाते है। वे किसी विशेष समय मे विद्यमान किसी सामाजिक व्यवस्था के दोषो की ओर सकेत करते है तथा उन दोषों को दूर करने की विधियाँ बतलाते है।[1] अतः उन्हें प्लटो के 'रिपब्लिक' की तरह अधिक मूल्यवान तभी कहा जा सकता है जब शुद्ध रामराज्य-सम्बन्धी न मानकर अपेक्षाकृत किसी सामाजिक ढाँचे का सुन्दर अध्ययन तथा उस समाज के संगठन एवं कमजोरी के तत्त्व को प्रस्तुत करने का एक निश्चित साधन समझ लिया जाए। प्लेटो का 'रिपब्लिक' एथेन्स तथा स्पार्टा

---

१. यही उद्देश्य कुछ प्रभावशाली ढंग से कुछ काल्पनिक-समाजों के व्यंग्यात्मक-चित्रों के रूप में भी प्रकट किया गया है। उदाहरण के लिए, रेबेलेज तथा स्वफ्टि को ले सकते हैं; अथवा आधुनिक समय में सेम्यअल बटलर का "एरवॉन" तथा एम० अनातोले फ्रांस का "पेन्गुइन आइलैण्ड" को लिया जा सकता है। एक वास्तविक रूप से छोटे आदर्श-समाज को स्थापित करने के लिए सी० नोरडोफ की पुस्तक "दि कम्यूनिटी सोसाइटिज आफ युनाइटिडस्टेट्स" तथा एच० जे० नोयेज द्वारा लिखित "हिस्ट्री आफ अमेरिकन सोशलिज्म" का इस दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व है। डा० वेटी क्रोजियर द्वारा लिखित पुस्तक "सोशियोलाजी एप्लाइड टू प्रेक्टिकल पालिटिक्स" ख० २, अ० १ में कुछ अच्छे संकेत हैं।

के समाज के अध्ययन पर आधारित है। वह इन दोनो के सुन्दरतम अशो का एक अच्छा समन्वय है। इसके साथ ही उस समन्वय की छाया मे कुछ विशेष सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं। इस प्रकार का अध्ययन हमे पहले ही एक ऐसा मार्ग दिखाने मे समर्थ हो सकता है, जिसके लिए पूर्ण मानव जाति आशाएँ लगाए बैठी है।

किसी विशेष समाज के सगठन की सर्वोत्तम विधि के विचार मे सर्वाधिक कठिनाई दूसरे समाजो के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करने मे पड़ती है। यह सम्बन्ध मित्रता तथा शत्रुता के तरीको से प्रभावित होना बहुत कुछ सभावित है। इन विचारो पर हम आगामी अध्यायो मे प्रकाश डालेंगे।

तृतीय खण्ड

विश्व-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध

अभी तक हमने प्रधान रूप से ऐसे पृथक् अथवा स्वतन्त्र समुदायों के विधान पर जो विचार किया है, जो स्वयं ही अपने आन्तरिक सम्बन्धो और वाह्य-सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। सामान्यतः सामाजिक तथा राज-

१. सामान्य कथन

नीतिक-सिद्धांतो के लेखको मे इस तरह के विचारो तक सीमित रहने की प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए प्लेटो ने यह माना है कि उसका निर्दिष्ट आदर्श समाज स्वय मे पूर्ण एवं आत्म-निर्भर होगा। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध ग्रीक-समुदायो के साथ, कुछ पहलू मे आस-पास के बर्बर लोगों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ रहेगे। वास्तव में, यह उसकी एक प्राकृतिक मान्यता थी। उसके आदर्श निराधार नही थे अपितु वह अपने चिरपरिचित व वास्तविक नगर-राज्यो की समस्याओ का विश्लेषण कर रहा था। बाद के लेखको ने भी निस्सन्देह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर काफी प्रकाश डाला है, किन्तु यह कहना कदाचित् ही सत्य होगा कि, ऐसे सम्बन्धों पर पर्याप्त बल दिया गया है।[1]

इससे यह स्पष्ट है, कि आधुनिक राज्य आत्म-निर्भर नही हैं, परन्तु वे अपने उन सम्बन्धो द्वारा, जिनसे उनके अस्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, विशाल-समुदाय का निर्माण करते है। आधुनिक विशाल राज्य, साधारणतः पृथक्-पृथक् देशों के समन्वय से बनते हैं। कभी-कभी वे पारस्परिक दवावों अथवा अल्पकालिक आवश्यकताओ के कारण सयुक्त हो जाते हैं, और अपनी एक सर्वमान्य सरकार होते हुए भी वे कुछ अशो मे पृथक् राष्ट्र बने रहते हैं। राज नीतिक दृष्टि से किसी विशेष राज्य मे सम्मिलित ऐसे देशो का सम्बन्ध, अन्य देशों के साथ अपने आपसी सम्बन्ध की तरह घनिष्ठ न हो, ऐसी बात नही है। स्कॉट-लेण्ड के ब्रिटेन के साथ पूर्णतः सयुक्त हो जाने पर भी, उसने फ्रॉस के साथ अपना

---

१. इस विषय पर लोगों के मन निस्सन्देह, प्रचुर रूप में वैयक्तिक पक्षपात से ग्रस्त हैं। मुझे यह अवश्य ही स्वीकार्य है कि मैं सदैव किसी विशेष राष्ट्रीयता में योगदान की अपेक्षा 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' में विश्वास करता हूँ।

सम्बन्ध उसी तरह चालू रखा। आयरलैण्ड ने भी सयुक्त राज्य अमेरिका से प्रचुर मात्रा मे व्यवहार चालू रखा। वेल्स ने भी चिरकाल तक ब्रिटेनी से अपने घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे। स्वय इगलैण्ड भी, अभी कुछ समय पहले तक जर्मनी से काफी प्रभावित रहा; तथा यह प्रभाव काफी मात्रा मे हितकर भी रहा और अहितकर भी। पोल जाति रूस, जर्मनी और आस्ट्रिया मे विभाजित रही है, फिर भी उसमे अपनी राष्ट्रीय प्रेरणाएँ विद्यमान है। यहूदी लोगो को जब तक साहिष्णुता का वर्ताव मिलता रहता है, तब तक वे इन राज्यो के, जिनकी सीमाओ मे वे रहते हैं, अच्छे नागरिक बने रहते है, किन्तु फिर भी वे अपनी कुछ सामान्य प्रथाओ से परस्पर बँधे हुए हैं। लगभग सभी यूरोपीय राष्ट्रों मे ऐसे लोग प्रचुर मात्रा मे मिलेंगे जो देश-विदेश की सस्थाओ और प्रथाओ के प्रति विशेष निष्ठा रखने की अपेक्षा अपने आपको एक अच्छे यूरोपवासी समझना पसन्द करते है, इनमे से कुछ लोगो की प्रवृत्ति विशाल विश्व-बन्धुत्व की ओर अधिक रही है। पर यह निर्णय करना अतिकठिन है कि किन अशो मे पाश्चात्य सभ्यता, रोम, ग्रीस तथा ज्यूड सभ्यता पर आधारित रही है। ऐसे अनेको उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह मान्यता असिद्ध की जा सके, कि किसी भी राष्ट्र का जीवन पूर्ण सजातीय, स्वतन्त्र एव आत्म-निर्भर है। अतः एक सुव्यवस्थित समुदाय की सामान्य क्रियाओ के साथ अन्य समुदायो के प्रभाव की प्रमुख विधियो पर भी विचार करना अत्यधिक महत्त्व का विषय है।

यदि मानवीय भ्रातृत्व की अवधारणा मे कुछ भी सत्य है, तो यह स्पष्ट है कि सभी राष्ट्रीयताओ के लिए नैतिक आधार सामान्य समझे जाने चाहिएँ।

२. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

वास्तव मे मानव-प्रकृति के सभी बोधगम्य विचारों को भी ऐसा ही समझा जाना चाहिए। यहाँ नैतिकता के विभिन्न सिद्धान्तो की व्याख्या करना यद्यपि अपने क्षेत्र से बाहर की बात है फिर भी, चाहे हम यह मान लें कि नैतिकता आनन्द की वृद्धि अथवा पूर्णता मे है, अथवा चाहे हम यह मान लें कि वह अन्तःप्रज्ञा की चेतना अथवा विवेक के निर्णय मे है, परन्तु इसमे दो मत नही हैं, कि वह मानवता की तात्विक समानता मे निवास करती है। किन्तु यह फिर भी स्वीकार करना पडेगा कि प्रत्येक सिद्धान्त अर्थात् नैतिक विचार मनुष्य-जाति के व्यावहारिक पक्ष मे तथा अपने सैद्धान्तिक पक्ष मे नितान्त सगत नही बैठते और वे समय-समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक व्यक्ति के साथ ही कुछ परिवर्तित अवश्य होते हैं। कुछ लोग दूसरो की अपेक्षा अपने विशेष कर्त्तव्यो तथा विशेष गुणो का अधिक मूल्यांकन करते तथा उनका अधिक समान रूप से व्यवहार एव विकास करते हैं। कुछ लोग उत्साह को, कुछ 'स्वभाव अथवा आत्म-सयम को, कुछ लोग सत्य को, कुछ लोग स्वामि-

भक्ति को, तो कुछ परोपकार को, कुछ उद्योग को, कुछ ज्ञान अथवा बुद्धि के अनुशीलन को, तो कुछ लोग इच्छाओं के दमन को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु वे लोग, जो किसी विशेष श्रेष्ठ प्रणाली के प्रशंसक एवं प्रचारक होते हैं, दूसरों द्वारा अनुसृत प्रणालियो की श्रेष्ठता से भी इन्कार नही करते। कभी-कभी यह कहा जाता है कि प्रत्येक जाति की अपनी एक विशेष सभ्यता होती है, अथवा जैसे जर्मन लोग अपनी एक विशेष "कल्टर" मानते है तथा उसके साथ अनेकों नैतिक पद्धतियो का सम्बन्ध भी है। यह एक पूरे राष्ट्र का काम है, कि वह अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा अपनी विशेष प्रकार की सभ्यता की रक्षा और विकास करे। कुछ लोग जो इस विचार को अतिरंजित करके प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार किसी राज्य के व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य हो जाता है, कि वे अपने कतिपय कर्त्तव्यों का पालन करें तथा अपने कुछ गुणो का विकास करें। परन्तु राज्य का इस प्रकार का कोई कर्त्तव्य नही, सिवाय इसके कि वह अपने अन्दर निहित विशेष जीवन-पद्धतियो का पोषण, रक्षण एव विकास करे। उनकी अवधारणा है कि कोई कार्य चाहे कितना ही आपत्तिजनक क्यों न हो, राज्य उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए न्यायोचित ढग से कर सकता है। ऐसी आवश्यकताओ के अवसर पर कानून का कोई महत्त्व नही रहता। अन्य कोई भी सिद्धान्त ऐसा नही है जिसके द्वारा वैधानिक रूप से इसका प्रतिरोध किया जा सके। ऐसे ही एक दृष्टिकोण का उस सिद्धान्त के साथ स्पष्टत. घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसकी ओर पहले ही सकेत किया जा चुका है और जिसके अनु-सार राज्य आवश्यक रूप मे एक शक्ति माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रति-पादन और प्रयोग जिस विधि से किया गया है, उसको तरफ राज्य के सिद्धान्त पर कुछ प्रशियन लेखको के वारे मे हम संकेत कर चुके है और उनमे से भी एच० वॉन० ट्रेटस्की का उल्लेख विशेष रूप मे किया गया है। प्रशिया ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने व्यापक रूप से किया है, कि इसे 'प्रशियन-सिद्धान्त' नाम देना किसी भी रूप मे अनुचित न होगा। किन्तु वास्तव में यह पूर्णतः प्रशिया की ही विशेषता नही है, क्योकि कुछ अंशों मे अन्य देशों द्वारा भी उसे सिद्धान्त-रूप मे स्वीकृत किया गया है और शायद उससे भी अधिक कार्य-रूप मे भी परिणत किया गया है।[1] कुछ प्रशियन लेखक भी—विशेषत कान्ट और मैं सोचता हूँ कि पॉलसन भी इसमे योग देने से दूर ही रहे हैं।[2] परन्तु इसका

१. उदाहरणस्वरूप, टी० ए० हाब्सन द्वारा रचित "टुवर्डस इन्टरनेशनल गवर्नमेंट," पृ० १७६ और लॉर्ड एक्टन की इन्ट्रोडक्शन टू मेकियावेलीज प्रिंस," पृ० सं० २८ से ४५ का उल्लेख किया जा सकता है।

२. जिन लोगों ने इसमें योग दिया है, वे लगभग सभी इसके प्रयोग में शर्तें रखते है कान्ट और पालसन को प्रशियन नहीं कहा जा सकता और ट्रेटस्की को भी ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सफल प्रयोग फ्रेडरिक महान् और बिस्मार्क ने किया है तथा इसका विस्तृत प्रतिपादन ट्रेट्स्की तथा अन्य लोगो द्वारा हुआ। इससे इसका आधुनिक प्रशिया मे तो अधिकार जम ही गया है यहाँ तक कि सारे जर्मनी मे भी इसका इतना अधिकार जम गया है कि जितना पहले किसी काल अथवा देश मे ऐसा नही हो सका था। इस सिद्धान्त की यहाँ पूर्णत. व्याख्या तो नही की जा सकती, पर थोड़ा-बहुत सकेत कर देना लाभदायक और सामयिक होगा। इसका उल्लेख करना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि आमतौर पर लोग इसे वर्तमान यूरोपीय महायुद्ध (प्रथम) के प्रमुख कारणों मे से एक तथा कुछ लोग इसे निश्चित मूल कारण के रूप मे भी समझते हैं।

यह पहले बता चुके हैं कि शक्ति को राज्य का मूल तत्त्व मान लेना ग़लत है। परन्तु यह भी स्वीकार कर चुके हैं, कि शक्ति होना राज्य की एक आवश्यक विशेषता है। इस शक्ति का प्रयोग जीवन तथा तत्सम्बन्धी सभी मूल्यवान वस्तुओ के लिए किया जाता है, यह बात स्पष्ट है। और जो बात स्पष्ट नही है वह यह है कि क्या प्रत्येक दूसरे कर्त्तव्य के सामने विरोध उत्पन्न हो जाने पर शक्ति का प्रयोग वैधानिक रूप से किया जा सकता है ? यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं, जब अपने सामने वाला उद्देश्य इतना महत्त्वपूर्ण हो जाए कि उसके आगे अन्य विचार नगण्य रह जाएँ। यदि हम किसी एक देश को सभ्यता में उत्कृष्ट और अद्वितीय समझें और यह चाहे कि उस देश की सभ्यता को प्रत्यक्ष विश्व-हित की दृष्टि से समस्त ससार पर समान रूप से थोप दिया जाए चाहे उसके लिए फिर बल का प्रयोग ही क्यो न करना पडे, तो इसके मार्ग मे बाधा बनकर आने वाली किसी भी अडचन का उल्लेख करना अति कठिन होगा। अतीत मे कुछ जातियो को ऐसी धारणाओ के आधार पर उत्तेजित किये जाने का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में कदाचित् यहूदी लोगों की ऐसी धारणा थी कि पडोसियों से किया गया हिंसा-पूर्ण व्यवहार उनके परम धार्मिक-मूल्यो तथा सम्बद्ध प्रथाओ द्वारा उचित माना गया है। मुसलमानों का विश्वास भी कुछ इसी तरह का था। वास्तव मे लगभग सभी प्रकार के धार्मिक-युद्धो की तह मे इस प्रकार की धारणा मिलेगी। इसी प्रकार रोमन लोगो का भी यह दावा था, जिसे पूर्णतः विवेक-रहित भी नहीं कहा जा सकता, कि उनकी सरकार और उनकी कानून-पद्धति सर्वश्रेष्ठ हैं। अपने इसी विश्वास के आधार पर वे लोग सोचते थे कि रोमन साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करना उनका वैध उद्देश्य है। सिकन्दर महान् का कदाचित् यह विश्वास था, कि वह ग्रीक-सभ्यता के सुन्दरतम रूप को असभ्य लोगो मे फैला रहा है, तथा नेपोलियन भी फ्रास की क्रान्ति के मानवीय-सिद्धान्तों की स्थापना के लिए निकला जान

पड़ता था। अनेकों आधुनिक राष्ट्र भी अपने-आपको दूसरों पर राज्य करने का अधिकारी मानते हैं। और अपने इस अधिकार को वे "श्वेत लोगों के उत्तर-दायित्व" के नाम से पुकारते हैं। अब यह अवश्य ही विचारणीय बात है, कि यदि इस तरह के उद्देश्य एकमात्र हिंसा से भी सफलतापूर्वक उपलब्ध किये जा सकते हो और अन्य किसी विधि के द्वारा प्राप्त नही किये जा सकें, तो उनकी सफलता के लिए कितनी भी हिंसा न्यायोचित ठहराई जा सकती है। इसी तरह, यदि कोई एक व्यक्ति इस विश्व के सारे लोगों से इतना अधिक बुद्धिमान और अच्छा हो कि उसके एक-छत्र शासक बनने से समग्र विश्व को लाभ होगा, तो उस पद को प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा काम मे लिये गए किसी भी साधन को क्षम्य समझा जा सकता है। परन्तु इस तरह का तर्क उपस्थित करने का अर्थ मानव-जीवन की वास्तविक-स्थिति की अवहेलना करना ही होगा। किसी भी युग मे किसी एक राष्ट्र अथवा किसी एक व्यक्ति को दूसरों की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ मान लेना, कि उसका कोई भी कार्य न्यायोचित ठहराया जा सके, मूर्खतापूर्ण ही होगा। और ज्यो-ज्यो विश्व की सामान्य सभ्यता अधिक विकास करती जाती है, वैसे-वैसे ही ऐसी प्रवृत्तियाँ अधिक मूर्खतापूर्ण सिद्ध होती जाती हैं। कम-से-कम आज के विश्व मे किसी राष्ट्र की सभ्यता अथवा किसी एक व्यक्ति की श्रेष्ठता हिंसा के साधन को अपनाये बिना भी अनिवार्यतः दूसरो में एक व्यापक पैमाने पर फैलाई जा सकती है। और जब वे प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक सिद्ध होती है तो उन्हें हमारे विचार-सवहन के साधन एक दूसरे के पास तीव्रता से ले जाते है, और कही-कही तो उन्हे उतनी ही तीव्र गति के साथ अपना भी लिया जाता है। निस्सन्देह, कभी-कभी उसका प्रयोग कुछ निहित-स्वार्थों के कारण तथा कुछ स्वार्थी लोगो या वर्गों की शक्ति द्वारा रोका जाता है और उनके विरोध मे कुछ शक्ति का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु उस शक्ति का प्रयोग अपने उद्देश्य के रुख के अनुसार सीमित ही हो। यह कहना उचित नही होगा कि वह शक्ति जो कानून नही जानती, शक्ति नही है। उदाहरण के लिए, सुन्दर विचारो का प्रसार क्रूर विधियो से नही किया जा सकता। इस विश्व मे जहाँ लोग इतनी स्वतन्त्रता से एक-दूसरे के साथ मिल-जुल सकते। और इतनी आसानी से एक-दूसरे को समझ सकते है, वहाँ यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर अपनी सभ्यता को बिना किसी प्रतिबन्ध अथवा सशय के थोपना चाहे तो उसे मानव-जाति का उपकारी नही, अपितु शत्रु समझा जाना चाहिए। यदि उसकी श्रेष्ठता को सत्य ही मान लिया जाए तो भी वह यह निश्चित करने का एकाधिकारी नही, कि उसकी सभ्यता दूसरो की अपेक्षा पूर्णरूप से श्रेष्ठ है। वास्तव मे इस प्रकार का कोई भी दावा स्पष्ट रूप मे उन सामान्य सिद्धान्तो के

विरुद्ध पडता है जिनमे यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य अपनी सभ्यता के विकास और उसकी रक्षा करने का पूर्ण अधिकारी है। निस्सन्देह, यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमे कोई राज्य अपने अधिकारो को उनसे सम्बन्धित कर्त्तव्यो की पूर्त्ति के अभाव मे खो बैठता है। यदि किसी ऐसे राज्य की सरकार इतनी दुष्ट और अन्यायी हो कि उसे ठीक अर्थों मे राज्य ही नही कहा जा सके, तो ऐसी स्थिति मे यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्य राज्य उसमे हस्तक्षेप करने का अधिकार रखते हैं, और आवश्यकता पडने पर वे व्यवस्था-स्थापन के लिए शक्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु यह स्वीकार करना पडेगा कि वैधानिक रूप से ऐसा करने के लिए उचित परिस्थितियो का निर्णय करना भी सरल नही है। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ मे से एक है, जिनका कुछ उल्लेख आगे किया जाएगा।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि राज्य अपने सामूहिक कार्यो मे जिन नैतिक सिद्धान्तो से निर्दिष्ट होता है, उन सिद्धान्तो को स्वायत्त-व्यक्तियो पर शासन करने वाले सिद्धान्तो के बिल्कुल समान नही कहा जा सकता। व्यक्तियो के कर्त्तव्य भी उनकी परिस्थिति एव कार्यों के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति जो दूसरो के प्रतिनिधि के रूप मे काम कर रहा है, उस पर लागू होने वाली शर्तों को, स्वतन्त्र रूप से अपना स्वय का काम करने वाले व्यक्ति पर लागू नही किया जा सकता। यही सिद्धान्त हम लोगो की ओर से प्रतिनिधि के रूप मे काम करने वाली सरकार पर भी लागू होता है। पर इस तरह के भेदों पर विस्तृत विचार हमे व्यावहारिक नीतिशास्त्र की सुदूर सीमा मे ले जा पटकेगा। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इन भेदो को दी जाने वाली मान्यता नैतिक सिद्धान्तो की प्रामाणिकता मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होगा। कर्त्तव्य बदलते हैं, परन्तु इस तरह वे कर्त्तव्य, कर्त्तव्य नही रह जाते। सामान्य मानवीय-हित की अवधारणा ही सर्वत्र परम-निर्देशक सिद्धान्त मानी जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की वास्तविक कठिनाई नैतिकता के सम्बन्ध मे नहीं वरन् कानून के सम्बन्ध मे है। नैतिक नियमों का व्यक्तियो पर और उससे भी अधिक समूहो पर लागू किया जाना तब कठिन होता

३. अन्तर्राष्ट्रीय कानून है, जब उन नियमो को वैधानिक परिणति और उचित स्वीकृतियो का समर्थन प्राप्त नही होता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को एक समन्वयात्मक आकार[1] देने को जो प्रयास किये गए हैं,

---

१. अब तक के कार्य का विवरण डब्लू० ई० हाल महोदय के "इन्टर नेशनल लॉ पाँचवाँ सस्करण (संपादक श्री डॉ० ए० पीयर्स हीगिन्स) में देखें। श्री डब्लू० ए० फिलिप्स महोदय की "दि कानफेडेरेशन आफ यूरोप' भी देखिये।"

उन्हे बिल्कुल ही असफलतापूर्ण नही कहा जा सकता। इस कार्य मे हेग मे आयोजित काग्रेस ने महान सेवा की है। व्यक्तियो के व्यवहार की अपेक्षा राज्य के व्यवहार के लिए उचित कानूनो का निर्माण करना तत्वत: जितना कठिन नही है, उससे कही अधिक कठिन उनको लागू करना है। फिर, जो लोग यह कहते है कि राज्य मूलत एक शक्ति है, वे यदि वैधानिक रूप से बाध्य न हों, तो स्वाभाविक रूप से अवश्य ही यह विचारने के लिए प्रवृत्त होगे कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर्याप्त स्वीकृति या सहमति के बिना केवल "रद्दी कागज के टुकड़े" है। स्वतन्त्र व्यक्तियो के कार्यों को लेकर अनेक लोग यह सोचने को उद्यत हो सकते हैं, कि कानूनों मे तब तक कुछ भी वास्तविक बल नहीं होता, जब तक उनके पीछे शक्ति न हो। फिर, सभी कानूनो के पीछे शक्ति की मान्यता अन्तिम रूप से उनके अधिकार की मान्यता पर आधारित होती है। एक शक्तिशाली से शक्तिशाली बादशाह भी अपनी आज्ञाओ का तब तक पालन नही करवा सकता जब तक उन आज्ञाओं के अधिकार को स्वीकार करने वाले लोग उसकी सहायता न करें। यह स्वीकृति अनिच्छापूर्ण हो सकती है, जो जबरदस्ती कई तरह के हथकण्डो और प्रलोभनो द्वारा प्राप्त की जा सकती है, किन्तु उसे केवल शक्ति के द्वारा ही प्राप्त करना बडा कठिन है। परन्तु राष्ट्रो मे जब तक परस्पर किसी कानून की शक्ति को मान्यता नही दी जाती, तब तक दूसरो को मनवाने का तरीका शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नही है। कभी-कभी एक सामान्य-धर्म अथवा एक सामान्य-भाषा भी, या सामान्य-प्रथाएँ अथवा सम्बन्ध, जो व्यापार या यात्रा के द्वारा स्थापित किए जाते हैं, स्थायीभावो का सृजन कर सकते है। ऐसे स्थायीभाव आमतौर पर, एक राष्ट्र के अन्दर ही मिल सकते है जिनके कारण शक्ति का प्रयोग किया जाना अनावश्यक अपवादस्वरूप बन जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और भय, ऐसे स्थायीभावो की परिणति को उनके पूर्णत: वर्तमान रहने पर भी, कुछ सदिग्ध बना देते है। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि किसी राज्य के अपने कानून के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारो को स्थापित करना ही केवल कठिन न होगा, बल्कि ऐसे कानून के बारे मे, जिन्हे स्वीकार किया जाता है, समझौते पर पहुँचना और भी कठिन होगा। किसी भी राज्य मे आमतौर पर एक ऐसा अल्पमत मिल ही जाता है, जो किसी कानून की एक खास शर्त के विरोध मे हो, तो ऐसे अवसर पर किसी आम निर्णय पर पहुँचने के लिए बहस और समझौते का ही सहारा लेना पडता है। स्वतन्त्र राज्य अपने आपको प्रभुत्व-सम्पन्न कहने के आदी होते हैं, उनमे से प्रत्येक अपनी स्वयं की प्रथा-विशेष रखता है, तथा उसके अपने अलग से विचार और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। ऐसे राज्यों के पारस्परिक अन्तर को सरलता से समायोजित नहीं किया जा सकता। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी विशेष राज्यों के कानून की

अपेक्षा अपनी रचना मे अधिक लचर और कम निश्चित रूप से बाध्य करने वाले होते हैं। इस विषय मे सुधार की आशा तो की जा सकती है, परन्तु उसका संभावना पर विचार करने से पूर्व, राष्ट्रों को बाध्य करने वाली एक उत्कृष्ट विधि—व्यापार—पर कुछ ध्यान देना अच्छा रहेगा।

४. अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार

अन्तर्राष्ट्रीय-नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय-कानून के तत्त्वो के साथ-साथ अनेको अन्य प्रभावशाली तत्त्व भी राज्यों के संगठन मे योग देते हैं। उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्भवतः धर्म, जाति, भाषा, सामान्य-संस्कृति के समुदायो तथा उद्योग और वाणिज्य-व्यवहार के द्वारा उत्पन्न सम्बन्धो को माना जा सकता है। भाषा का समुदाय तुलनात्मक रूप से विरल होता है। अत उस पर यहाँ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक नही। प्राचीन ग्रीक के पृथक्-पृथक् राज्यो के बीच संगठन पैदा करने का यही एक महत्त्वपूर्ण बन्धन था। इसी ने जर्मनी और आस्ट्रिया, फ्रास और बेल्जियम तथा स्विटज़रलेण्ड और अन्य देशो के बीच मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के लिए बहुत बडा योग दिया है। इसी ने ब्रिटेन और अमेरिका के सम्बन्धो को वास्तविक रूप में प्रभावित किया है। वर्डस्वर्थ के शब्दों मे ये दोनो देश "शेक्सपीयर जिस भाषा मे बोला, उसमे बोलते हैं, मिल्टन ने जिस विश्वास और नैतिकता का प्रतिपादन किया, उसका प्रतिपादन करते हैं।"[1] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यूरोप मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए लेटिन का प्रयोग और बाद मे फ्रेंच तथा अंग्रेज़ी का प्रयोग भी आपस मे संसर्ग पैदा करने वाला रहा है। जातीय-सगठन भाषा धर्म और सास्कृतिक प्रथाओ के साथ मिलकर कुछ प्रभाव डालने के अतिरिक्त अधिक प्रभावात्मक नही रहे हैं। धर्म और सामान्य संस्कृति की व्याख्या बाद मे अच्छी तरह से की जाएगी, यहाँ तो हमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तक सीमित रहना ही उचित होगा।

इस पहलू का प्रभाव स्पष्ट है, तथा आधुनिक काल से तो शायद इसे अधिक अतिरंजित रूप में देखने की प्रवृत्ति भी रही है। कोबन महोदय और उनके मुक्त-व्यापार के सामान्य सिद्धान्त की स्थापना मे सहयोगी साथियो ने बहुत बडी आशाएँ की कि उनका यह सिद्धान्त महँगे भावो पर व्यापार-प्रतियोगिता से उत्पन्न ईर्ष्या और सघर्ष को हटाने मे बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सामान्य ढंग से सैन्य-शक्ति और औद्योगिक स्तरों के बीच मे उपस्थित वैधर्म्य पर बहुत अधिक जोर दिया है।[2] उन्होंने एक के कटु विरोध को दूसरे के मैत्रीपूर्ण सहयोग के साथ पृथक् करके दिखाया है। अभी हाल मे

१. यह स्पष्ट है कि इस कथन का पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के बिना कम प्रभावात्मक रहेगा। भाषा की अपेक्षा जीवन विषयक दृष्टिकोण एक अधिक दृढ बन्धन स्थापित करता है, परन्तु ये दोनों बातें एक साथ भी चलती हैं।

२. 'डाटा आफ एथिक्स' पृ० ५०

नारमन एंजिल ने यह प्रतिपादित किया है[1] कि पृथक्-पृथक् राज्यों के आर्थिक स्वातन्त्र्य की सही जानकारी स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को समाप्त करने में सहायक हो सकेगी। इन सभी वाद-विवादों मे कुछ-न-कुछ सत्य अवश्य है, इसे मेरे विचार में कोई अस्वीकार नही कर सकता। परन्तु इस समय यह भी विश्वास नही किया जा सकता कि वास्तव में उनमे भी अपना कुछ वज़न है। कुछ अंशो में इसका कारण यह भी रहा है कि कोबन और अन्य लोगों ने स्वतन्त्र-व्यापार से उत्पन्न जिन परिणामों की पहले आशा की थी, सामान्यतः वह वैसी नहीं निकली। पर उससे भी अधिक शायद केवल आर्थिक विचार भी उतने प्रभावशाली दिखाई नही पड़े, जितने वे समझे जाते थे। कार्ल मार्क्स से प्रभावित कई लेखकों ने इतिहास के आर्थिक विश्लेषण पर लिखते समय उद्योग और वाणिज्य सम्बन्धी दशाओं को, मानव-जीवन मे आने वाले आन्दोलनों के आधारभूत विश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत किया है। प्रो० मार्शल के साथ यह कहना भी सत्य है[2] कि धर्म के बाद आर्थिक पहलू, सबसे अधिक प्रबल पहलू है। परन्तु इसके साथ यह भी कहना पड़ेगा कि जाति भाषा, विभिन्न लोगों के सामान्य शिष्टाचार और प्रथाएँ (विभिन्न परिस्थितियों पर आधारित) भी कुछ ऐसे पहलू हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। जब तक विभिन्न राज्य अपने-आपको दूसरे प्रकार से भिन्न समझते हैं, तब तक आर्थिक लाभ, जो राष्ट्रीय-शक्ति का निर्माण करते हैं—जैसे, कोयला, लोहा तथा जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का प्रचुर वितरण—वे सब प्रतियोगिता और विरोध के लिए आधार बन जाते हैं। वे उस एकता की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं जिसे आर्थिक प्रभाव अन्यथा प्राप्त करने मे समर्थ हो सकते हैं। जर्मनी के लेखको ने इस पर विशेष रूप से बल दिया है। स्पेन्सर के इस विवाद के लिए, कम-से-कम जर्मनी का उदाहरण अच्छा नही है कि सुविकसित उद्योग सैन्य-शक्ति का विरोधी होता है।

इतना सब कुछ कहने पर भी यह सत्य है कि उद्योग और वाणिज्य अन्तर्राष्ट्रीय-सगठन में सहायक होते हैं। जैसा कि कुछ स्पिनोजा के इस वाक्य-खण्ड मे स्पष्ट है—"कुछ आर्थिक पदार्थों के बारे मे यह पर्याप्त मात्रा मे सत्य है कि वे सब लोगों के लिए सामान्य तथा सब लोग उनका समान उपभोग कर सकते हैं," यद्यपि इसे सभी के लिए तो किसी तरह से भी सत्य नही ठहराया जा सकता। और इसी भेद के कारण राज्यों के अन्दर और उनमे आपस में इतनी औद्योगिक खींचतान मची है। कुछ द्रव्यो की अनिश्चित सीमा तक वृद्धि

---

१. "दि ग्रेट इल्यूजन", एंजिल के कथन की प्रचुर आलोचना की जा सकती है। उस पर तीव्र प्रहार किये गए, उदाहरण के लिए सबसे अधिक तीव्र प्रहार जी० जी० काल्टन ने अपनी पुस्तक "दि मेन इल्यूजन आफ पैसिफिज्म" में प्रकट किए हैं।

२. "प्रिंसिपल्स आफ़ इकॉनमिक्स" के प्रारम्भ में देखिये।

ग्रौर उनका वितरण सारे विश्व मे किया जा सकता है ग्रौर प्रत्येक के लाभ की दृष्टि से उनका स्वतन्त्र ग्रावागमन भी हो सकता है । कुछ ग्रन्य द्रव्य ग्रपनी राशि मे निश्चित रूप से सीमित होते हैं ग्रथवा किसी विशेष प्रदेश तक ही ग्रावद्ध रहते है, ग्रौर उन्हे कुछ विशेष लोग ग्रथवा राष्ट्र ग्रपने ग्रार्थिक हित के लिए ग्रपने तक रखते है । इसका विस्तृत विवेचन ग्रर्थशास्त्र ग्रौर राजनीति-शास्त्र के लेखको पर छोड दिया जाना चाहिए । जब तक द्रव्यो का बराबर वितरण होता रहता है, तब तक उनका ग्रावागमन मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो को वढाता है ग्रौर कई प्रकार के सगठनो का कारण होता है । लोगो को, जिनके साथ वे व्यवहार करते है, उनकी कुछ भाषा ग्रौर विचारो को सीखना पड़ता है । उन्हे उनकी व्यापारिक विधियो ग्रौर उनके सचार के साधन जैसे, डाक-तार, ग्रौर यातायात के साधनो को भी पूर्णत. समझना पडता है । यह नियम वहुत कुछ ग्रशो मे ग्रन्तर्राष्ट्रीय होते है, इसलिए विभिन्न राष्ट्रो के बीच मे स्थित सीमाएँ कृत्रिम दिखाई देने लगती है । श्रम भी, यद्यपि ग्रन्य वस्तुग्रो की तरह सरलता से नही, फिर भी एक देश से दूसरे देश की सीमाग्रो को पार कर जाता है ग्रौर ग्रधिकतर देशो की जनसख्या के कठोर भेद ग्रधिकाश मे समाप्त हो जाते है । ये सब विषय स्वत स्पष्ट हैं ग्रत: ग्रागे ग्रधिक कहने की ग्रावश्यकता नही है ।

ग्रन्तर्राष्ट्रीय कानून के सगठन की स्थापना के विषय मे विचार करते समय हमने कुछ कठिनाइयो की ग्रोर सकेत किया था, इसके साथ ही ग्रापस मे ग्रौद्योगिक सम्बन्ध वढने से ग्रन्तर्राष्ट्रीय सगठन वढता है, इस विषय पर भी विवेचन किया गया है । यह बात हमे यह मान लेने के लिए बाध्य करती है कि पृथक्-पृथक् राज्यो के बीच सघर्ष की सभावना फिर भी रहती है । राज्यो के ग्रन्दर के सघर्षो को सामान्यत' मिटाया ग्रथवा एक सामान्य स्थिति तक शान्त किया जा सकता है । एक सुव्यवस्थित-समुदाय मे लोगो के ग्रापसी झगडो ग्रथवा छोटे-छोटे सामाजिक समूहो के सभी झगडो को कानून की शक्ति द्वारा हल किया जा सकता है । द्वन्द्व-युद्ध ग्रौर "मारपीट के कानून" ग्रब सभ्य देशो से उठते जा रहे है । कुछ स्थानो पर द्वन्द्व-युद्ध ग्रब भी होता है ग्रौर उसके पक्ष मे यह तर्क पेश किया जाता है कि जब "सम्मान" पर ग्राँच ग्राती है, ग्रौर कानून कोई पर्याप्त विधान नही कर सकता, तब द्वन्द्व-युद्ध ग्रावश्यक होता है । परन्तु ग्रधिकतर लोग यह मानने लगे हैं कि इस तरह की बातें भी हिंसा के प्रयोग की ग्रपेक्षा कानून ग्रथवा मध्यस्थता द्वारा ग्रधिक सुन्दर ढंग से निपटाई जा सकती है । ग्रौद्योगिक झगडो को जिनमे विशाल जन-समुदाय सम्मिलित होता है, ढग से सुलझाना वडा कठिन होता है । हडतालो को कभी-कभी ग्रौद्योगिक युद्ध के तन्तु वताया जाता है परन्तु

५ युद्ध ग्रौर शान्ति

उनसे वास्तावक रक्तपात कभी मुश्किल से ही होता है, अथवा सम्पत्ति को गम्भीर नुकसान भी बहुत कम हो पाता है तथा ऐसे झगड़ों को प्रायः बीच-बचाव से शान्त किया जा सकता है। राज्यो मे गृहयुद्ध होना कोई नयी बात नही है, विशेषतौर से जब राज्यों में विभिन्न राष्ट्र सम्मिलित हों और वे कुछ अंशो मे अपनी स्वतन्त्रता का दावा करते हो। परन्तु अधिकतर इस प्रकार के भय तो हमे उन दावों के पीछे वास्तविकता क्या है, के विवेचन की ओर ले जाते हैं। और यदि अन्य स्वतन्त्र राज्य इन झगड़ों मे न पड़े तो उनका निपटारा सरलता से किया जा सकता है। सामान्यतः, स्वतन्त्र राज्यो को ही हमे वास्तविक लडाई के मूल में समझना चाहिए। कभी-कभी तो यह कहा जाता है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती है जिनमे युद्ध अनिवार्य हो जाता है, क्योकि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के ऊपर और कोई ऐसी उच्च शक्ति नही होती जिसके प्रति वे उत्तरदायी हो सके। इस कठिनाई का सामना कैसे किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेगे। इस बीच हम कुछ ऐसे तर्कों की ओर भी ध्यान देगे, जो सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के समर्थन मे दिये जाते है। उनके अनुसार इस प्रश्न को हल करने के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई विधि वांछनीय नही हो सकती।

यह दृष्टिकोण बहुत कुछ सम्प्रभुता की अवधारणा पर बल दिये जान पर ही आधारित है। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि किसी उच्चतर शक्ति को निवेदन करने का मतलब यह होगा कि समुदाय के हित का विकास और रक्षा करने वाले सम्प्रभुता के अधिकार का परित्याग किया जाए। यह निःसन्देह सत्य है, पर यह भी प्रश्न उठता है कि क्या किसी राज्य की अन्यतम सम्प्रभुता को उसके अतिरजित अर्थ में सुरक्षित रखना वांछनीय हो सकता है? इस प्रश्न पर हम शीघ्र ही विचार करेगे। यह स्वीकार कर लेने पर भी कि राज्य की सम्प्रभुता की कुछ सीमाओ को निर्धारित करना ठीक है, हमे कुछ ऐसे तर्को का सामना करना पड़ेगा जिनमें कहा जाता है कि अपने समुदाय के हित-साधन के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न होते है, जिन्हे कोई भी आत्माभिमानी राज्य किसी अन्य वाह्य-शक्ति को निर्णय देने के लिए समर्पण कर देना उचित नही समझेगा। जब किसी एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ झगड़ा हो जाए और ऐसी ही समस्या आ खड़ी हो, तो यही निर्णय किया जाएगा कि राज्य को पूर्ण अधिकार प्राप्त है; और यदि संभव हो तो वह किसी भी मूल्य पर अपने निर्णय की रक्षा करने के लिए बाध्य हो सकता है। कभी-कभी तो ऐसा भी कहा जाता है कि ऐसे विषयों मे तो उनकी शक्ति मे ही उनके अधिकार निहित होते हैं और उनकी वह शक्ति ही उनकी वैधानिक सीमाओं का निर्णय करती है। इस तरह के विचारो का उन सिद्धान्तो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है जिनका उल्लेख

हम पहले भी कर चुके हैं। राज्य का सार उनकी शक्ति मे है; वह नैतिक विचारों का विषय नही बन सकती, और प्रायः इस प्रकार के सिद्धान्तों में अन्तर प्रदर्शित करना सरल नही होता। उन्हे यहाँ पृथक् करके देखना आवश्यक नही है। यहाँ पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि सेना का प्रयोग राज्य के कार्यों का एक पहलू हो सकता है और उस शक्ति के प्रयोग मे नैतिक विचारो द्वारा पथ-प्रदर्शन किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि खास अवसरो पर किसी भी समुदाय के हित का ध्यान सर्वोपरि, और जो किसी भी वैधानिक कार्य की अपेक्षा अधिक मान्य होता है। ऐसे विषयों मे यह कहा जा सकता है कि जनता का कल्याण ही सर्वश्रेष्ठ कानून होता है। राज्य अपने इस परमश्रेष्ठ उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए जो शक्ति रखता है उसे उसका अधिकार ही समझा जाना चाहिए। यह स्वीकार करना पडेगा कि किसी प्रत्यक्ष रूप से असभव वस्तु को पाने का प्रयास करना उचित नही कहा जा सकता, परन्तु जब किसी काम को करना परम वाछनीय होता है, और यदि उसे पूर्ण करने के लिए शक्ति भी प्राप्त होती है, तभी उसे करना उचित कहलाता है। राज्य के सम्बन्ध मे यह समझ लेना चाहिए कि उसे वे सभी आवश्यक अधिकार प्राप्त हैं, जो उसके उच्चतम लक्ष्य की सुरक्षा व विकास के लिए आवश्यक होते हैं। यहाँ मेरा मतलब कार्लाइल और ट्रेटस्की द्वारा 'अधिकार और शक्ति' मे सामान्यरूप से जो समानता दिखाई गई है, उससे है।[1] परन्तु यह बात स्पष्ट हो जानी अत्यावश्यक है कि एक समाज के कल्याण के लिए क्या-क्या वस्तुएं आवश्यक होती हैं। इसके साथ ही यदि सभव हो, तो क्या यह अधिक अच्छा नही रहेगा कि उन्हें प्राप्त करने के लिए दूसरों के विरोध की अपेक्षा उनकी रजामन्दी लेकर प्राप्त कर लिया जाए? कुछ लोग इसमे विश्वास नही करते और कहते हैं कि कम-से-कम कुछ परिस्थितियो मे युद्ध स्वय हितकर होता है। अतः हम यहाँ देखेंगे कि उन लोगो के विचारो का

---

१. कार्लाइल और ट्रेटस्की के नाम को आपस में इस तरह से जोड़ देना उचित प्रतीत नहीं होता। कार्लाइल ने अधिकार को हमेशा आगे रखा है और यह आग्रह किया कि एक कार्य का औचित्य ही उसको शक्ति प्रदान करता है। और यदि ऐसा ही मान लिया जाए, जैसा हम भी स्वीकार करते हैं कि अधिकारों की निश्चयपूर्वक जाँच नहीं की जा सकती जबकि शक्ति के बारे में ऐसा किया जा सकता है ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकार ही शक्ति है और शक्ति ही अधिकार है। इन सिद्धान्तों में व्यावहारिक अन्तर यदि कुछ है तो थोड़ा सा। प्रो० एच० एल० स्टेवर्ट की पत्रिका "इन्टरनेशनल जनरल आफ एथिक्स," जनवरी १६१८ का अक देखें।

आधार क्या है ?

युद्ध को अच्छा घोषित करने वाले लोगों का उसके समर्थन मे यह कहना है कि उससे कुछ ऐसे गुण उत्पन्न होते हैं जो शान्ति के समय में क्षीण हो सकते हैं और अपने प्रभाव मे नष्ट हो सकते हैं। युद्ध साहस, आत्म-बलिदान, मैत्री की भावना तथा सामान्य-हित के प्रति समर्पण को उत्साहित करता है तथा दयालुता, शौर्य और महानता के लिए एक नया क्षेत्र प्रदान करता है। इतना ही नही, यह भी स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि यह भय की बात है कि युद्ध के यथार्थ तनाव और उसकी भयानकता के समय इन उत्तम गुणों मे से कुछ को तो एकदम से भुला दिया जाता है।[1] फिर यह भी कहा जाता है कि साहित्य और कला मे जो अति महान् है, वह सवेगात्मक जीवन की उच्चता पर आधारित होता है। उनका साक्षात्कार केवल महासकटों और उग्र प्रयासों की उपस्थिति या कल्पना मे ही पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है। रस्किन को कुछ अंशो मे स्वतः ही यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा था कि इसमे सत्य का कुछ अश है। मैं सोचता हूँ कि नीत्शे[2] के कथन का विश्लेषण भी इस प्रकार किया जा सकता है कि—"एक अच्छे युद्ध में प्रत्येक वस्तु बलिदान या न्योछावर कर दी जाती है।" इसमे आत्म-समर्पण की बात मन्द स्वीकृति के रूप मे है। इन बातो मे कुछ शक्ति है, इसे मुश्किल से ही अस्वीकार किया जा सकता है कि लगभग अशुभ कार्यो मे भी सदैव ही कुछ अच्छाई की भावना निहित रहती है। इसी परिणामस्वरूप जो लोग युद्ध के उन्मूलन के लिए उत्सुक हैं, वे भी इसको 'नैतिक सम्भावना' के रूप मे अवश्य स्वीकार करते हैं। संभवतः इसके लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि मानव-जीवन निम्न स्तर से विकसित हुआ है और उसी से वह ग्रस्त

---

१. इस विषय में युद्ध की तुलना भूकम्प, तूफान और अन्य महान् उत्पातों से की गई है, परन्तु अन्तर यह है कि इनमें जहाँ वीरोचित गुण जीवन की रक्षा करने में काम आते हैं, वहाँ युद्ध के समय विनाश के काम आते हैं।

२. "एक अच्छे युद्ध में प्रत्येक वस्तु न्योछावर कर दी जाती है," इस तरह के गूढ़ एव असम्बद्ध कथनों की व्याख्या करना सरल काम नहीं है। इनके अधिकतर, शायद गलत अर्थ लगाये गए हैं। परन्तु ऐसे भविष्यवक्ता श्रेणी के उपदेशकों, जिनका उद्देश्य इस संसार में शान्ति नहीं अपितु आग फैलाना होता है, कुछ विलक्षणता होती ही है। नीत्शे के कुछ कथन कुछ थोड़ी-सी वाक्य-रचना के परिवर्तन के साथ एमर्सन के समान ही हैं। उनमें प्रमुख अन्तर पागलपन और उन्माद के अन्तर की तरह है। इस समय अंग्रेजी में नीत्शे पर साधिकार लेखक डब्ल्यू० एम० साल्टर महोदय हैं। डा० वुल्फ की पुस्तक "फिलॉसफी आफ नीत्शे" भी देखें। श्री ए० एम० लुडोविसी ने उसके उपदेशों के अनेक पहलुओं की व्याख्या बड़े सरल व आकर्षक ढंग से की है।

है। हम सघर्ष करके आगे बढे है अतएव हम सहसा सघर्ष-विहीन जीवन के लिए अपने-आपको कैसे समर्पित कर सकते हैं? "विरोधो के बावजूद भी मैं प्रयत्न करता हूँ," यह एक ऐसी प्रवृत्ति को व्यक्त करना है, जो मानव के लिए स्वाभाविक रही है। यदि हम अपने शत्रु के विरोध मे लडाई नही कर रहे है, तो यह भी दूसरे ढग से हम 'एक बडी लडाई लड रहे है" और दुर्भाग्य से मानव के प्राधान्य को प्रकट करने वाला इसके अतिरिक्त अन्य कोई ढग भी नही है। यह हमे उस दूसरे तर्क की ओर ले जाता है जिसके आधार पर युद्ध की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।

आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जाता है कि जीवन की उच्चतर श्रेणियो का विकास सघर्ष पर आधारित है, जिसमे निम्नतर-श्रेणियाँ नष्ट हो जाती हैं और उच्चतर श्रेणियाँ सुरक्षित रह जाती हैं। इसके विरोध मे यह भी कहा जाता है कि यह बात अनिवार्य नही है कि जो जीवित रह जाती है वे उच्चतम ही होती हैं, वे तो केवल किसी परिस्थिति-विशेष मे अपने-आपको अनुकूल बना लेने वाली होती हैं। यह कहना निश्चय ही बडा कठिन है कि प्राचीन ग्रीक राज्यो का अथवा रोमन साम्राज्य का विनाश मानव के हित के लिए हुआ था, और जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है युद्धो मे अधिकतर सबसे अधिक बलवान् और गुणवान् लोग ही नष्ट होते हैं। फिर यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे हम जीवन का विकास करते जाते हैं, वैसे-वैसे सचेतन चुनाव और प्रयास के कारण हम ऊँचे-से-ऊँचे स्तर की ओर बढते जाते हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा, जीवन की सुन्दरतम परिस्थितियाँ और उचित समय पर सौजिनिकी के सिद्धान्तो के प्रयोग मानव-जाति के विकास मे योग दे सकते है।

इस विषय की पूरी व्याख्या मोन्म० जे० नोविको ने की है।[1] उनकी प्रमुख विचारधारा यह है कि मानव-प्रकृति अपने अस्तित्व के लिए जिस संघर्ष पर आधारित है, वह प्रकृति की शक्तियो के विरुद्ध होता है पर अपने साथियो के विरुद्ध नही। प्रकृति के विरुद्ध सघर्ष को ही विलियम जेम्स ने युद्ध की नैतिक सम्भावना बताया है।[2] वास्तव मे यह सुझाव कुछ अशो मे कार्लाइल को

---

१ प्राकृतिक-शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष पर देखें प्रो० हेक्राफ्ट की "डारविनिज्म एण्ड रेस प्रॉग्रस" अस्तित्व के लिए संघर्ष का सही विश्लेषण पर देखें—प्रो० चामरम मिचेल की पुस्तक "इवोल्यूशन एण्ड दि वार" विशेषत अ० २ ; जी० जी० काल्टन की पुस्तक "मेन इल्यूजन आफ पेसिफिज्म" विशेषत पृ० स० ९३-११४। हक्सले की "इवोल्यूशन एण्ड एथिक्स" ; डार्विन महोदय की "डीसेन्ट आफ मैन" भाग १ अ० ५, प्रो० हॉबहाउस की पुस्तक "सोशल इवोल्यूशन एण्ड पोलिटिकल थ्यूरी' अ० ७।

२ 'मेमोरीज एण्ड स्टडीज़' देखें।

उद्योगों के मुखिया और श्रमियों के समूह पर बल देते समय पहले ही आभासित हो गया था।[1] आधुनिक काल मे औद्योगिक संघर्षों को अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष के स्थान पर काम मे लाने का सुझाव अधिक आपत्तिजनक है।[2] इसमें भय की बात यह है कि ऐसे झगडो मे उन उदार भावनाओ का अभाव रहेगा जो बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष मे पाई जाती है। कुछ भी हो इसे हम युद्ध का समप्रभावी नही कह सकते, अपितु यह एक नये रूप मे स्वय युद्ध होगा।

इस विषय पर यहाँ हम कुछ अधिक नही कह सकते। यह स्पष्ट है कि युद्ध स्वय टिकता नही है। यह भी कहा जा सकता है कि वह थोड़े हित परन्तु अधिक अहित का जनक है। इसके तुरन्त उन्मूलन के बारे मे सोचना भी बुद्धिमत्ता नही है। हमे युद्ध करने के लिए तैयार तो नही रहना चाहिए, परन्तु उसका सामना करने की तैयारियो की अवहेलना भी नही करनी चाहिए। इसका मतलब यह नही है कि हमें सदैव 'चमकते हुए हथियारो' से सजकर रहना चाहिए, परन्तु आने वाले खतरो को पहले भाँप लेने और उनके बारे मे कल्पना कर लेने की शक्ति हम मे अवश्य होनी चाहिए। हमे खतरों के बीच निहत्थे होकर अधेरे मे मीठी नीद के झोके नही लेने चाहिएँ। यहाँ विश्वास के साथ यह भी कहा जा सकता है कि यदि शान्ति का स्थायी रूप से राज्य हो भी जाता है, तो भी वह एक ऐसी शान्ति होगी जिसमे पूर्ण रूप से सघर्ष की अवहेलना नही की जा सकेगी। परन्तु वह स्वयं मानवता के उच्चतम लक्ष्य के लिए एक सघर्ष का रूप होगी। "वह एक ऐसी विजय होगी जो युद्ध की अपेक्षा कम श्रेययुक्त नही होगी," तभी हम नीत्शे के सैनिक आदर्शों के स्थान पर दूसरे आदर्श रखने मे समर्थ हो सकेंगे। नीत्शे ने जो यह कहा है कि "खतरो मे रहो और कठोर बनो," इससे अधिक शान्ति वाला आदर्श होगा—'मजबूती से रहो और आशावादी बनो।" जैसे अरस्तू ने कहा है कि "गुलामो के लिए आराम नही है," इसी प्रकार हम 'श्रमपूर्ण स्वतन्त्रता' की अपेक्षा 'आराम सहित बन्धन' को प्राथमिकता नही दे सकते। शान्ति और स्वतन्त्रता वही सम्भव हो सकती है जहाँ उनकी रक्षा और उनके स्थायित्व के लिए निरन्तर प्रयत्न किए जाते हैं।

यदि हम यह सोचने मे सही है कि पूर्वोल्लिखित शान्ति हमारा लक्ष्य होना

---

१. "पास्ट एण्ड प्रैजेन्ट" तथा "लेटरडे पेम्फलट्स" देखें।

२ श्री एम, सारेल का सार्वजनिक हड़ताल के बारे में यह दावा है कि हड़तालों ने मजदूर दल के लोगों में सबसे अधिक सज्जनता, गंभीरता और स्थायी भावों को जन्म दिया, सुसंगठित रूप से एकत्रित किया और उन्हें एक-दूसरे के निकट लाकर प्रत्येक को अधिकतम उत्तेजना से भरा है। रिफ्लेक्शन्स ऑन वॉयलेन्स (अ० ४, पृ० १३७)।

चाहिए, तो हमारे लिए, उसे प्राप्त करने की विधियो का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। स्पष्टत उसे प्राप्त करने मे अनेको कठिनाइयाँ हैं। पिछले अध्याय मे मैंने उनकी अवहेलना करने की अपेक्षा उनको प्राप्त करने पर अधिक बल दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस विषय मे कुछ प्रगति की जा सकती है। इस महान् सेवा को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे वृद्धि करके ही किया जा सकता है। इसके लिए पर्याप्त अनुदान आवश्यक हैं जो बडे देश ही प्रदान कर सकते हैं। अतः इस प्रकार की शक्ति के लिए लोगो को राष्ट्र-सघ की स्थापना की आवश्यकता पडी।[1] परन्तु ऐसी योजना के विरुद्ध भी अनेको आपत्तियाँ उठ खडी होती हैं जो स्वतन्त्र राज्य की सम्प्रभुता मे बाधक होती हैं। उन्हे सामान्यत॰ हटाया नही जा सकता, परन्तु उनके समाधान मे यह कहा जा सकता है कि कोई भी सम्प्रभुता निरपेक्ष नही होती। एक सम्प्रभु राज्य और एक असम्प्रभु राज्य के अन्तर मे केवल सम्बन्धित प्रामाणिकता होती है। एक सम्प्रभु राज्य वह होता है जो किसी एक विशेष शक्ति के अधीन नही होता। और कोई ऐसा प्रस्ताव भी नही है जिसके द्वारा ऐसी सत्ता एक राष्ट्र-सघ को प्रदान की जा सके, न ही कोई विश्व-सघ कायम करने का विचार-विमर्श चल रहा हैं। ऐसे किसी भी प्रस्ताव का अर्थ होगा एकमात्र सम्प्रभु-राज्य की स्थापना, अन्य सभी राज्य जिसके अधीन होगे, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विश्व अभी तक उस परिपक्व अवस्था मे नही पहुँच सका है, और न शायद कभी उस अवस्था मे पहुँच ही सकेगा। हाँ, अधिक-से-अधिक इतना हो सकता है कि कुछ विभिन्न जाति के लोग अपनी भिन्न-भिन्न पद्धतियो के अनुसार विकास करते रहे। परन्तु केवल मात्र किसी श्रेष्ठ-राज्य की स्थापना के अलावा ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रभु-राज्य भी कुछ बन्धनो को स्वीकार करेंगे। यहाँ तक कि जर्मनी के महान् राज्य को भी अपने अन्दर स्थित कुछ छोटे राज्यो के अधिकारो के कारण कुछ बन्धनो को स्वीकार करना पडा था। प्रत्येक सन्धि उन राष्ट्रो की पूर्ण स्वतन्त्रता मे कुछ बन्धन अवश्य लगाती है, जो राष्ट्र उस पर हस्ताक्षर करते हैं। फिर यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की कुछ सन्धियो के बिना सुरक्षा रह भी नही सकती। यह अवश्य सही बात है कि ऐसी सन्धियाँ

६ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रगति

१ इस विषय पर लिखने वाले अनेक लेखकों की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। शायद उनमें से बहुत-सी रचनाएँ तो अल्पजीवी ही रही हैं। श्री डिकिन्सन॰ 'दि चॉयस बिफोर अस।' सी॰ डी॰ बर्न्स॰ 'मारेलिटी आफ नेशन्स'। प्रो॰ सुगीमुरी की 'प्रिंसिपल्स आफ मोरल एम्पायर' भी उल्लेखनीय है। ग्रीन महोदय की 'प्रिन्सिपल ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लिगेशन्स' १७५ भी देखें। श्री ए॰ जे॰ टॉयनबी की 'नेशनेलिटी एण्ड वार' अ॰ १२ भी उल्लेखनीय है।

तब तक बेकार होती है जब तक कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र उसके समर्थन के लिए संगठित होने के प्रण को पूरी तरह निभाते नही। फिर वर्तमान-काल मे कोई भी राष्ट्र अपने मित्र-राष्ट्रो के समर्थन के बिना किसी महान् युद्ध मे भाग लेने का विचार तक नही कर सकता। ऐसे मित्र-राष्ट्रो का एक प्रकार का राष्ट्र-सघ बन जाता है। अतएव अब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर वे ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ है जिनसे ऐसें राष्ट्र-सघों की स्थापना सम्भव होती है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही होगा कि कुछ राज्यो के अपने सामान्य हित इसकी स्थापना के लिए प्रेरणा देते है। जितने अधिक राष्ट्र उस सामान्य-हित को पाने के लिए सम्मिलित होते है, उतना ही अधिक राष्ट्र-सघ भारी बनता है तथा जो सामान्य बात ऐसे सभी सम्मिलित राष्ट्रो के लिए हितकर होती है तो वे सब उसकी प्राप्ति के लिए एक साथ जुट जाते हैं। अब प्रत्येक राज्य, जो अपनी सम्प्रभुता का मूल्याकन करता है, उसे एक ऐसे सामान्य-हित को भी मान्यता देनी पडती है जो सभी के लिए समान होता है; जैसे अपनी सभ्यता की रक्षा करने की स्वतन्त्रता और उनको ऐसा करने का आश्वासन दिलाने के लिए शान्ति की परम आवश्यकता। अत यह सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि शान्ति और स्वतन्त्रता दो घनिष्ठता से सम्बन्धित हित है, जो समान रूप से सभी राष्ट्रो के लिए सामान्य होते है और उसकी रक्षा के लिए वे सभी एक साथ बहुत अच्छी तरह से सम्मिलित हो सकते है। ऐसा करने के लिए वास्तव मे सम्प्रभुता का बलिदान आवश्यक नही होता, अपितु इससे तो वह उन परिस्थितियो को बनाए रखने मे समर्थ होता है जिनके द्वारा सम्प्रभुता के तत्वो को सुरक्षित रखा जा सकता है। यहाँ भय का आधार यह हो सकता है कि इस उद्देश्य के लिए निर्मित राष्ट्र-सघ धीरे-धीरे कुछ समय के बाद कुछ अन्य उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए भी प्रेरित हो सकता है। वह स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उसमे बाधक भी बन सकता है। इस तरह ऐसे राष्ट्र-सघ से उत्पन्न होने वाले खतरे से पूर्णतः इन्कार भी नही किया जा सकता। यहाँ तक कि कुछ राज्यो की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरो के कार्यो को रोकना आवश्यक हो जाएगा। ये बन्धन आवश्यक बन्धनो से फिर दुखदायी और हानिकारक बन्धनो मे भी परिवर्तित हो सकते है। राष्ट्र-सघ का मूल उद्देश्य सुरक्षा और शान्ति है। ये दोनो इसके अस्तित्व के लिए दृढ आधार है। यदि इसके सविधान की रचना बडी सावधानी से की जाती है तो सारा विश्व इसके पीछे होगा। यदि पानी ही हमे गन्दा बनाएगा तो उसे हम किससे धोएँगे ? यदि इस विश्व मे बुद्धिमत्ता पर्याप्त नही है तो उससे अच्छी बुद्धिमत्ता हम कहाँ से लाएँगे ? निस्सन्देह हम इस विश्व को ही अधिक बुद्धिमान् बना सकते है और ऐसा करने के लिए कुछ

विधियो पर हम आगे विचार करेंगे। परन्तु, कुछ भी हो इस विशेष समय के लिए तो हमे अपनी वर्तमान बुद्धिमत्ता से ही काम लेना पडेगा। यह स्पष्ट है कि इस तरह की समस्या को कोई भी यान्त्रिक योजना नही सुलझा सकती। पर यान्त्रिक योजना केवल लोगो की इच्छाओ को प्रभावित ही नही कर सकती, परन्तु उन इच्छाओ को विशाल रूप से उत्पन्न करने मे भी सहायक हो सकती है। यहाँ पर राष्ट्र-सघ के सविधान पर लिखना हमसे सम्बन्धित नही। उसे स्पष्ट करने का काम तो व्यावहारिक राजनीतिक नेताओ का है। समाज-दर्शन का काम तो विचारधाराओ के आधारभूत सामान्य-सिद्धान्तो पर विचार करना है। अब तक जो कुछ कहा गया है वह यहाँ के लिए पर्याप्त है। कुछ ही समय मे वह हमे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओ की ओर प्रेरित कर सकेगा। वह हमे राष्ट्रीय भेदभाव की खाइयो को पूर्णत पाट देने के उपरान्त 'मानव-ससद् अथवा विश्व सगठन' तक भी ले जा सकेगा। परन्तु इस समय हमे अपने आपको तात्कालिक समस्याओ तक ही सीमित रखना अधिक उपयुक्त होगा।

द्वितीय अध्याय

धर्म का स्थान

धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं और उन्हे विभिन्न शब्दावलियों मे बाँधकर कठिन बना दिया गया है। यहाँ उन सभी का विश्लेषण करना उचित नही है।[1] यहाँ तो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि

१. धर्म का अर्थ

धर्म का अर्थ कम-से-कम अपने सर्वोच्च विकसित रूप मे उच्चतम और सबसे अधिक मूल्यवान् के प्रति पूर्णतया समर्पण है।[2] कार्लाइल के स्वर यह मे कहना मुश्किल से ही सही हो सकता है कि 'कार्य ही पूजा' है। परन्तु ऐसा उस भावना के प्रति कहा जा सकता है जो रचनात्मक या सृजनात्मक कार्य के उच्चतम रूपों के लिए प्रेरणा देती है। उसको ही हम उचित रूप से धार्मिक भी कह सकते हैं। विशेषतः ईसाई-धर्म शायद अन्य सभी विश्व-धर्मों की अपेक्षा प्रमुख रूप से सामाजिक-सगठन के आदर्श के प्रति समर्पण की एक भावना है। यही मूलतः इसकी वृद्धि और रक्षा के लिए आवश्यक भी है। धर्म का यही पहलू हमारे लिए यहाँ अत्यधिक महत्त्व रखता है। उदाहरणस्वरूप यह स्पष्ट है कि समर्पण की ऐसी भावना के बिना, राष्ट्रीय जीवन अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विकास की इच्छा करना व्यर्थ होगा, जिन पर पिछले अध्यायों में बल दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय एकता और विश्व-शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध मे डिकिन्सन ने हाल ही मे एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में भी किया जा चुका है। उसमें धार्मिक प्रवृत्ति द्वारा की जाने वाली सेवाओ का एक आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसमे सन् १६०० ई० की अर्जेण्टाइना और चिली मे हुई लड़ाई का उल्लेख किया गया है, जिसे ईसाइयत के आधारभूत सिद्धान्तो की अपील द्वारा बन्द करवाया गया था।[3] ऐसे

---

१. ई० केयर्ड की पुस्तक 'दि एवोल्यूशन आफ रिलीजिन' का प्रथम अध्याय देखें।

२. 'जहाँ हमें अनुरक्ति और समर्पण मिलता है, वहीं धर्म का प्राथमिक रूप प्राप्त हो जाता है,'—बोसांके : 'वैल्यू एण्ड डेस्टिनी आफ दि इण्डीविजुअल' पृ०सं० २१।

३ 'चायस बिफोर अस,' पृ० १५६।

उदाहरण बहुत कम मिलते है। डिकिन्सन का कहना है कि उन्हें पूर्णतः 'अद्भुत' कहा जा सकता है, परन्तु धार्मिक विचारो का प्रभाव केवल धर्मयुद्धो मे ही नही, अपितु कुछ अन्य आन्दोलनो मे भी देखा जा सकता है। उन्हे सामान्यतः धार्मिक (शायद नितान्त उचित रूप मे नही) कहा जाता है। इस प्रकार फ्रास की क्रान्ति द्वारा सूत्रपात किये गए सुधारो में भी उस प्रभाव को देखा जा सकता है। मानव धर्म, जिसे हम विश्व-धर्म मुश्किल से ही कह सकते हैं, प्रमुख रूप से बौद्ध और ईसाई धर्म का ऋणी है। उसमे धार्मिक भावना का एक पहलू सम्भवत अन्य पहलुओ से पृथक् है जो इसकी विशेषता है। सम्भवत यह सही है कि ऐसे धर्म की पूर्णता के लिए हमे वर्ड्सवर्थ और शैले की कविताओ मे मिलने वाली प्रकृति पूजा को और इसके साथ ही समग्र विश्व के समन्वयात्मक विचारो के निश्चित प्रयासो को भी, जो प्लेटो तथा अन्य सृजनात्मक विचारको के लेखो मे प्राप्त होते है, जोड देना चाहिए। परन्तु यहाँ तो धर्म के अर्थ के बारे मे इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि वह मानव-जीवन की पूर्णता के प्रति समर्पण की एक भावना है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर हम इसे मानव-प्रकृति के साथ सम्बन्धित कर सकते हैं जिसके बारे मे इस पुस्तक को आरम्भिक अध्यायो मे उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु इस दृष्टिकोण के अपना लेने पर भी, धर्म के कुछ अन्य विभिन्न पहलुओ की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाना आवश्यक है। परन्तु उनका सूक्ष्म-विवेचन यहाँ स्थानाभाव के कारण नही किया जा सकता।

इस पुस्तक के कुछ प्रारम्भिक अध्यायो मे यह प्रस्तुत किया गया था कि मानव-जीवन के तीन प्रमुख पहलू होते है—वर्धी, प्राणी-जीवन सम्बन्धी और सबसे अधिक विशेषता वाला मानव-जीवन सम्बन्धी।

२. धर्म के प्रमुख पहलू शुद्ध मानवीय पहलू बौद्धिक चयन पर आधारित होकर अन्य दो पहलुओ को रूपान्तरित करता है और धीरे-धीरे उन पर अधिकार जमा लेता है। हमारी सामाजिक सस्थाएँ और सगठन-पद्धतियाँ, जिनके बारे मे अब तक उल्लेख कर चुके हैं, प्रमुखत उन्ही विधियो के रूप है जिन्हे हमारी निम्नतम आवश्यकताएँ और भावनाएँ अपने सचेतन चयन के कारण प्राप्त करती हैं। अब हमे उस आदर्श ध्येय की ओर ध्यान देना चाहिए जो हमारी जटिल प्रकृति के शुद्ध मानवीय पक्ष से विशेपत सम्बन्धित है। यही शुद्ध मानवीय ध्येय स्वत ही सत्य, शिव, सुन्दर के अनुशीलन में प्रकट होता है। धर्म भी इन्ही उच्चतम रूपो के साथ ही पूर्णत्व को प्राप्त करता है। यहाँ सामाजिक कार्यों मे हित क्या होता है, उसे देखना ही प्रमुख उद्देश्य है, परन्तु अन्य पहलुओ को भी पूर्णतः भुलाया नही जा सकता।

जब सामाजिक कार्यों पर धर्म के प्रभाव को विशेष रूप से देखा जाता है, तब धर्म और नैतिकता मे कोई अन्तर नही रह जाता। यहाँ नैतिकता शब्द अपने उच्चतम अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है[1] कि मूलत धर्म "संवेगों से युक्त नैतिकता है।" परन्तु सभी नैतिकताएँ, जो अधिकाश लोगो के लिए शुभ होती हैं, सवेग का पुट रखती हैं। नीतिशास्त्र-सम्बन्धी विचार भी धर्म-सहित उच्च नैतिकता ही तो है। परन्तु यह एकत्व विधेयकवाद की तरह धर्म से प्रकृति-पूजा और अनुभवगम्य-ब्रह्माण्ड[2] की अवधारणा को पृथक् करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का भाव इसके उच्चतम अर्थों मे प्रत्येक वस्तु का अनुशीलन करना है, जो सत्य और शिव हो। परन्तु कुछ भी हो, वह उन सब का एक अनुशीलन है, जहाँ वे सब धर्म मे आन्तरिक रूप से प्रत्यक्ष अथवा वस्तु की प्रकृति मे सम्पृक्त होते हैं। अधिकतर नैतिकता का अर्थ जहाँ सामान्यतः किसी विशेष काल और स्थान मे सत्य एव शिव के प्रति समर्पण और अनुशीलन समझा जाता है, वहाँ धर्म मे निरपेक्ष आदर्श करने की भावना होती है। नैतिकता की व्याख्या अस्तित्व के रूप मे व्याख्या करने की प्रवृत्ति है। कुछ अशो मे वह परम्परागत भी होती है। यह भी कहा जा सकता है कि थोडा या अधिक यही बात धर्म के बारे मे भी सत्य है, परन्तु कम-से-कम इसका उद्देश्य निश्चित रूप से पूर्णत्व की ओर ही अधिक है। इसे नैतिकता में प्रगति लाने वाली भावना भी कहा जा सकता है। परन्तु इसी से कला और दर्शन मे भी प्रगति होता है और वे दोनो अपने श्रेष्ठतम रूप मे धर्म का रूप धारण कर लेते हैं, जैसा कि नैतिकता भी। सौन्दर्य का आनन्द और सत्य के प्रति चिन्तन मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति है। इसी तरह सत्य और सुन्दर की रक्षा के लिए नैतिकता का मूलतत्व—सहज प्रयास भी एक धार्मिक प्रवृत्ति है। इस प्रकार धर्म सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय एक ऐसे ढग से करता है जो विज्ञान, कला और नैतिकता के समन्वय मे नही मिल सकता। फिर यह भी सत्य हो सकता है कि दार्शनिक चिन्तन के श्रेष्ठ रूप काव्य-सर्जन और नैतिकता के प्रयास भी मूलतः धार्मिक ही है।

३. धार्मिक संस्थाएँ

यह स्वाभाविक है कि धार्मिक प्रवृत्ति विशेषतः अपने सामाजिक पक्ष मे, कुछ विशेष सस्थाओ के समर्थन और निर्माण के लिए प्रेरित करती है, जैसे कि मानव-प्रकृति के अन्य पहलू भी करते है। यह भी स्वाभाविक है कि उन सस्थाओ मे अन्यो की भाँति कुछ ऐसे तत्त्व भी हो, जिन्हे हम परम्परागत कहते है। इनका सबसे अधिक स्पष्ट रूप हम विविध गिरजाघरो और अन्य साम्प्रदायिक सघों मे देख सकते हैं।

१. 'लैजिस्लेचर एण्ड डागमा,' अध्याय २।
२. 'एलीमैंट्स ऑफ कन्स्ट्रक्टिव फिलासफी' खण्ड ३. अध्याय ४।

इसी तरह कैथोलिकवाद के विशाल सगठनो से लेकर मित्र-समाज के साधारण सगठन तक पहुँचा जा सकता है। कभी-कभी कुछ अशो मे सामाजिक लक्ष्य ऐसी सस्थाओ में ही निहित अथवा उन्ही के अधीन होते हैं। वे सस्थाएँ सामाजिक सगठन के आदर्शों की अपेक्षा विशेष सिद्धान्तो की घोषणा और विशेष समारोह करने अथवा वैयक्तिक जीवन के सुधार की ओर ही अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उद्देश्य सभी के सामान्य होते हैं और उनको एक विशेष सामाजिक महत्त्व देते हैं। यह सही है कि कभी-कभी धर्म के बारे मे यह कहा जाता है कि वह एक शुद्ध वैयक्तिक वस्तु है। कभी-कभी ऐसा भी सोचा जा सकता है कि व्यक्ति धर्म को उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार चित्रकला अथवा सगीतकला को ग्रहण किया जाता है। उसमे वे एक प्रकार का सन्तोष और अनुशासन भी प्राप्त करते हैं। परन्तु सामाजिक कर्त्तव्य के साथ उन लोगो का सम्बन्ध बहुत कम होता है, और सामान्यत धार्मिक सगठनो के साथ अपने-आपको सम्बन्धित नही करते। प्राचीन रहस्यवादी, मध्यकालीन सन्त और वे 'सुन्दर-आत्माएँ' (जैसा गेटे ने कहा है), उन प्रवृत्तियो के उदाहरण हैं; परन्तु ऐसी प्रवृत्तियो को धारण करने वाले भी सामान्यत' एक ही मानसिक दशावाले लोगो के साथ मैत्री करना अधिक उचित समझते हैं। 'मेसोनिक लाज' और इसी तरह की अन्य सस्थाएँ, विशेषतौर से जब वे कुछ ऐसी अवधारणाओ से अनुप्राणित होती हैं जैसी गेटे के मेसोनिक भजनो मे व्यक्त हुई है, तो वे भी इसी प्रसग मे ध्यान देने योग्य होती हैं। वास्तव मे चित्रकार, सगीतज्ञ और विचारक लोग भी कभी-कभी अपना एक सगठन बनाते हैं और विशेष उत्साह के साथ अपने सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति मे आत्म समर्पण कर देते है। इस प्रवृत्ति को भी धार्मिक कहा जा सकता है। यह निर्णय करना कुछ कठिन होगा कि पैथागोरियन लोगो के सगठन को दार्शनिक मण्डल अथवा धार्मिक-सम्प्रदाय कहा जाए। इसी तरह सामाजिक आदर्शों के प्रचार के लिए उत्सर्ग करने वाले लोगो और उसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए बने सघो को भी इस प्रवृत्ति के कारण धार्मिक समझा जा सकता है, पर उनके उद्देश्य के अनुसार उन्हें धार्मिक वर्गीकरण मे नही रखा जा सकता। कभी-कभी कुछ ऐसी अभिव्यक्तियो का प्रयोग किया जाता है, जैसे, "अमरीकी लोकत्रतन्त्र एक धर्म के रूप मे" अथवा "समाजवाद का धर्म" इन सब से यही ज्ञात होता है कि राजनीतिक अथवा सामाजिक आदर्शों का भी पूरे दिल से अनुशीलन किया जा सकता है और उन्हे जीवन का उच्च और सुन्दरतम स्वरूप समझा जा सकता है। फिर, शैक्षणिक और धर्मार्थ सस्थाओ की स्थापना मुख्यत: धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगो द्वारा की जाती रही है, और ऐसी सस्थाओ को कभी-कभी विशेषत धार्मिक समझा जाता है। इस तरह से यहाँ धार्मिक सस्थाओं से भाव व्यापक अर्थों मे लेना चाहिए। कुछ विशेष सस्थाएँ

मुश्किल से ही धार्मिक कहला सकती है, परन्तु धर्म उनके आन्तरिक रूप तथा उनके कार्यों मे विशेष स्थान रखता है। इस तरह से दासवृत्ति को भी दिव्य बना दिया जा सकता है। अतः अब धर्म का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं के साथ देखना चाहिए।

यदि यह मान लिया जाता है कि धर्म की मूल प्रवृत्ति सामान्य हित की प्राप्ति है, तो युवकों की शिक्षा मे इसका स्थायी महत्त्व होना आवश्यक है। यदि इसके मार्ग मे धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओ के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ न आएँ, तो यह बात समस्त विश्व के लिए भी मान्य हो सकती है। जो लोग किसी विशेष मत, विधि और किसी विशेष धर्म में आस्था रखते हैं, वे अपने धर्म के इस विशेष रूप को अपने अधीन शिक्षा सस्थाओ मे पढ़ने वालो के दिमाग मे ठूंस देना चाहते है। इस प्रकार भिन्न विचारो वाले स्वतः ही इनके विचारों का विरोध करते हैं। अतः जहाँ अनेक धार्मिक विश्वास होते है, वहाँ शिक्षा सस्थाओ से धर्म को निकाल देने की अथवा उसे घटाकर साधारण रूप से रखने की प्रवृत्ति होती है। यहाँ हम इस कठिनाई को सुलझा तो नही सकते, पर इसके लिए कुछ निर्देश अवश्य दे सकते है।

४. शिक्षा में धर्म

अपरिपक्व मस्तिष्क वाले बच्चों को किसी विशेष धर्म की शिक्षा देने का प्रयत्न वास्तव मे आपत्तिजनक बात है। यदि ऐसा करने मे सफलता मिल भी जाती है तो भी धर्म एक सजीव प्रेरणा की अपेक्षा एक मृतप्राय प्रथा बन जाता है, और वह व्यक्तियों की एकता की अपेक्षा उनमे भेद पैदा करता है, उन्हे पृथक् करता है। इस प्रकार वह अपने उद्देश्य मे असफल होता है तथा सभी धर्मों के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। इतना ही नही, इस प्रकार वह सामान्यत. मान्य शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तो का उल्लघन करता है, जो स्वय अपने अन्दर से विकसित होते है और जिन्हे बाहर से किसी पर थोपा नही जा सकता। यह स्पष्ट है कि युवको को उस धार्मिक (अथवा अधार्मिक) वातावरण के प्रभाव से, जिस से वे घिरे रहते है, पूर्णतः बचाना सम्भव नही। इस सम्बन्ध मे, अन्य बातो की तरह, बच्चे अपने माता-पिता अथवा सरक्षकों तथा अपने से सम्बन्धित धार्मिक सस्थाओ के द्वारा हितकर अथवा हानिकर रूप से अवश्य ही प्रभावित होते है। मै बच्चे की पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे जोर दे चुका हूँ, जिन पर माता पिता का नियन्त्रण एक प्रतिनिधि अधिकारी की तरह होता है। परन्तु इस तरह के धार्मिक प्रभाव को पारिवारिक जीवन मे हस्तक्षेप किये बिना नही रोका जा सकता। परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव हो तो वह लाभ की अपेक्षा अधिक हानिप्रद होगा। स्कूल मे भी किसी विशेष अध्यापक द्वारा व्यक्त-विचार अपना प्रभाव डाले बिना नही रहते। परन्तु

ऐसे प्रभाव अन्य प्रभावो द्वारा सन्तुलित किये जा सकते हैं। कुछ भी हो, ऐसे प्रभाव उन अनेक प्रकार के प्रभावो मे से हैं, जो बच्चे के विकासोन्मुख मस्तिष्क पर उसके अध्यापक के मानवीय वर्गीकरण द्वारा आवश्यक रूप से पडते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि बच्चे मे इस प्रकार के अनिवार्य प्रभावो को किसी विशेष प्रकार की धार्मिक शिक्षा से पुष्ट किया जाए अथवा किसी विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति पैदा की जाए।

यह स्पष्ट है कि कुछ धार्मिक विचारो का शिक्षण दिया जाना चाहिए क्योकि विभिन्न धार्मिक अवधारणाओ को समझे बिना इतिहास को समझना कठिन होगा। इसी तरह धार्मिक विचारो के मूल्याकन के बिना साहित्य भी कुछ अर्थों मे निरर्थक ही होगा, क्योकि बहुत से महान् लेखको के प्रेरणा-स्रोत धार्मिक विचार ही रहे हैं। परन्तु जिन विचारो से लोग प्रभावित हुए हैं, उन्हे जानने और उनका मूल्याकन करने का अर्थ आवश्यक रूप से उन्हे ग्रहण करना नही होता। इसके विपरीत किसी पक्ष को ग्रहण करना स्वाभाविक होता है, और प्राय वह ठीक भी होता है, फिर भी विभिन्न प्रवृत्तियो को जानने और उनके मूल्याकन का अपना महत्त्व होता है। उदाहरणस्वरूप, ग्रीक लोगो को जानने के लिए विश्व के प्रति उनके दृष्टिकोण से सहानुभूति होनी चाहिए। इसी तरह ऐतिहासिक अभिलेखो और साहित्यिक अभिव्यक्तियो के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। धार्मिक विचारो और प्रवृत्तियो का इस तरह का अध्ययन मानव-बन्धुत्व के लिए लाभप्रद होगा और इसका हानिकारक प्रभाव न होगा। वर्तमान काल मे विभिन्न धार्मिक प्रभावो के ज्ञान और उनके मूल्याकन के बारे मे भी यही कहा जा सकता है। ऐसा करना अब आरम्भिक शिक्षा के लिए एक आवश्यक तत्त्व के रूप मे समझा जाने लगा है।

इसके उपरान्त धार्मिक प्रवृत्ति के मूल तत्त्व को ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। यदि उसे हम सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति समर्पण की भावना समझते है, तो यह स्पष्ट है कि उसे अन्य अनेको प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञान का अध्ययन विशेषत: सत्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करता हैं, कला का अध्ययन सौन्दर्य के प्रति प्रेम जागृत करता है और इतिहास व साहित्य का गम्भीर अध्ययन शुभ के मूल्याकन तथा अशुभ के प्रति घृणा की ओर स्वत ही ले जाता है। अच्छाई का वैयक्तिक तथा सामाजिक रूप समझाने के लिए नवयुवको के सामने इस तरह से खोलकर रख देना चाहिए जिससे उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो और वे उसे अपने व्यवहार मे लाएँ। परन्तु यह सब कुछ इस ढग से किया जाए कि ये सब चीजें विश्व के किसी विशेष मत, सिद्धान्त या किसी विशेष विधि पर आधारित न हों, ताकि जिन लोगो के मस्तिष्क अथवा हृदयो पर अपना प्रभाव डालें, वे चाहे अपने से बड़े लोगो के

सिद्धान्तो को ग्रहण करे या न करें, परन्तु उन मौलिक शाश्वत मूल्यो को अवश्य जानें कि मूल रूप से असत्य की अपेक्षा सत्य, असौन्दर्य की अपेक्षा सौन्दर्य, और अशुभ की अपेक्षा शुभ ग्राह्य होते हैं। इस तरह से धार्मिक भावना निरंतर ग्राह्य होती रहेगी भले ही उसका विशेष रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो। यही एक विशेष तत्व है पर इसकी विस्तृत व्याख्या यहाँ नही की जा सकती।

धर्म को मतों तथा गिरजाघरों की परिधि मे बाँध देना तो स्पष्टत. उसे अत्यधिक संकुचित बना देना है। जैसा हम पहले बता चुके हैं, इसके वास्तविक रूप का दर्शन, शिक्षा अथवा धर्मार्थ कार्यों. राजनीतिक-

५. धर्म और समाज-सेवा

आदर्शों, कला और विज्ञान की सेवाओं तथा अन्य अनेको विधियो मे होता है। परन्तु इसके अधिक विशेष दर्शन तो हमे सामाजिक दशा के सुधार के प्रयास मे होगे, और उसका अध्ययन अपने वर्तमान उद्देश्य के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व रखता है। जैसा हम पहले जान चुके हैं कि विशेष रूप से संगठित समाजो मे भी न्याय और समता के आदर्शों का पूर्ण साक्षात्कार कठिनाई से ही होता है। और जो मूलतः साम्य है वह सीमित और कठिनाइयो से घिरा हुआ है, जिन्हें दूर करना अथवा पूर्णतया समाप्त करना वांछनीय है। ये कारण उन समाजो के लिए अधिक सही रूपसे लागू होते हैं जो अभी पूरी तरह से सुव्यवस्थित नही हो सके। इन कठिनाइयों का समाधान तथा उनसे ऊपर उठाने का कार्य मानव जाति के हित मे लगी शक्तियाँ करती रहती है। युद्ध-काल में ऐसे प्रयासो का महत्त्व प्रत्यक्ष रूप मे विशेष होता है परन्तु शान्तिकाल मे भी उन्हें अनेको सेवा-कार्यों जैसे, अस्पताल, जेलखानों तथा गन्दे स्थानो आदि मे निरन्तर अवसर मिलते रहते हैं। और इस तरह के कार्यों से पद, धन, सम्पति, शिक्षा और अन्य परिस्थितियो के कारण व्यक्ति और वर्गों के मध्य के अन्तर अथवा खाई को पाटने का काम होता है। आधुनिक काल मे विश्वविद्यालीय क्षेत्रो मे इन बातो के विकास का अच्छा उदाहरण मिलता है। निस्सन्देह इन कार्यों का प्रत्यक्ष रूप से धर्म के मामलो मे कोई हवाला नही दिया जाता। परन्तु यदि हम इस शब्द के व्यापक अर्थ मे जाएँ तो यह कार्य धार्मिक भावना से प्रेरित होने चाहिएँ और वास्तव मे अनेकों धर्म स्थान ऐसे कार्य करना अपना प्रमुख उद्देश्य समझते हैं। सभवत उनके कार्य का यही पक्ष निश्चित रूप से अधिक विकसित एव मान्य हुआ है। यह कार्य, चूँकि राज्य अथवा स्थानीय शासन के अन्तर्गत नही आता, अतः वैयक्तिक प्रयास होने के कारण पूरी तरह नही हो पाता। इसका मूल कारण अन्य अनेक कारणो की तरह मुख्यत. धर्म-स्थानो के आपसी सगठन का न होना ही है। परन्तु धर्म के मूल तत्वो की मान्यता के कारण संगठित प्रयासों की आशा की जा

सकती है। इस प्रकार विचारो के मतभेद, जो लोगो के पृथक्-पृथक् चिन्तन, रुचि और सस्कारो पर आधारित होते है, सगठन के इन व्यावहारिक प्रयास को रोकने मे समर्थ नही होगे।

जैसे धर्म व्यापक एव सकुचित अर्थ मे शिक्षा, सामाजिक सगठन और सामान्य हित की भावना के उत्थान के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व है, वैसे ही राज्य भी उसके सरक्षण से विमुख नही रह सकता।

६ राज्य और धर्म राज्य और धर्म का असली सम्बन्ध दिखाने मे अनेको कठिनाइयाँ आती है और उन्हे यहाँ प्रदर्शित भी नही किया जा सकता। यहाँ कुछ सामान्य-सिद्धान्त ही प्रतिपादित किए जा सकते है।

धार्मिक सस्थाओ का प्रमुख कार्य शिक्षा प्रसार है। अत राज्य और शिक्षा का जो सामान्य सम्बन्ध है, उसे ही राज्य और धर्म के सम्बन्ध मे भी समझा जा सकता है। राज्य को शिक्षा के पहलू की तरफ ध्यान रखना पडता है, क्योकि यह उसके विधान के अन्तर्गत बात है, परन्तु राज्य का शिक्षा की पाठ्य-सामग्री, शिक्षण-विधि और उनके सचालन के साथ वैधानिक रूप से कोई सम्बन्ध नही होता।[1] व्यावहारिक रूप से किसी चर्च या किसी धर्म-सस्थान को राजकीय घोषित करने की कुछ भी आवश्यकता नही होनी चाहिए। यदि यह आवश्यक समझा भी जाता है तो एक ऐसी धार्मिक-सस्था को मान्यता दी जानी चाहिए जो राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति करे तथा कुछ राजकीय अनुदान प्राप्त करे। परन्तु शिक्षा की अनेको पद्धतियो की अपेक्षा धर्म के बारे मे यह निर्णय करना अत्यधिक कठिन हो जाता है कि कौन-सी सस्था को उचित रूप से राष्ट्रीय आवश्यकताओ का पूरक माना जाए। इस सम्बन्ध मे किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना नही की जा सकती। इसका निर्णय राज्यो मे विचारो और भावनाओ की बदलती हुई स्थितियाँ ही देगी।

आगे यह प्रश्न और अधिक जटिल इसलिए हो जाता है कि यह एक शुद्ध शैक्षणिक समस्या नही रह जाता। राष्ट्रीय जीवन के उच्चतम आदर्श धर्म से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं और धार्मिक अभिव्यक्तियो के रूप मे प्रकट

---

१. इस विषय में विभिन्न लेखकों द्वारा तर्क प्रस्तुत किये गए हैं जैसे, मैथ्यू आर्नल्ड ने अपनी पुस्तक 'कल्चर एण्ड अनार्की' तथा डा० स्टेण्टन काइट ने अपनी पुस्तक 'नेशनल आइडिलिज्म एण्ड ए स्टेट चर्च' में। यहाँ ह्यूम तथा अन्य पुराने लेखकों का उल्लेख न करना अच्छा नहीं, परन्तु मुझे इस में सन्देह है कि उन्होंने पूर्वोक्त लेखकों से कुछ अधिक बात कही हो। मैं जिस विचारधारा को प्रस्तुत करना चाहता हूँ, वह प्रो० कोजिरो सुगीमोरी की 'प्रिन्सिपल्स आफ मॉरल एम्पायर' पृ० २१४-१६ में देखने योग्य है।

होते हैं। राजकीय समारोह प्रायः धार्मिक रूप लिये होते है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि वे अपने रूप और आकार किसी विशेष धार्मिक सगठन से ले। यहाँ पर यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि जहाँ तक सम्भव हो, इस तरह के समारोह देश के सभी प्रमुख धर्मों के अनुसार हो अथवा कम-से-कम उनके विपरीत भी न हो। यह आदर्श तो कम-से-कम हमारा लक्ष्य बनना ही चाहिए, यद्यपि यह अपने-आपमे पूर्ण नही है।

दूसरी बड़ी कठिनाई यह रह जाती है कि कुछ विशेष प्रकार के धार्मिक सगठन, सामान्यत. सभी राज्यो अथवा कुछ विशेष प्रकार के राज्यों के विरोधी होते है। वे उनकी सम्प्रभुता मे हस्तक्षेप करते है। एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय धर्म, जैसे कैथोलिज्म, किसी विशेष राज्य की सीमाओं से बडा होने का दावा कर सकता है। मध्यकालीन आदर्श तो यह था कि राज्य और चर्च का एक-दूसरे के प्रति घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] दूसरी ओर अजीब व्यक्तिगत प्रकार का धर्म, जैसे मित्र-समाज, अपने आपको राज्य से एकदम पृथक् रखता है। इस प्रकार राज्य को अपना मार्ग इन दो विपरीत प्रवृत्तियों के बीचसे निकालना है। उसे चाहिए कि वह विभिन्न मतो के साथ सहानुभूति रखे, जिससे वे उसके कार्यों मे किसी प्रकार की बाधा न डालें। जब राज्य इससे अधिक नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है, तो धर्म की स्थिति एक न्यायाधीश के रूप मे बदल जाती है। गिब्बन[2] के अनुसार 'रोम मे प्रचलित पूजा की विभिन्न पद्धतियो को वहाँ के लोग उसी प्रकार पूर्ण सत्य समझते थे जैसे दार्शनिक लोग उन्हे असत्य और न्यायाधीश उन्हे लाभदायक बताते थे। परन्तु न्यायाधीश लोग इतने सहिष्णु नही होते, वे तो सामान्यतः प्रेम की अपेक्षा भय को और स्वतन्त्र जाँच की अपेक्षा परम्परागत बातो को प्राथमिकता देते हैं। परन्तु यह समस्या तो हमे धार्मिक सहिष्णुता के सामान्य प्रश्न की ओर ले जाती है अतः उस पर अलग से ही प्रकाश डालना अच्छा रहेगा।

धार्मिक-सहिष्णुता, विचार-स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति सामान्य समस्या का ही एक भाग है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके है, परन्तु इस सम्बन्ध मे भी कुछ विशेष कठिनाइयाँ है, उन

७. धार्मिक सहिष्णुता

पर प्रकाश डालना आवश्यक है। धर्म के सम्बन्ध मे मतभेद का मतलब, यदि वह सच्चाई पर आधारित है, और वे धर्म के सम्बन्ध मे ही है, उसकी अभिव्यक्ति और संगठन के सम्बन्ध मे नही, तो उसका मतलब अनिवार्यतः जीवन-सम्बन्धी पूर्ण दृष्टिकोण

---

१. दान्ते इस विचार के प्रतिनिधि हैं। "डी मोनार्चिया" और "डिवाइन कामेडी" में यही विचार प्रकट हुआ है।

२. 'डिक्लाइन एण्ड फाल', अध्याय २।

के प्रति भिन्नता से है। इस तरह के मतभेद केवल विचार-सम्बन्धी ही नही, व्यावहारिक भी होते हैं और उनसे गम्भीर सघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे अन्तर्राष्ट्रीय और गृह-युद्ध भी हो सकते हैं। और यदि इन मतभेदो से वास्तविक सघर्ष नही होता तो वे घृणा तथा विरोध उत्पन्न करते हैं। परन्तु जिस सस्था का उद्देश्य सामान्य जनता का हित हो, वह अपनी इच्छा से ऐसे मतभेद नही रख सकती। और मतभेद अथवा भिन्नता के प्रति यदि उपेक्षा की जाए तो मतभेद समाप्त हो जाते हैं। इस बात को इस प्रकार निपटाया जा सकता है कि हम उन कारणो पर विचार करें कि किनसे मतभेद पैदा होते हैं और किनसे नही। उदाहरण के लिए अनुष्ठानात्मक अथवा चर्च सरकार सम्बन्धी मतभेद यदि आधारभूत अन्तर से ही सम्बन्धित हैं, तो वे महत्वपूर्ण नहीं होते। राज्य के दृष्टिकोण से यदि सैद्धान्तिक मतभेद हीं हो तो विशेष कठिनाई नही होती। कुछ कामो के करने के ढग के ग़लत अथवा सही होने के अन्तर से भी कोई गभीर समस्या पैदा नही होती। उदाहरण के लिए पशु-खाद्य के प्रयोग, चीरफाड़, नृत्य आदि देखना, खेल अथवा रगमच क्रियाएँ, शपथ-ग्रहण, पद के अनुसार विशेषता, शारीरिक अथवा अन्य दण्डो का प्रयोग, माता पिता तथा बच्चो के पारस्परिक कर्त्तव्य, लैङ्गिक-साम्य अथवा वैषम्य आदि के भेद। यद्यपि ये सब बातें एक जैसी मानसिक दशा वालो के लिए गम्भीर भेद भी पैदा करती हैं, परन्तु मैत्रीपूर्ण समर्ग के लिए यह भेद आवश्यक भी होते हैं, वैसे ये सहिष्णुता के मार्ग मे कोई गभीर समस्या भी खडी नही करते। इस प्रसग मे यह मान लेना सरल हो जाता है कि एक मनुष्य के लिए जो कुछ सही है वह दूसरे के लिए सही नही हो सकता, यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह बात मान्य नही हो सकती। वास्तविक समस्या प्रमुख रूप से तब उत्पन्न होती है जब अधिकारो का दावा किया जाता है, अथवा एक व्यक्ति के कर्त्तव्य दूसरो के अधिकारो और आबन्धो मे बाधक होते हैं अथवा वे राज्य की स्वतन्त्र-सत्ता मे हस्तक्षेप सिद्ध होते है। इस प्रकार की भिन्नताओं अथवा मतभेदो पर बहुत दबाव न दिया जाए तो समस्याएँ उठ खडी होती है। इन कठिनाइयो से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न प्रकार के लोग अपने विभिन्न आचरण के लिए स्वतन्त्र हैं। किसी राज्य के लिए असह्य कठिनाइयाँ दो ही हो सकती है—एक असहिष्णुता और दूसरी उसके आधिपत्य अथवा अधीनता को स्वीकार न करना। और धर्म से उत्पन्न मतभेद में इन मे से एक अथवा दोनो बातें रहती है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी राज्य असहिष्णुता को सहन नही कर सकता और न ही वह किसी के हस्तक्षेप का विरोध किये बिना रह सकता है। यदि

हम यह चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे अधिकारो का आदर करे, तो उस अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य भी जुडा रहता है, कि हम भी दूसरों के विचारों और अधिकारों का आदर करें। अपनी परम्पराओ मे किसी का कितना ही दृढ विश्वास क्यों न हो, परन्तु उनमे सहिष्णुता आ ही नही सकती, क्योंकि परम्पराओं को दृढ करने वाली सभी क्रियाएँ दूसरो के अधिकारो का उल्लंघन करती है। इसी तरह ऐसे किसी भी विश्वास को सहा नही जा सकता, जो दूसरो पर जबरदस्ती थोपा जाता है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब उस विचार को वहुत ही पवित्र बनाया जाए और कार्यरूप में तुरन्त परिणत न किया जा सके। ऐसी अवस्था में भी वे विश्वास तभी सह्य हो सकते हैं, जब किसी राज्य के अधिकारियों को आश्वस्त किया जाए कि इन विश्वासों को कभी भी कार्यरूप में परिणत नही किया जा सकता अथवा उन्हें यह विश्वास हो जाए कि यदि ये कार्यरूप मे परिणत हो भी जाएँगे तो उन्हे सरलता से रोका भी जा सकेगा।

इसी तरह से राज्य की अधीनता स्वीकार न करने वालो को भी सहन नही किया जा सकता, क्योकि यह तो उस सत्ता के प्रति अस्वीकृति है, जिस पर राज्य का अस्तित्व आधारित होता है। राज्य की सीमाओं में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-सत्ता मान्य होनी ही चाहिए। फिर ऐसी अवस्था मे भी स्वतन्त्रता की कुछ सीमा होती है परन्तु जहाँ तक वह सह्य हो। यदि कुछ नागरिक किसी विशेष कानून अथवा किसी निर्णय को अनुचित समझते हैं, तो कभी उन्हें उनका उल्लंघन करने की अनुमति भी दी जा सकती है। पर यह इस शर्त पर ही संभव हो सकता है कि वे अन्य सभी कानूनों का पालन करने वाले हों और उनके इस एक कानून के उल्लघन से हुकूमत पर कोई प्रभाव न पड़े। उदाहरण के लिए, युद्ध-काल मे यदि कोई राज्य सेना में अनि-वार्य भर्ती का नियम घोषित कर देता है और कुछ नागरिक इस तरह की सैन्य-सेवा के लिए इन्कार करते हो और यह इसलिए कि वे लोग किसी विशेष युद्ध को अनुचित समझते हो अथवा उनका यह विश्वास हो कि सभी युद्ध अनुचित होते हैं, तो उन्हे ऐसी सेवाओ से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि ऐसे लोगों की संख्या इतनी अधिक हो, कि उनकी मुक्ति युद्ध की सफलता मे बाधक हो अथवा उनकी स्वतन्त्रता राज्य की सर्वोच्च-सत्ता के प्रति अपमान का विषय बनती हो, तो उन्हे छूट देना कठिन होता है। इसी तरह यह विचार किसी विशेष प्रकार के कर की अस्वीकृति मे भी लागू किया जा सकता है, कि उसे लगाने का ध्येय अवांछनीय है परन्तु यह तो स्पष्ट है कि इस तरह की छूट केवल इस आधार पर कभी स्वीकार नही की जा सकती कि दावा करने वाले लोग अल्पमत के सदस्य हैं और उनके विचारों को दबा

दिया गया है। यह छूट इस आधार पर मिल सकती है कि उससे किसी धार्मिक सिद्धान्त का उल्लंघन हो जाता हो, अर्थात् इस प्रकार से वह मूल मे एक धार्मिक बात ही होती है। समस्या से सम्बन्धित कठिनाइयो को प्रकाश मे लाने और उन्हे दूर करने के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य विचार रखना और इतना ही कहना पर्याप्त होगा क्योकि यहाँ अधिक विस्तार से लिखना तो इस विषय से दूर जाना है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि धार्मिक भावना हमे किसी विशेष राज्य की सीमाओ से भी परे ले जाती है। अधिकतर पुराने धर्म मूलत. कबीले वाले वर्गों से सम्बन्धित होते है। उनमे पूजा का सम्बन्ध उस शक्ति से जोडा जाता है जो आस-पास के लोगों के विरुद्ध राष्ट्रीय जीवन का समर्थन और रक्षण करती है। आधुनिक एशिया मे इसी विचारधारा की एक अजीब पुनरावृत्ति दिखाई देती है।

८. अन्तर्राष्ट्रीय धर्म

सभी महान् धर्मों का उद्भव भी इसी प्रकार से हुआ है। ईसाई धर्म मे तो यह एक मूल्य तत्त्व रहा है, जिसने यहूदी और ग्रीक लोगो के बीच की खाई को पाट दिया। स्टोइक लोगो मे निश्चय ही एक दृढ धार्मिक भावना थी, उन्होंने भी अपनी विश्व-बन्धुत्व की भावना द्वारा ग्रीस और रोम के प्रति इसी तरह की सेवाएँ की हैं। उनके पूर्व सुकरात और प्लेटो ने भी दैवी अवधारणा को नैतिक स्वरूप देकर नगर-राज्यों को निकट लाने तथा एथेन्स और स्पार्टा के विरोधी आदर्शों के समन्वय का कार्य किया था। कैथोलिकवाद का उद्देश्य विश्वव्यापी धर्म बनने का था, परन्तु सारे ससार पर साम्राज्य स्थापित करने की भावना के साथ मिलकर वह अपने धार्मिक चरित्र को खो बैठा। वह ईश्वर और सीजर दोनो की एक साथ सेवाएँ कैसे कर सकता था? फिर यह स्पष्ट है कि कोई संगठन मौलिक रूप से विश्वव्यापी बनना चाहता है तो उसे सामान्य हित की पूर्ति के लिए सगठन की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए, और ऐसी भावना अपने मूल रूप मे धार्मिक ही होगी। केवल यान्त्रिक योजनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षो का अन्त नहीं कर सकती। अत पूर्व और पश्चिम को एक साथ जोडने के लिए और उनके मेल से एक मौलिक विश्वव्यापी धर्म के विकास के अनेको प्रयास किये गए। ऐसे प्रयासो से एक नया खतरा भी पैदा हो जाता है कि कही वे पहले के सम्प्रदायो की श्रेणी मे एक नया सम्प्रदाय न खडा कर दें। इस पूर्व-लक्षित उद्देश्य को वर्तमान धर्मों के क्रमिक-विकास द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इन धर्मों मे से प्रत्येक धर्म का उद्देश्य अपने सिद्धान्तों में से परम्परागत तत्त्व का उन्मूलन करना ही होना चाहिए और उन मूल तत्त्वों को मान्यता दी जानी चाहिए जो सत्यं, शिवं और सुन्दरं की भाँति शाश्वत होते हैं[1]।

---

१ हरेन्द्रनाथमैत्रः 'हिन्दूइज्म "दि वर्ल्ड आइडियल"। खोजिरो सुगिमोरी. "दि प्रिन्सीपल्स आफ मारल एम्पायर"।

पहले जो कुछ कहा गया है उससे यह प्रत्यक्ष मालूम होता है कि सभी धर्मों मे दोष होते है, सभी धर्मो की अपनी सीमाएँ होती है। मैं सोचता हूँ कि सावधानी से उनका अध्ययन करने वाले पाठक

९. धर्मों में दोष

इन तत्त्वो से सुपरिचित होगे। उनमे से किसी के भी विशेष दोषो को यहाँ प्रदर्शित करना उचित नही है, परन्तु सभी धर्मों के दोषों को गिना देना उपयक्त होगा।

(१)अन्ध-विश्वास—अधिकाँश धर्मों मे अन्ध-विश्वास के कुछ तत्त्व मिलते हैं। अर्थात् उनमे ऐसे सिद्धान्त अथवा प्रथाएँ होती है जिन पर सावधानी पूर्वक चिन्तन करने पर भी विश्वास नही किया जा सकता और उन्हे उचित नही बताया जा सकता।

(२) मूर्तिपूजा—अधिकाँश धर्म प्रत्यक्ष रूप से सत्य और सुन्दर मे पूर्ण निष्ठा न रखकर उन्हे कुछ प्रतीको के पूजन के साथ जोड़ देते हैं, जैसे अच्छाई अथवा हित के प्रतीक अथवा कुछ श्रेष्ठता के प्रतिपादक रूप को राज्य जैसे प्रतीकों के साथ जोड़ देना। परन्तु ये प्रतीक पूर्ण समर्पण के योग्य नही होते।[1]

(३)सिद्धान्तवाद—अधिकाश धर्मों मे कुछ ऐसे सिद्धान्त होते हैं जो बौद्धिक चिन्तन के सामने टिक नही सकते, परन्तु उन्हें धर्माधिकारियो की स्वीकृति प्राप्त होती है और उनका औचित्य भी इन्ही के कथनों पर आधारित होता है।

(४) सम्प्रदायवाद-अधिकाश धर्म कुछ लोगो तक सीमित रहते हैं। वे या तो अन्य लोगो की प्रशंसनीय प्रथाओं का मूल्यांकन करने मे असमर्थ होते है, या इस तरह के लोगो के लिए स्विफ्ट के इन मार्मिक शब्दो को प्रयुक्त किया जा सकता है, "जिन लोंगों का एक दूसरे के प्रति घृणा करने का ही धर्म होता है, वे एक-दूसरे के साथ प्रेम करना क्या जाने!"

(५)धार्मिक कट्टरता—जब कुछ लोगो के सीमित दृष्टिकोण को ही निष्ठा अथवा भक्ति के योग्य ही समझ लिया जाता है, अपितु अन्यो की अपेक्षा जब उसे श्रेष्ठ भी मान लिया जाता हैं, तब उसे धार्मिक कट्टरपन कहा जा सकता है।

(६) दम्भ अथवा मिथ्याचार—मूलतः सीमित और अपूर्ण धर्म के प्रति नितान्त सच्ची भक्ति कठिन ही होती है। उस धर्म मे विश्वास न होने पर भी दूसरो को दिखाने के लिए कुछ लोग भक्ति करते हुए नजर आते है। उनका इस तरह का कट्टरपन सरलता से ही दम्भ मे रूपान्तरित हो जाता है। दिखाने के लिए किया गया विश्वास बहाना बनाने के विश्वास से कम नही है।

१. मूर्तिपूजा मूलत. प्रतीकवाद है। जब इस रूप को पूर्णतः समझ लिया जाता है तो फिर उसमें कोई नुकसान नहीं। हरेन्द्रनाथ मैत्र ने अपनी पुस्तक, जिसका उल्लेख किया जा चुका है, में टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं, पृ० सं० २५—७।

(७) व्यष्टिवाद—कुछ लोग अपनी परम्परागत सीमाओ अथवा दोषो से बचाव के लिए अपने व्यक्तिगत धर्म का प्रतिपादन करते हैं। यदि ऐसे लोग महान् मेधावी अथवा विलक्षण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि वाले नही होते, तो उनका यह कार्य परम्पराओ से भी अधिक सीमित रह जाता है।

(८) रहस्यवाद—व्यक्तिगत धर्म रहस्यवादी स्वरूप ग्रहण कर लेता है, अर्थात् उसमे गूढ और अगम्य पहलुओ पर बहुत अधिक बल दिया जाता है और इस तरह से वह मानवता के आगे बढने के सघर्ष को रोक देता है[1]।

(९) रूढिवाद—जब लोग वर्तमान धर्मों मे दोष देखने लगते है और उन दोषो को दूर करने मे असफल रहते है, तो वे किसी एक धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश होजाते हैं। उसमे निष्ठा की कोई बात नही होती फिर भी उनकी परम्परा ऐसी होती है कि उसे एक ओर नही किया जा सकता। यह अवस्था शुद्ध अधर्म से दूर नही होती। यह ठीक ही कहा गया है कि "जब मनुष्य धर्म छोड देता है, तब गिरजाघर जाना शुरू करता है।"

(१०) अधर्म—यदि धर्म का अर्थ सर्वोच्च के प्रति निष्ठा या भक्ति है, तो अधर्म का अर्थ उस प्रवृत्ति से है जो पूर्ण निष्ठा से हीन हो। यह प्रवृत्ति एक ऐसे विश्वास के प्रति होती है जिसका अर्थ होता है कि "न कुछ नया है, और न कुछ सत्य, इससे कुछ फर्क नही पडता।"

सामान्य निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि हम किसी धर्म को पूर्ण नही कह सकते, अथवा उसे विश्व-व्यापक होने योग्य नही कहा जा सकता।

१० धर्म में प्रगति

परन्तु विभिन्न धार्मिक अथवा अधार्मिक प्रवृत्तियो मे क्रमिक रूप से सुधार लाया जा सकता है। यदि हमारा सामान्य-कथन सही है, तो धर्म के निष्कर्ष पर इतना कहा जा सकता है कि सभी मौलिक धर्मो का लक्ष्य, कम या अधिक, चेतनरूप से यथार्थ और परम-तत्त्व को जानना और उसका साक्षात्कार करना है उन। धर्मों मे कुछ धर्म ही ऐसे होते हैं जो यथार्थ तत्त्व के किन्ही भी मूल्यो से युक्त नही होते। अत. यथार्थ धार्मिक भावना वाले सभी धर्म प्रगति करने वाले होते है[2] और वे क्रमश अपनी सीमित अपूर्ण प्रवृत्ति को दूर करना सीखते रहने है। वे अपना ध्यान विशाल आदर्शों की ओर केन्द्रीभूत करते है—गेटे की भाषा मे उस विशाल आदर्श की ओर जिस मे वे "आंशिकता मे मुक्त होकर शिव और सुन्दर के पूर्णत्व मे दृढता से निवास करते है।"

१. शुद्ध प्राचीन शैली के धर्मो मे यह एक सामान्य दोष है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि हरेन्द्रनाथ मैत्र ने यह दिखा दिया है कि यह विषय लोगों ने जितना मान लिया है, उतना गंभीर नहीं है।

२. एडवर्ड केयर्ड "दि एवोल्यूशन आफ रिलीजन" और "दि एवोल्यूशन आफ थियॉलाजी इन दि ग्रीक फिलासफी।"

तृतीय अध्याय

संस्कृति का स्थान

सम्पूर्ण पुस्तक मे हमारा यह दिखाने का लक्ष्य रहा है कि समाज कोई अप्राकृतिक रचना नही है, अपितु वह मानव की वास्तविक प्रकृति पर आधारित है। उसका लक्ष्य इस प्रकृति को पूर्णता पर पहुँचाना है। अत. हमे फिर व्यक्ति पर ही लौट कर आना पडता है। समाज मनुष्य के लिए बना है, मनुष्य समाज के लिए नही बना। कभी-कभी कुछ अत्युत्साही लोग किसी विशेष सामाजिक ढाँचे के लिए, विशेषतः चर्च अथवा राज्य जैसे विशाल संगठनों के लिए समाज को भुला देते हैं। परन्तु प्लेटो तथा अरस्तू ने उनको नही भुलाया और न उसकी उपेक्षा की, यद्यपि कभी-कभी ऐसा समझा जाता है। प्लेटो ने अपने आदर्श समाज के विवरण को पूरा कर लेने पर यह सोचा, कि उसे "राज्य नही कहा जा सकता, जिसका अस्वित्व धरती पर नही, अपितु वह तो एक स्वर्ग की वस्तु होगी।" दूसरे शब्दो मे आदर्श से ही श्रेष्ठ व्यक्तियो को प्रेरणा मिली है। धीरे-धीरे वे उनके बिना भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं, जैसे उन्होंने पहले-पहल इसके असली तत्त्व को अपने अन्दर से पहचाना। इसी के अनुसार 'रिपब्लिक' के अन्तिम भाग में आदर्श-राज्य को स्थान नही दिया गया, अपितु आत्मा के उत्तरोत्तर विकास को कुछ आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[1] ठीक इसी प्रकार से अरस्तू ने नागरिक गुणों के चित्रण को प्रस्तुत करने के उपरान्त यह प्रतिपादित किया कि मानव-जीवन की उच्चतम उपलब्धि, जिसे वह "सैद्धान्तिक-जीवन" कहता है,[2] उसी मे प्राप्त होती है। और फिर उसके आधार के रूप मे, जीवन के व्यवहार मे आने वाली सामाजिक क्रिया आवश्यक होती है। यह विचार इस विवाद के विरुद्ध भी नही पड़ता कि मनुष्यो द्वारा प्राप्त किया जाने वाला हित एक सामान्य हित होता है, क्योंकि

१. संस्कृति का अर्थ

---

१. इस विषयक कुछ टिप्पणियां आगे परिशिष्ट में मिलेंगी।
२. "एथिक्स" खण्ड १०.

वह विशुद्ध रूप से निजी व्यक्तित्व का निर्माण करता है, जिससे हम स्वार्थों की परिधि से बच जाते हैं और एक ऐसे आनन्द को प्राप्त करते हैं जिसमे सभी लोग भाग लेते हैं। इस प्रकार की उपलब्धि को 'सस्कृति' शब्द से व्यक्त किया जाता है, जिससे सामान्यतया शिक्षा को उसके उन व्यापक अर्थों मे, जिनमे वह जीवन के लिए तैयारी की अपेक्षा जीवन का उद्देश्य होती है, प्रदर्शित किया जाता है।

शिक्षा के सीमित और व्यापक अर्थों के अन्तर को हम पहले देख चुके हैं। सीमित अर्थ मे मुख्यत इसको सामुदायिक-जीवन मे सूत्रपात करने की एक प्रक्रिया के रूप मे समझा जा सकता है। व्यापक अर्थ मे, यह मानव की आध्यात्मिक प्रकृति का विकास है, जिसका एक साधन सामुदायिक जीवन भी है। पहला अर्थ दूसरे अर्थ की एक पूर्वावस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी एक विशेष स्थिति और विशेष कर्त्तव्य के साथ विश्व नागरिक बनने से पहले किसी विशेष समाज का नागरिक बनना पड़ता है, परन्तु जब किसी की शिक्षा पहली प्रक्रिया तक ही पूरी की जाती है तब उसके लिए यह एक बहुत भयकर खतरे की बात होती है। आधुनिक काल मे गेटे इसके एक उत्तम उदाहरण हैं। उसने अपनी शिक्षा कभी पूरी नही की, वरन् वह सदैव एक बहुत व्यापक सस्कृति के अनुशीलन मे अपने जीवन के उच्चतम शिखरो को यथासम्भव, उच्च बनाने मे लगे रहे। यदि ऐसे प्रयास सामाजिक उद्देश्य की अवधारणा से रहित होते हैं तो वे विशुद्ध स्वार्थ के कुछ ही ऊपर हो सकते है। गेटे पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उसमे मुख्य रूप से अपने देश के राजनैतिक विकास मे स्पष्टत रुचि लेने का नितान्त अभाव था, और इसके साथ ही व्यक्तियो को विशेष प्रकारो और प्रभावो मे प्रस्तुत करने की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप मे प्रस्तुत करने की एक प्रवृत्ति थी। परन्तु यदि यह दोषारोपण सही है तो यह उसकी आत्म-सस्कृति को सीमित करने की ओर सकेत है। शेक्सपीयर अथवा प्लेटो की समृद्ध मानवता अपने पूर्ण अर्थ मे सस्कृति का एक सुन्दर उदाहरण हो सकती है। ऐसी सम्पूर्णता निस्सन्देह हममे से अधिक लोगो के लिए असम्भव होती है। विश्व-साम्राज्य कुछ ही चुने हुए लोगों के लिए सुरक्षित होता है, परन्तु सूरज के साये तले सभी लोगो को स्थान मिलता है। लोगो की यह प्रवृत्ति रही है कि वे सस्कृति को विशेषाधिकार के रूप मे प्रयुक्त करते हैं। इसे कई बार एक "सुन्दर-पुष्प" के रूप मे व्यक्त किया है।[1] और शायद "विद्वान् और भद्र

---

१. इस तुलना का सर्वोत्तम प्रयोग टेनिसन के लशिङ्गटन के इस वर्णन में मिलता है, "एक पुष्प की तरह ज्ञान के भार को सहज रूप में वहन करते हुए।" (Bearing all that weight, of learning lightly, like a flower)

पुरुष" के रूप में वर्णित किए जाने वाले किसी व्यक्ति के विशेषाधिकार के रूप मे समझा जाता है। इसके विरुद्ध श्री टी० एच० ग्रीन ने मूसा की अभिलाषा कि "भगवान् के सभी लोग सिद्ध पुरुष होने चाहिएं," का उल्लेख करते हुए यह आशा व्यक्त की है कि एक समय आएगा जब प्रत्येक अंग्रेज़ अपने-आपको सही अर्थों मे एक 'भद्रपुरुष' के रूप मे पहचानेगा और अन्य व्यक्ति भी उसे ऐसा ही समझेंगे। पर शायद यह शब्द अपने अप्रतिष्ठित अर्थ मे इतना प्रचलित हो गया है कि इस अर्थ मे विशेष अवकाश-प्राप्त वर्ग ही आता है। जर्मनी के 'कल्टर' शब्द के प्रयोग मे यह गलती नही की गई, परन्तु उसमे इसके विपरीत अर्थ का दोष है। वह किसी विशेष सभ्यता के सामान्य आधार के रूप मे प्रयुक्त किया गया है और इसमे व्यक्ति-विशेष के निर्माण पर कोई विशेष बल नही दिया गया।[1] यदि हमारा 'सस्कृति' का प्रयोग बागवानी मे समाहित होता है, तो जर्मनी के प्रयोग मे कृषि का भाव छिपा हुआ है, ऐसा दोषारोपण किया जा सकता है। मानव के व्यक्तित्व-निर्माण की तुलना उचित रूप से 'पुष्प' अथवा ज़मीन के सुधार के साथ नही की जा सकती। इससे तो अधिक सुन्दर तुलना एक फल की वृद्धि के साथ की जा सकती है, जो फल एक पेड़ मे लगा होता है, परन्तु अपने एक स्वतन्त्र जीवन का विकास भी करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने (स्विफ्ट का अनुसरण करते हुए) सस्कृति के तत्व को एक प्रकार के 'माधुर्य और प्रकाश' से बना बताया है। उनके वाक्य मे कुछ भद्दा अर्थ तो अवश्य आ गया है, परन्तु वह कम-से-कम उसके दोनों सामाजिक तथा वैयक्तिक पहलुओ पर प्रकाश डालता है। यदि हम इसके विशेष विषय और सम्बन्धों पर विचार करें तो हम उसकी प्रवृत्ति को आसानी से समझ सकते हैं।

सस्कृति का पाण्डित्य-प्रदर्शन से अन्तर दिखानें से उसके महत्त्व पर अधिक प्रकाश पडेगा। पण्डित वह कहलाता है, जिसने कुछ विशेष वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु जो उसका मूल्य नही आंक सकता तथा जो महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन मे भेद नही कर सकता। यह शका की बात है कि ब्राउनिंग का वैयाकरण स्वरूप कुछ पण्डित का-सा था, यद्यपि उसे इस दोषारोपण से मुक्त किया जा सकता है, क्योकि उसने अपने मुख्य विषय के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण को ध्यान मे रखते हुए छोटी-छोटी बातों का वर्णन भी किया है, पर यह निर्णय करना कि "जीना नही, जानना" खतरे से भरा हुआ है। विशेष

२. संस्कृति और पाण्डित्य प्रदर्शन

---

[1]. 'सस्कृति' के लिए प्रयुक्त होने वाला जर्मन 'बिल्डङ्ग' शब्द, इसके ठीक अनुरूप बैठता है।

योग्यता पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर प्रेरित करती है[1]। यह बात विद्वानों तक ही सीमित नही है, अन्य व्यक्तियो मे दिखावे की बातें होती हैं, वे भी पण्डिताऊ कहलाती है। पाण्डित्य-प्रदर्शन सम्बन्धी तत्वो से जिस ध्येय का सम्बन्ध है उसे यदि दुकान के रूप मे चित्रित किया जाए तो कोई बुरी बात नही होगी। किसी व्यक्ति की दुकान केवल दिखावे की हो सकती है, अथवा वह एक सामान्य सूचना-भर के लिए हो या जानकारी के किसी एक विशेष विभाग से सम्बन्धित हो सकती है, वह एक 'दुकान' ही होती है। यदि उसके उचित अनुपातो और सम्बन्धों पर ध्यान नही दिया जाता तो उसे ठीक तरह से हृदयगम नही किया जा सकता। सुसस्कृत सधा हुआ व्यक्ति वह होता है, जिसे कुछ उपयोगी ज्ञान होता है और जिसका वह सही मूल्याकन करना भी जानता है तथा जिसे उचित स्थान पर सँजोकर रखता है। किसी एक सगीतज्ञ को पण्डित कहा जा सकता है, यदि वह अपनी विशेष कला के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर विचार नही करता। मिल्टन ने कम-से-कम ठीक पहचाना है कि—

> **''वह व्यक्ति जो इन आनन्दों का ठीक निर्णय कर सकता है**
> **फिर उनके बारे में प्राय आन्तरिक विश्लेषण भी करता है, अज्ञानी नहीं।''[2]**

पर सस्कृति का परिष्कार भी जब अपनी स्वच्छन्दता को छोड़ देता है और एक दिखावा-मात्र रह जाता है, तब वह तत्त्वत पण्डिताऊ कहला सकता है। एक 'सौन्दर्य-शास्त्री' भी ठीक उसी तरह से पण्डित कहला सकता है, जिस तरह से एक भाषा-शास्त्री। कभी कभी तो धर्म को किसी मत के कठोर कटघरे मे बन्द कर दिया जाता है, तो वह भी ऐसा ही वन जाता है। सही सुसस्कृत व्यक्ति एक विशेषज्ञ की अपेक्षा अव्यवसायी अथवा शौकिया काम करने वाला होता है। इतिहास की विशिष्ट वस्तुओ का निर्माण महान प्रेमियो, सन्तो तथा वैज्ञानिक और कलाकारो ने किया है। किसी व्यक्ति के प्रेम का कारण उदार शिक्षा हो सकती है, परन्तु उदार शिक्षा भी तब तक कुछ नही देती जब तक कोई व्यक्ति उससे उसी तरह प्रेम नही करता, जैसे वर्डस्वर्थ ने प्रकृति से प्रेम किया था। पर शायद इस विषय को और आगे बढाना भी एक पाण्डित्य-प्रदर्शन की ही बात होगी।[3]

---

१ इस विषय में कैम्ब्रिज की कभी-कभी विरोधात्मक रूप से ऑक्सफोर्ड के साथ तुलना की जाती है। उसके साथ न्याय कहाँ तक किया गया है, उसका निर्णय देने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ, (मैं कुछ लोगों के साथ ऐसा सोचता हूँ)। परन्तु कम-से-कम हमें इसकी क्षतिपूर्ति तो करनी ही चाहिए। ज्ञान अपने सभी बच्चों के साथ न्याय चाहता है। और संस्कृति के प्रत्येक रूप की संभावना पाण्डित्य में गिरने की रहती है।

२ He who of these delights can judge, yet spare
To interpose them oft, is not unwise.

३ मोण्टेन का पाण्डित्य-प्रदर्शन सम्बन्धी निबन्ध "एस्से ऑन पेडेंयटरी" १, २४

विज्ञान को कभी-कभी सस्कृति के विरुद्ध भी समझा जाता है, और यह तो स्वीकार करने की बात है कि इसके अनुशीलन के लिए अपनाये गए तरीको को मुश्किल से ही सांस्कृतिक कहा जा सकता है। यही

३. विज्ञान का स्थान

बात साहित्य के अध्ययन के बारे मे है पर वैज्ञानिक अध्ययन को इसके श्रेष्ठ ध्येय से पृथक् करना सरल नहीं। यही बात मुख्य रूप से इसकी विषय-वस्तु के बारे मे भी कही जा सकती है, जब कि वे केवल तथ्यो के सग्रह तथा तकनीकी ज्ञान के समायोजन के रूप मे व्यवहृत होते हैं। परन्तु विज्ञान के सास्कृतिक महत्त्व को न समझे जाने का मुख्य कारण इस शब्द का संकुचित अर्थ मे प्रयुक्त होना ही है। किसी एक दिशा मे सही और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने को ही वैज्ञानिक अध्ययन कहा जाता है। गणित सम्बन्धी विज्ञान इस विषय में अत्यधिक सही व परंपरागत-से है। परन्तु यह शब्द मुख्यत प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानो के लिए प्रयुक्त होता है। विज्ञान के अर्थ मे जर्मन शब्द "विसेन्स क्राफ्ट" का प्रयोग कुछ अधिक व्यापक अर्थ मे हुआ है। मानव प्रकृति, मानव-समाज, मानव-सस्थाएँ, मानव-इतिहास और मानवीय भाषाएँ ठीक उसी तरह से वैज्ञानिक अध्ययन के विषय है जिस तरह से निर्जीव प्रकृति की शक्तियाँ अथवा निम्नतर प्राणियो के जीवन। यदि यह सत्य मान लिया जाए (यद्यपि मैं सोचता हूँ कि वह पूर्णतः सही नही है) कि मानव-जाति का उत्तम अध्ययन मानव ही है, तो फिर यह कहना भी उचित ही होगा कि उस अध्ययन का अनुशीलन वैज्ञानिक विधि से होना चाहिए। मानव-विज्ञान को सामान्यतया इतना सही नही कहा जा सकता, जितने सही निम्नतर प्राणियो के विज्ञान अथवा गणित या अध्यात्म विज्ञान होते हैं। परन्तु प्राकृतिक विज्ञानों मे भी सही होने का एक क्रम होता है और जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि सस्कृति मे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उसमे किसी विषय-विशेष के अनुसार जितने याथातथ्य की आवश्यकता होती है, उससे अधिक (याथातथ्य) की आशा नही की जा सकती। मौलिक वैज्ञानिक अध्ययनो के साथ निर्णय सम्बन्धी ऊहापोह और काल्पनिक अनुमान लगातार चलते है। हमारे ज्ञान और अनुमान के बीच के अन्तर को जानना जीवन का एक बहुत मूल्यवान पाठ है और विज्ञान के मुख्य विषयो (इतिहास सहित) के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट और

उल्लेखनीय है। परन्तु उन्होंने ज्ञान के सही और गलत प्रयोग के मध्य अन्तर नही दिखाया। इसके साथ ही वे यह ध्यान देने में भी सफल नहीं हुए कि अध्ययन के साथ-साथ अन्य वस्तुओं का भी उसी तरह से मूर्खता से अनुशीलन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह सही हो सकता है, कि जर्मन लोगों की संस्कृति का विनाश पाण्डित्य के रूप में होने के कारण हुआ, पर इसके साथ ही उन लोगों में धन अथवा फैशन या सैन्य-सेवा के अनुचित प्रयोग तथा परम-मूल्यों के प्रति समान रूप से अनादर भी उसके नाश के मूल कारण थे।

हृदयगम हो जाती है। परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्ण सास्कृतिक परिणामो को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न विज्ञानो के अन्तर को समझा जाए। सम्भवतः यह सत्य है कि प्रारम्भिक शिक्षा में किसी विशेष विज्ञान का विशेष अध्ययन अच्छा नही होता, परन्तु उनके स्थान पर अपने चारो ओर बिखरे हुए पदार्थों का सामान्य अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। शायद यह भी उससे कम सत्य नही है कि कुछ विशेष विज्ञानो के अध्ययन के बाद उनके सामान्य सम्बन्धो पर पुनर्विचार किया जाए और उनकी आधारभूत अवधारणाओ को पृथक् करके देखने की चेष्टा की जाए। ऐसा करने से स्वभावत तर्क और अध्यात्म विज्ञान के अध्ययन की प्रवृत्ति होती है। यह मानना कठिन है कि अध्ययन का यह क्रम स्कूल कालेजो के पाठ्य-क्रम से सन्तोष-जनक रूप से पूरा हो सकता है।[१] मौलिक अनुसधान को छोडकर भी वैज्ञानिक अध्ययन जीवन-भर का कार्य हो सकता है और मानव-प्रकृति तथा इस विश्व, जिसमे हम रहते हैं, के निर्माण के स्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति ही सही अर्थो मे मानव-जीवन का परम लक्ष्य कहा जा सकता है। यह विशुद्ध बौद्धिक लक्ष्य है, यद्यपि कुछ आधुनिक लेखकों ने उचित ही यह प्रतिपादित किया है कि बौद्धिक लक्ष्य ही जीवन का केवल मात्र लक्ष्य नही, परन्तु वह तो जीवन के लक्ष्यो मे से एक है। बुद्धिजीवी होने के नाते, हम इसके अतिरिक्त कुछ भी नही चाहते कि हम सतत और अधिक प्रकाश अथवा ज्ञान की खोज करते रहें। आधुनिक प्रवृत्ति (व्यापक रूप से उपयोगितावादियो के कारण) यह है कि बौद्धिकता को बुरा-भला कहा जाए और 'विवेकवाद' और 'स्वतन्त्र विचार' आदि शब्दो का प्रयोग किया जाए, परन्तु यह प्रवृत्ति शोचनीय है। ज्ञान के समान कुछ अन्य वस्तुएँ भी हैं जिनका अपना महत्त्व होता है। परन्तु जब हम ज्ञान से सम्बन्धित होते है तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम पूरी तनदेही से मैदान मे उतरे और आगे बढते जाएँ—प्लेटो के शब्दो मे, जहाँ तक तर्क हमे ले जाए। विश्वास करने की अपेक्षा किसी बात की खोज करना अच्छा है।

विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक वैयक्तिक और अधिक सृजनात्मक होती है। जब विज्ञान मुख्य रूप से विश्लेषणात्मक है, तो कला मुख्यत. समन्वयात्मक।

४ कला का स्थान

कला मे किसी एक वस्तु, जिसका मूल्य होता है, का वैयक्तिक साक्षात्कार होता है, इसके साथ ही कला अपने-आप-मे दूसरो को प्रभावित करने वाली तथा "शाश्वत-आनन्द" देने वाली सृजनात्मक व्याख्या है। सगीत मे जैसा कि ब्राउनिंग ने कहा है कि "दो ध्वनियाँ एक तीसरी ध्वनि मे न होकर एक सितारे मे" परि-वर्तित होती हैं। कला के कुछ सरल रूपो मे तथा कुछ महान् व पूर्णरूप मे भी,

१. प्रो. बर्न्रे . 'हायर एजुकेशन एण्ड वार"

कलात्मक व्याख्या इतनी स्पष्ट और अपरिहार्य होती है कि वह लगभग सभी की समझ मे आ जाती है । दूसरे शब्दो मे उसके परिणामोके उचित मूल्याकन के लिए विशेष व्याख्या आवश्यक होती है । परन्तु सभी स्थानों पर किसी के मस्तिष्क की एक सृजनात्मक व्याख्या ही दूसरो के हृदयों मे प्रभाव उत्पन्न करती है ।

जैसे विज्ञान का लक्ष्य 'सत्य' होता है, उसी तरह से कला का लक्ष्य 'सौन्दर्य' ।[1] कला जिन पदार्थों को अपने उपयोग मे लाती है वे अपने स्वरूप मे भद्दे हो सकते है । और जिसे यथार्थवादी कला कहा जाता है, उसमें वे प्राय. ठीक उसी रूप मे होते है, परन्तु एक कलात्मक रचना द्वारा उन्हे सौन्दर्यपूर्ण बना दिया जाता है । और यहाँ तक कहा जा सकता है कि केवल इसी प्रक्रिया से सौन्दर्य का कोई श्रेष्ठ रूप सदैव प्रशसा का पात्र होता है । कुछ रंगो और ध्वनियों के सौन्दर्य तथा दृश्य-रूप निस्सन्देह इतने आकर्षक होते हैं कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती । अत' सगीत व चित्रकला के सरल रूप असस्कृत व्यक्ति को भी तुरन्त प्रभावित कर सकते हैं । सौन्दर्य के अन्य प्रकार कठिन होते है और उनको समझने के लिए जीवन की अनुभूति तथा कलात्मक रसा-स्वादन की प्रवृत्ति अत्यावश्यक होती है । प्रकृति मे जिस तरह के सौन्दर्य को आज पहचानना हम सीख गए हैं वैसा आदिवासी लोग नही कर सकते थे । और कुछ अशो मे उन विकसित मस्तिष्क वाले लोगों के लिए भी समझना कठिन होता है, जिन्होने किसी विशेष दिशा मे सोचना नही सीखा । कला को एक कलाकार की आँख से देखना पड़ता है, चाहे यह एक प्राकृतिक वरदान हो अथवा वह कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रभाव हो । यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि सौन्दर्यानुशीलन मानव जीवन के मुख्य कार्यों मे से एक है, तो सस्कृति का यह रूप कुछ अशो मे अनिवार्य ही समझा जाना चाहिए । इसमे एक भाव छिपा है, जिसमे ग्रीक लोगो का यह कहना सत्य है कि सौन्दर्य सभी लक्ष्यों का परम लक्ष्य है । हम कीट्स की यह बात मानते है कि सत्य ही सौन्दर्य है, परन्तु सत्य यदि सौन्दर्यान्वित नही तो वह पूर्ण तुष्टि प्रदान नही कर सकता । बुद्धिमान् बनना अज्ञान को वरदान समझा जाने पर भी मूर्खता नही कहलाएगा । यदि ऐसा हो, तो भी बुद्धिमत्ता को केवल अन्तिम हित की बात नही कहा जा सकता, यदि उसके द्वारा हम केवल यह कहने मे ही समर्थ हों कि सब कुछ नि:सार तथा आत्मा को क्लेश देना है । हम सत्य का अनुशीलन इस आशा से करते है कि विश्व मे व्यवस्था हो तथा सौन्दर्य को अभिलषित अनुसन्धान का परम लक्ष्य स्वीकार करे ।

१. टैगौर तथा कुछ अन्य महानुभाव इससे असहमत प्रतीत होते हैं, परन्तु मैं सोचता हूँ कि जब सौन्दर्य को कुछ सीमित भाव में लिया जाता है, तब उससे अस्वीकार किया जा सकता है । इसी विषय पर, श्री आर० एन० कैरिट महोदय की पुस्तक "थ्यूरीज़ आफ ब्यूटीफुल" देखें ।

काव्यात्मक साहित्य को कला की श्रेणी मे कहा जा सकता है, और गद्यात्मक-साहित्य भी जब वास्तव मे साहित्य की परिधि में आ जाता है, तो उसे भी कलात्मक विशेषताओं से युक्त समझा जा सकता है।

५. साहित्य का स्थान कालरिज ने यह प्रतिपादित किया है कि कविता का विपरीत स्वरूप गद्य नही वरन् विज्ञान है। गेटे मूलत: इसी विरोधी भावना को प्रकट करता है। परन्तु बहुत से साहित्य में कला और विज्ञान दोनो की विशेषताएँ समन्वित होती हैं। वह हमें यह बताता है कि सौन्दर्य क्या है, परन्तु वह उसे शुद्ध कला की तरह अभिव्यक्त नही करता, अपितु कुछ अंशों मे उसकी व्याख्या और विश्लेषण भी करता है। अधिकतर साहित्य के बारे मे यह भी सत्य है कि वह एक काव्यात्मक-रूप मे होता है, परतु जैसे पोप की अधिकांश रचनाएँ, फ्रास की बहुत-सी कविता तथा कुछ भिन्न रूप मे ब्राउनिंग की विचारात्मक तथा तार्किक रचनाएँ काव्य के रूप मे आती हैं। ऐसी कविता को शुद्ध कला नहीं कहा जा सकता। साहित्य का सीधा सम्बन्ध अच्छाई के साथ है। उसका विशुद्ध विज्ञान और कला से यह अन्तर है कि विज्ञान सत्य से और कला सुन्दर से सम्बन्धित होती है। अत: सारांश मे वह सस्कृति के सभी साधनों के साथ पूर्णत मानवीय है अत इसका वर्णन मानवता के रूप मे किया जाना उचित है। यह उस मूल्य की व्याख्या करता है जिसे कला अभिव्यक्त करती है और उस सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिसे विज्ञान खोजता है।

व्यापक अर्थों मे एक भाषा वालो का साहित्य ही लोगो मे एक जैसी मानसिक स्थिति पैदा करने मे सहायक होता है। कभी-कभी निस्सन्देह एक जैसी मानसिक दशा होना लोगों के लिए तुच्छतापूर्ण बात होती है। देश के विशाल भाग में वितरित होने वाले प्रात कालीन दैनिक अथवा सायकालीन साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओ के समाचार और लेख अनेको महत्त्वपूर्ण तथ्यो के बारे में जनता के एक विशाल समुदाय को अत्यन्त छिछले व भद्दे विचार प्रदान करते हैं, और इसी कारण उस समय की लोकप्रिय पुस्तकों की अधिक पूछ नहीं होती। अत रस्किन जैसे लेखक को भी बढते हुए सस्ते साहित्य की सखेद निन्दा करनी पडी। परन्तु कम-से-कम ऐसा साहित्य भी, सामान्यत. एक गाँव की गप्पो से तो कुछ थोडा-बहुत अच्छा ही होता है, तथा कुछ अशो मे लोगो को यह ज्ञान कराने मे समर्थ होता है कि वे एक विशाल समुदाय के नागरिक हैं। इस प्रकार का ज्ञान लोगो मे अपने सामुदायिक-जीवन के बारे मे एक पूर्ण जानकारी पाने के लिए तथा आलोचनात्मक रूप से उसके मूल्यो को आँकने के लिए एक अनिवार्य इच्छा उत्पन्न करता है। इस तरह से वह लोगो को विज्ञान तथा कला के अध्ययन के लिए तैयार करता है, जिसके लिए वे कठिनाई से ही तैयार हो पाते हैं। टालस्टॉय का उच्च कला के प्रति असतोष शायद इसी

कारण था कि रूस मे इस प्रकार की पृष्ठ-भूमि तैयार करने वाले साहित्य की तुलनात्मक रूप से कमी थी और इसके साथ ही, दूसरा कारण इस प्रकार की शिक्षा का अभाव भी था, जो लोगों को ऐसी कला के उचित मूल्याकन के योग्य बना सके। टालस्टॉय सभी कलाओं को बच्चों के हृदयों में माता के दूध के समान प्रवेश कर देना चाहते थे, पर कुछ ही कलाएं ऐसी हो सकती हैं। ब्रिटेन मे भी शिक्षा मे विद्यमान अनेक कमियों के कारण साहित्य वह काम नही कर सका जो वह कर सकता है।[1]

६. दर्शन का स्थान

दार्शनिक साहित्य भी इस प्रकार का साहित्य है जो पूर्व-वर्णित लक्ष्य को अत्यधिक पूर्णता से सम्पन्न करता है। यह विज्ञान को सर्वोच्च महत्त्व देता है तथा काव्य और धर्म से उसे विभूषित करता है। आम-तौर पर दर्शन में इन सब के अंश विशुद्ध वैज्ञानिक रूप में रहते हैं। तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान विशेषत: इसी तरह के होते हैं तथा अध्यात्म-विज्ञान और नीति-शास्त्र के चिन्तन के अनेकों अंश भी इसी तरह के होते हैं। पर दर्शन के अधिक परिकल्पित पहलुओं का लक्ष्य विश्व को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखना है। यही दृष्टिकोण काव्य की व्यापक अभिव्यक्ति तथा धर्म की गहन शिक्षाओं को एक घनिष्ठ बन्धन में बाँधता है। अरस्तू के कथनानुसार इतिहास की अपेक्षा कविता अधिक दार्शनिक है। इससे स्पष्टत. उसके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है जिसका लेखा-जोखा इतिहास है, और इस प्रकार काव्य उसे दार्शनिक विश्लेषण के लिए तैयार करता है। ठीक इसी तरह विशेष प्राकृतिक विज्ञानो अथवा कम-से-कम जो प्राकृतिक-इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है। ठीक इसी तरह से धार्मिक समारोहो, सवेगो तथा धार्मिक प्रेरणाओं का लक्ष्य विश्व और मानव-जीवन के गहनतम रहस्यो को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है और उसके बाद दर्शन-शास्त्र उसे एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करता है।

७. वैयक्तिक अनुभूति का स्थान

सस्कृति के अधिकांश मूल्यवान् साधन, जिनका हम उल्लेख कर चुके है, वैयक्तिक अनुभूति के तुरन्त प्रयोग मे ही निहित रहते है। हम अपने चारो ओर अपने भीतर, प्राकृतिक पदार्थो मे अपने साथियों के जीवन में तथा अपने मन एव आत्मा की क्रियाओं मे संस्कृति तथा आत्म-विकास का अजस्र स्रोत उपलब्ध करते है, परन्तु विश्व के अधिकाश तथ्य हमारे लिए

---

१. श्री विक्टर ह्यूगो ने अपनी पुस्तक "नोत्रदम" ख० ५, अ० २ के एक रोचक उद्धरण में यह कहा है कि चर्च और स्थापत्य-कला के कुछ रूपों ने जिस उद्देश्य की पूर्ति की है, आजकल उसकी पूर्ति साहित्य कर रहा है। साहित्य के सामान्य सामाजिक महत्त्व पर श्री डी० जी० रीटन की पुस्तक "बेसिस आफ सोशल रिलेशन्स' पृ० सं० १६४-७ देखें।

तब तक अन्धकारपूर्ण रहेगे, जब तक विज्ञान, कला, आलोचना तथा दर्शन उनकी व्याख्या नही करते। वे भी तब तक अन्धकारमय तथा निर्जीव ही रहेगे, जब तक उन्हे वैयक्तिक प्रज्ञा द्वारा हृदयगम नही कर लिया जाता, और फिर उन्हे अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का एक रूप नही दे दिया जाता। सस्कृति के बिना जीवन असस्कृत है और जीवन के बिना सस्कृति एक पाण्डित्य-मात्र है। शिक्षा का अधिकतम भाग यदि इस अनिवार्य सस्कार से हीन रहता है, तो वह व्यर्थ होता है और यह बात केवल स्कूल व कॉलेजो मे दी जाने वाली शिक्षा के लिए ही नही लागू होती, वरन् आजीवन प्राप्त होते रहने वाली हमारी अपनी शिक्षा पर भी लागू होती है।

सस्कृति प्राथमिक रूप से एक वैयक्तिक निधि है, और वह कुछ लोगो की ही निधि हो सकती है। पर यह स्पष्ट है कि जिस शुभ की ओर इसका लक्ष्य है, वह मूलत व्यष्टिपरक नही है। यह उन कुछ एक अनमोल आभूषणो की तरह नही है, जिनके लिए लोगो मे प्रतियोगिता होती है तथा अन्त मे जिन्हे कुछ एक विशेष भाग्यशाली लोग ही धारण करने के लिए विजयी हो सकते हैं, पर उनकी अपेक्षा यह अत्यधिक मानवीय है और प्रमुख रूप से सभी लोग उसमे भाग ले सकते है। यह सघर्ष की ओर प्रेरित नही करती, जिन अर्थों मे नैतिकता को लिया जाता है, उन अर्थों मे भी इससे सघर्ष नही होता। जिन अर्थों मे धर्म से सघर्ष होते हैं, उनमे सस्कृति सघर्ष का कारण नही होती। यह स्वभावत लोगो को एक दूसरे की भर्त्सना के लिए भी प्रेरित नही करती। कोई भी मनुष्य अथवा कोई भी राष्ट्र अपने सग्रहालयो और प्रयोगशालाओ मे रखने के लिए पुस्तको व वाद्य-यत्रो के लिए सघर्ष नही करते, जैसे कि वे अपने भोजन व वस्त्र, कोयले व लोहे के लिए सघर्ष करते हैं, जब कि कुल लोगो के लिए दूसरे प्रकार की वस्तुओ की अपेक्षा पहले प्रकार की वस्तुएँ भी सरलता से प्राप्त नही होती। निस्सन्देह कुछ विज्ञानो, कलाओ के अधिकाश रूपो और दर्शन मे तो अत्यधिक स्पष्ट रूप से कुछ विरोधी विचारधाराएँ है, परन्तु अनेक सघर्ष सामान्यत रक्तहीन और कटुतारहित होते है। इसके अतिरिक्त, ऐसा तब भी नही होता जब सस्कृति के विभिन्न विभागो के विचारो, भावनाओ और अभिव्यक्तियो मे सम्पर्क स्थापित किया जाता है, प्राय जैसा नैतिकता और धर्म की विभिन्नता के कारण होता है। सस्कृति का साम्प्रदायिक रूप मूलत इसके प्रारम्भिक स्तरो मे ही प्राप्त होता है। सरल कलाकार, आदिम वीर-काव्य, प्राचीन-गीत और नृत्य मूलत एक सामाजिक तत्त्व से युक्त होते हैं। प्राकृतिक पदार्थों का प्रथम प्रारम्भिक अध्ययन और व्यक्तियो तथा जनता के कार्यों का इतिहास सामान्यत पृथक्-पृथक् व्यक्तियो की अपेक्षा समूहो

८. सस्कृति का सामाजिक महत्त्व

द्वारा निर्मित हुआ है और अध्ययन के रूप में उनका मूल्याकन भी उनके समूह को ही गौरव प्रदान करता है। इसके उपरान्त संस्कृति का रूप विशुद्ध वैयक्तिक बनता गया अथवा कम-से-कम कुछ चुने हुए लोगो की परिधि मे सीमित होता गया। विज्ञान के जटिल रूपो का बोध और मूल्यांकन लम्बे समय तक अध्ययन के बाद आता है। यही बात कला, साहित्य और दर्शन के अत्यधिक जटिल रूपो के बारे मे भी लागू होती है—और विशेषतः जब उसे सुदूर युगो अथवा विदेशो से लाया जाता है। हेगेल महोदय ने यह कहा बताते है कि केवल एक आदमी ने उनके दर्शन को समझा, परन्तु उसे भी कुछ समझ मे नही आया। इस जटिलता से सरलता की ओर जाने के भी कुछ मोड़ आए। शेक्सपीयर और मिल्टन के कुछ विस्तृत सामजस्ययुक्त जटिल काव्यो के बाद बर्न्स और वर्ड्सवर्थ के सरलतम काव्यो के आनन्द का युग भी आता है। विज्ञान की मूल अवधारणाओ को समझने के बाद उसके परिणामों को भी अधिक सरल और सर्व-जन सुलभ बनाया गया। साहित्य और दर्शन भी कुछ कठिन तथा अस्पष्ट भाषा से जनता की सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा की ओर लौटे। टालस्टाय ने लोकतन्त्र को भी आक्रान्त करने वाली अपनी क्रान्ति मे होमर और शेक्सपीयर से बहुत आगे निकल जाने पर यह प्रतिपादित किया कि मौलिक कला लोकप्रिय होनी चाहिए[1]। यह कुछ उसी विचार के समान है जिसके अनुसार स्वर्ग का साम्राज्य केवल बच्चो के प्रवेश के लिए है, और उन बच्चो के लिए मानव के सुन्दरतम प्रयासो को बहुत कुछ अशो मे सुलभ बनाया जा सकता है। परन्तु इसके लिए पहले कई वर्षो तक अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता है। यहाँ तक कि वे भौतिक पदार्थ भी आज लगभग सर्वसाधारण के जीवन के लिए सुलभ है, जिनके लिए पुराने समय मे राजा लोग भी व्यर्थ तडपा करते थे, और यही बात कुछ अशों मे आध्यात्मिक पदार्थो के लिए भी सत्य है। पर अब इस बात के लिए आग्रह करना उचित होगा कि भविष्य की आशाएँ सस्कृति को अभि-जात्य एकाधिकार से उबारने मे ही है। पिरामिड, गिरजे, महाकाव्य, सैद्धान्तिक-शास्त्र तथा विज्ञान व कला, अन्य पुराने शाहीमहल आदि पुराने युगो की यशो-गाथाओ का बखान करते हैं। पर यह सन्देहास्पद है कि क्या वे भविष्य मे सस्कृति के नमूने होगे अथवा उन्हे होना चाहिए या नही? भविष्य मे, कुछ धर्म-मन्दिरो गिरजों की अपेक्षा, अथवा उनके साथ-साथ हम एक बड़ी सख्या मे सुन्दर तथा सुखद आवासो को देखने की आशा कर सकते हैं। देव सदृश नायकों वाले महाकाव्यो अथवा शाही सामन्तो के हर्ष और शोक की अपेक्षा, अथवा उनके साथ-साथ हम विनय के खजाने को लुटेरो के एक झुण्ड के बीच लुटते देखने की आशा भी करते है। पूर्ण मानव-जाति की सुन्दरतम उपलब्धियो के रूप

१. "वट इज आर्ट" और रवीन्द्रनाथ टैगोर की "पर्सनैलिटी" देखें।

मे हमारे पास जो यान्त्रिक साधन हैं, उनके द्वारा आज का हमारा कोई मजदूर अथवा किसी परिवार की कोई व्यस्त माता, कला और विज्ञान के लिए थोडा-सा समय निकालकर, सही अर्थों मे सुसस्कृत और सभ्य क्यो नही कहला सकते ?

अब, हम देख सकते हैं कि किस अर्थ मे शिक्षा को जीवन के लिए एक तैयारी की अपेक्षा एक लक्ष्य के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यदि हमारा यह विचार सही है कि मानव का हित अपनी प्रकृति के उच्चतर तत्त्वो की पूर्णता मे तथा उन्ही साधनो के सहारे अपने निम्नतर-तत्व के नियमन मे है, तो यह स्पष्ट है कि सस्कृति के विविध रूपो मे हम उसके क्रमिक साक्षात्कार को प्राप्त कर सकते हैं। सही अर्थों मे एक सुसस्कृत व्यक्ति मानव-प्रकृति द्वारा प्राप्त करने योग्य परमहित को प्राप्त कर लेता है। क्योकि हम यह प्रस्तुत कर चुके है, कि किसी विशेष प्रकार के ज्ञान अथवा सौन्दर्य के प्रतीक रखने वाले व्यक्ति को सही अर्थों मे सुसस्कृत व्यक्ति नही कहा जा सकता, एक सुसस्कृत व्यक्ति तो वह होता है जिसने ऐसे पदार्थों के प्रति किसी प्रवृत्ति का विकास किया है तथा जो मूलत. एक प्रेमी या अनुरागी होता है, और वह प्रकृति व मानव-प्रकृति के सुन्दरतम रूपो की सराहना और इस प्रकार की सराहना करता है जिसे वह फिर स्वय अपनाता है। यहाँ तक कि वह अपने पास कुछ भी नही रखता, फिर भी उसके पास प्रत्येक वस्तु होती है, यदि वह असफल भी रहता है तो भी उसे प्रशसनीय विजय प्राप्त होती है। जैसा कि ब्राउनिंग कहते हैं[1]—

९. मानव-जीवन के लक्ष्य के रूप मे सस्कृति

> प्रेम मे सफलता है अवश्यंभावी,
> एक प्राप्ति है, भ्रम नहीं, कुछ भी क्यों न कुर्बानी करनी पड़े ?
> और कुछ पुरस्कार क्यो न हो, सराहनीय पारितोषिक के रूप में,
> एक पारितोषिक ही है वह !

---

१. "In love success is sure
Attainment—no delusion, Whatsoe er
The prize be : apprehended as a prize,
A prize it is." —Browning

उपसंहार

सामान्य-परिणाम

हम अपने मानवता-सम्बन्धी सामाजिक-जीवन के सर्वेक्षण को पूरा कर चुके है। अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज का सामान्य ढाँचा, किसी स्थान-विशेष या काल को छोड सर्वत्र मानव की वास्तविक प्रकृति पर आधारित होता है। उसका प्राथमिक आधार मानव की वर्धी अथवा आर्थिक प्रकृति पर स्थित होता है और उसकी पाशविक आवेगो द्वारा पुष्टि होती रहती है। पर समाज को उसका अन्तिम रूप मानव की चिन्तन करने की नियामक शक्ति द्वारा ही प्राप्त होता है और वही उसके निर्माण का एक मूल-तत्त्व है। इस प्रकार से निर्मित समाज को स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील सगठन के रूप मे वर्णित नही किया जा सकता, अपितु वह तो अनिवार्यत विकासशील होता है। हमारी तर्कनापरक प्रकृति वर्धी आवश्यकताओं और पाशविक इच्छाओ पर बहुत धीरे-धीरे आधिपत्य प्राप्त कर पाती है, पर हमारी वह विवेक-शक्ति भी स्वयं इस प्रकार की शक्ति है जो निरन्तर लक्ष्यो की प्राप्ति मे प्रयत्नशील रहती है, पर उन लक्ष्यो को शीघ्र ही प्राप्त नही किया जा सकता। हमारे लक्ष्य का कोई स्पष्ट और प्रत्यक्ष चित्र नही आँका जा सकता। परन्तु वह एक ऐसा आदर्श होता है जो हमारे सामान्य-सिद्धान्तो मे स्थित और निश्चित रहता है, फिर भी उसके किसी विशेष पहलू मे परिवर्तन भी हो सकता है। मानव-जीवन के अन्य पहलुओ की तरह इस पहलू के सम्बन्ध मे भी वर्ड्सवर्थ द्वारा किया गया चित्रण अब भी सही है।[1]

१. सारांश

---

१. "Our destiny, our being's heart and home,
Is with infinitude, and only there;
With hope it is, hope that can never die,
Efforts, and expectations, and desire,
And something evermore about to be." —Wordsworth

> अपना भाग्य, अपना हृदय व घर,
> वह अनन्त है, केवल वही है वह,
> भरा है, वह उन आशाओ से, जो मर नहीं सकतीं कभी,
> प्रयास, आकांक्षाएँ और इच्छाएँ,
> और भी अधिक बढती है निरन्तर।

अत हम अपने किसी विशेष पग पर भावी मार्ग के लिए पथ प्रदर्शन की आशा नही कर सकते, वरन् जिस दिशा की ओर वह स्वत ही बढता है उसके सम्बन्ध मे कुछ सामान्य सुझाव ही प्राप्त होते है।

अभी जो कुछ कहा गया है उसे ध्यान मे रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि समाज-दर्शन से भी सामान्य-दर्शन-शास्त्र की तरह प्रत्यक्ष रूप से कोई भी व्यावहारिक परिणाम नही निकलते। समाज-दर्शन हमे "रोटियाँ पकाना नही बताता", उससे हमे यह भी नही पता चलता कि इस काम के लिए क्या किया जाए। परन्तु यह स्वीकार कर लेने का मतलब यह नही होता कि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य ही नही। वह हमे अवश्य ही उन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो को समझने मे सहायता देता है, जिन सिद्धान्तो द्वारा हमारा मार्ग निर्धारित होता है। इस पर वल देना आवश्यक है, क्योकि दर्शन-शास्त्र के कुछ विद्वान इस बात को मानने को तैयार नही। यह एक तथ्य है कि वैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य केवल, जो कुछ है, उसे जानना अथवा उसकी पुष्टि करना है, और कुछ लोग इसी विचार से मानव-जीवन के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। परन्तु यह विचार उस कथन के एकदम विपरीत है, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि मानव-जीवन वैज्ञानिक अध्ययन का विषय किसी भी रूप मे नही बन सकता, क्योकि वह परिवर्तनशील है। वह परिवर्तनशील है, परन्तु परिवर्तनशील इसलिए होता है कि उसका अपना एक आदर्श है, और उसका ध्यान निरन्तर उस आदर्श की ओर रहता है। हम कह सकते हैं कि उस आदर्श का अध्ययन करने से "क्या है" का अध्ययन होता रहता है, परन्तु उस "क्या है" का अर्थ वर्तमान अस्तित्व से तो नही लिया जा सकता, वरन् उसका अर्थ यह है कि उसमे क्या है, जो स्वरूप ग्रहण करेगा।

२ समाज-दर्शन का व्यावहारिक मूल्य

सामाजिक जीवन अत्यधिक जटिल है, इसलिए उसमे ब्योरेवार निश्चित सिद्धान्त प्रयुक्त नही किये जा सकते। इस विषय के कुछ प्राचीन विद्वानो ने इस बात की उपेक्षा करने का यत्न किया है। उन्होने सोचा कि मानव को विचारशील-प्राणी के रूप मे ही वर्णित कर देना और साथ ही फिर उसके पथ-प्रदर्शन के लिए कुछ अमूर्त-सिद्धान्त स्थापित कर देना ही काफी होगा। इसलिए इस अर्थ मे विवेकवाद अथवा बौद्धिकता के सम्बन्ध मे की गई आलोचनाओ

(यद्यपि प्राय: अति उग्र) को कुछ उचित समझा जा सकता है। विश्व-कोष निर्माताओ रूसो, पेने, गाडविन और उपयोगितावादी लोगों को इसके लिए दोषी ठहराया जा सकता है और सम्भवत कुछ भिन्न प्रकार से काट और हेगेल को भी। इस विषय मे बर्क का विरोध कुछ मूल्य रखता है, यद्यपि वह कुछ पक्षपातपूर्ण है। उसका कहना है,"हमे यह कहते हुए भय अनुभव होता है कि हम व्यक्तियो को यह राय दे कि वे अपने व्यक्तिगत(निजी)विवेक के भण्डार पर निर्भर रहे; इससे अच्छा तो यह रहेगा कि लोग अपने राष्ट्रो और युगो से अर्जित निधि से लाभ उठाएं।" हमे यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य पशु और भगवान् के बीच की चीज़ है और वह पूर्णत इन दोनो मे से कोई भी नही है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए मानव-जीवन के सभी पहलुओ का एक कल्पनात्मक सूझ और वैज्ञानिक यथार्थता के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए। जीवन की अनुभूति और कल्पनात्मक विचारो के फलितार्थो को एकत्रित किया जाना चाहिए। कवियो, सिद्धो और उनके साथ ही चिन्तको से सहायता ली जानी चाहिए।

यह सावधानियाँ बरतते हुए, हम अपने सामने तुरन्त उपस्थित होने वाली कुछ व्यावहारिक समस्याओ के प्रति कुछ सामान्य विचारो को प्रयुक्त करने का प्रयत्न कर सकते है।

३ प्रगति की प्रमुख दिशाएं

हम जो प्रगति करना चाहते है उसके लिए उतावलापन नही चाहिए। बेकन[1] के कहने के अनुसार हमे पुराने मार्ग पर दृढ रहना चाहिए तथा नये की प्रतीक्षा करनी चाहिए। एक सजीव वस्तु लगभग अप्रत्यक्ष रूप से बढती रहती है। केवल कभी-कभी ही उसके जीवन को किसी तरह का नुकसान पहुँचाए बिना उसकी काट-छाँट करनी चाहिए या उसमे कलमे लगानी चाहिएँ। दूसरी तरफ, जो निष्प्राण हो चुका है, उसे पुनर्जीवित करना एकदम व्यर्थ होगा, अथवा एक दूसरे रूपक के अनुसार एक सडी बोतल मे ताजा शराब को भरना होगा। इन दो विरोधी खतरो के मध्य से हमे अपना मार्ग निकालने के लिए यथाशक्ति प्रयास करना होगा। जीवन भर के लिए हमारा प्रधान लक्ष्य हमारी प्रकृति के निम्नतर स्वरूप का नियन्त्रण और उसे उच्चतम से विभूषित करना होना चाहिए। इस तरह के नियन्त्रण के तीन प्रमुख रूप हो सकते है जिन्हें प्राप्त करना अत्यावश्यक है—(क)मानवीय प्रयासों द्वारा प्राकृतिक शक्तियो का नियन्त्रण, (ख)साम्प्रदायिक-भावना द्वारा व्यक्तियो का नियन्त्रण, (ग)आत्म-नियन्त्रण। इनमे से प्रत्येक के सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण लाभदायक होगा!

१. "एस्सेज" XXIIV

(क) **प्रकृति पर विजय**—प्रकृति की शक्तियो पर नियत्रण प्राप्त करने के महत्त्व पर बल देने की आवश्यकता नही। पिछली शताब्दी से पूरी पाश्चात्य सभ्यता किसी और बात की अपेक्षा इसी काम को पूरा करने मे लगी हुई है, और पूर्व ने भी इसी दिशा मे प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। परन्तु यह सारा कार्य कुछ अव्यवस्थित तथा अस्पष्ट दृष्टिकोण से किया गया है। हम स्वय अपने उपकरणो के ही गुलाम बन गये है। एमर्सन के शब्दो मे[1]—

यह भौतिकवादी युग है,
जाल बनाये जाते हैं और अन्न पीसे जाते हैं,
वस्तुएँ तैयार है अपनी पूर्ण सज्जा मे;
और मानव-जाति तैयार है उनके उपभोग को।

आधुनिक समय मे हमारी अधिकाश शक्ति विनाशक साधनो को तैयार करने मे व्यय होती है और शेष शक्ति का अधिकाश भाग व्यर्थ के उत्पादनो और हानिप्रद विलास के साधनो मे नष्ट किया जा रहा है।[2] अब हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मानवीय आवश्यकताओ की सही जानकारी प्राप्त करें और उन आवश्यकताओ की पूर्ति का सही साधन खोजे। अपने-आपको बडा सभ्य मानने वाले देशो मे भी अनेक लोगो को पर्याप्त भोजन-पानी, पर्याप्त रूप से रक्षा करने वाले वस्त्र तथा जीवन के सही ढग के लिए तथा निवास-योग्य मकान पाने मे कठिनता होती है। हम केवल शरीर रहित आत्माएँ ही नही है, जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। हेगेल द्वारा प्रसिद्ध कहावत की विकृति निरुद्देश्य ही नही थी—"सबसे पहले भोजन और वस्त्र जुटाओ, और स्वर्ग का साम्राज्य स्वत ही तुम्हारे निकट आ जाएगा।" विश्व के उष्ण भागो मे, जो स्पष्ट ही मानव-जाति के प्रथम निवास-स्थान रहे है, इस तरह की आवश्यकताएं, सम्भवत कम बाध्य करने वाली रही है, और इसीलिए इस तरह के प्रदेशो मे उत्पन्न महापुरुषो ने अनेको बार अपने उद्गारो मे यह प्रकट किया कि "आने वाले कल की तनिक भी चिन्ता मत करो।"[3] परन्तु यह बात भिन्न प्रकार के जलवायु वाले प्रदेशो के लिए उपयुक्त नही। कई बातो मे तो हमने अपने जीवन के आदर्शो को पूर्वीय देशा

१ "Tis the day of the chattel,
Web to weave and corn to grind,
Things are in the saddle,
And ride mankind" —Emerson

२ बोसाके की पुस्तक "सिविलिजेशन आफ क्रिश्चियेएडम" में 'लग्ज़री एण्ड रिफाइनमेण्ट' निबन्ध देखें।

३. एक सामान्य अर्थ में तो यह उक्ति हमारे लिए भी बहुमूल्यवान् है, केवल शब्द-रचना ही बाधक है।

से इतनी दासतापूर्वक ग्रहण किया है और उनका परिणाम यह निकला कि हमारे ध्येय और हमारी क्रिया में, व्यवहार में, दुर्भाग्यपूर्ण अन्तर आ गया है। यहाँ तक कि मिल्टन ने यह शिकायत की है कि "शीत-जलवायु ने उसके कल्पनात्मक कार्यों मे रुकावट डाली है, परन्तु बहुत-से लोग मिल्टन की बात की अपेक्षा शीत से अधिक पीड़ित हैं। कुछ लोग जीवन की सुविधा और विलासपूर्ण वस्तुओं को महत्त्व प्रदान करने में अनासक्ति दिखाते है, परन्तु वे हमारी श्रेष्ठ शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओ के प्रति आँख मूँदकर कैसे बैठे रह सकते हैं? प्रमुख रूप से यह आवश्यक हो जाता है कि जीवन-सम्बन्धी इन बातों को व्यक्तिगत की अपेक्षा सामान्य-हित (Common-Good) के रूप में स्वीकार किया जाए। निश्चय ही ब्रिटेन के अधिकाश लोगो का भौतिक-स्तर चिन्ताजनक नही है; और वे दूसरे अनेक देशो के लोगो से अच्छी स्थिति मे हैं। हमारे नगर अधिक भीड़ वाले और भद्दे हैं। रस्किन की यह बात गलत नही है, कि उन नगरो का अधिकाश भाग साफकर दिया जाना चाहिए। नगर और ग्रामों मे अधिक समानता लानी चाहिए। बड़ी जमीदारियों को छोटा करके सुन्दर मकानो का निर्माण किया जाना चाहिए। औद्योगिक-जगत् को सही ढग से सगठित करना चाहिए, ताकि व्यर्थ की प्रतियोगिता के बिना ही जीवन की आवश्यकताएँ आसानी से प्राप्त की जा सके। परन्तु इससे हम स्वत. ही नियन्त्रण के दूसरे ढंग पर पहुँच जाते है।

(ख) **सामाजिक-नियन्त्रण**—यहाँ सामाजिक सगठन के महत्त्व पर बल देने की आवश्यकता नही है। हम इसका महत्त्व पहले ही शिक्षा, राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे देख चुके हैं। इस तरह के सगठनो को किसी विशेष दिशा मे लाभदायक रूप से विस्तृत करने के बारे मे भी एक निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती। विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि इस समय शिक्षा अव्यवस्थित स्थिति मे चल रही है और राष्ट्रीय क्षमता के लिए इससे अधिक घातक वस्तु कुछ भी नही हो सकती। फिर यह भी स्वीकार करना चाहिए कि हमारे शैक्षणिक-सगठन मे इतना लचीलापन आना अत्यधिक कठिन है, जिससे वह वैयक्तिक आवश्यकताओ और योग्यताओ के अनुसार अपनायी जा सके। पर निश्चय ही यह आशा करनी चाहिए कि शैक्षणिक सोपान के उच्चतम लक्ष्य तक पहुंचने पर हमे शोध-कार्य के लिए उचित साधन प्राप्त होगे और शिक्षा के निम्नतम लक्ष्य के अनुसार भीड-भड्क्का कम कर सकेंगे और स्वतन्त्र-विचार एव स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिए सुनिश्चित कदम उठा सकेंगे। औद्योगिक जीवन मे व्यर्थ की प्रतियोगिता को सावधानी से रोक दिया जाना चाहिए, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ सभी के लिए मुहैया की जानी चाहिएँ, तथा इस क्षेत्र मे वैज्ञानिक विधियों का

प्रयोग भी अधिक पूर्णता से किया जाना चाहिए। राज्य-सम्बन्धी जीवन मे, इस बात से वचने के प्रयास किए जाने चाहिएँ कि राज्य कुछ आत्म-तुष्ट और स्वार्थी धनी लोगो के राज्य अथवा धनिक-तन्त्र मे न बदल जाए, अथवा वह एक अव्यवस्थित लोकतन्त्र का रूप धारण न कर ले। धनिक-तन्त्र स्पष्टत. केवल कुछ लोगो के अपने लिए ही कार्य करता है और दूसरे प्रकार का राज्य स्पष्ट रूप से यह नही देख पाता कि सब लोगो का हित किस बात मे है। इन दोनो मे कोई-सा भी सामान्यत भविष्य के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से नही देख पाता। परन्तु सही रूप मे परामर्शदात्री समिति सम्भवत वास्तविक रूप मे सहयोग देने वाली होती है। इसके लिए एक अच्छा सविधान तैयार करना एक कठिन कार्य है, परन्तु अराजकता और राष्ट्र के विनाश की वजाय कठिनाई का सामना करना उचित है। राष्ट्रीय जीवन मे कला को प्रोत्साहन देने की कमी है। कला को विलास की वस्तु नही समझना चाहिए, परन्तु प्रत्येक के जीवन के लिए एक आवश्यक वस्तु समझना चाहिए। यह बडे खेद की बात है कि हमारे पास अभी तक भी एक राष्ट्रीय रग-मच नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास मे हम पहले जो कुछ कह चुके हैं उससे अधिक कहने की आवश्यकता नही है।

(३) आत्म-नियन्त्रण—आत्म-नियन्त्रण हमे फिर शिक्षा की ओर ही लाता है। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि एक मौलिक शिक्षा जीवन की तैयारी और उसके परम-लक्ष्य के रूप मे दोनो कार्य करती है। हमे शिक्षा के सम्बन्ध मे खाली वर्तन मे ज्ञान को भरने और अलाउद्दीन के जादू के चिराग वाली पुरानी अवधारणा से छुटकारा पाना होगा वरन् उसे बुद्धिमत्ता रूपी कोष के रूप मे समझना चाहिए जिससे हमे आदर्श समाज बनाने मे सहायता मिले। हमे इस चरित्र को दृढ बनाने, निम्न आवश्यकताओ का नियमन, पाशविक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण और उच्च आकाक्षाओ को सही मार्ग दिखाने वाला समझना चाहिए। अपने मिश्रित ढग की प्रकृति के निम्नतर-तत्वो का एकदम उन्मूलन व्यर्थ होगा, परन्तु हम उन्हे एक नवीन दिशा की ओर मोड़ सकते हैं। इस तरह उन्हे अपना सेवक बना सकते हैं। उदाहरण के लिए युद्ध की "नैतिक समता" को एक खेल मे, रचनात्मक-कला मे, विज्ञान सम्बन्धी साहसिक कार्यों मे और मानव प्रगति के प्रति दृढ-निष्ठा मे बदला जा सकता है। युद्ध का वास्तविक मूल्य इस बात मे है कि वह लोगो को सगठित करता है, और उस समय वे अपने सभी अपने विशेष स्वार्थों को लगभग पूरी तरह से भूल जाते हैं। उस समय एक छोटे से छोटा व्यक्ति भी अपने स्वार्थ को सर्वसाधारण के हित के प्रति वलिदान कर देता है। उसमे एक वीरता-पूर्ण आत्म-बलिदान की भावना आ जाती है और भय दूर हो जाता है।

इस प्रकार युद्ध सभी लोगों मे कुछ गुण पैदा करता है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। जहाँ तक युद्ध इस प्रकार के गुणों और भावनाओ को प्रोत्साहन देता है, वहाँ तक तो इसमे कुछ भी सदेह नही किया जा सकता कि युद्धात्मक कलाओ को उत्तेजित करने वाले राष्ट्र सदैव क्रिया-शील और प्रमुख बने रहते हैं।[1] पर इस प्रकार की भावनाओ को प्रोत्साहन तो संघर्ष के स्थान पर प्रेम की भावनाओ के द्वारा दिया जाना चाहिए, जीवन के विनाश के स्थान पर सुसस्कृत-जीवन के पुर्ननिर्माण मे योगदान दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के कार्य तो निश्चय ही युद्ध की भावना को बदल सकते है, उसका स्थान ग्रहण कर सकते है और इसके साथ ही वे मानवता का विनाश कर देने वाली भावनाओ को भी परिवर्तित कर सकते हैं। पर यह सब कुछ तभी सभव है, जब उन्हें उनसे उच्च और अधिक प्रभावपूर्ण कार्यो मे विलीन कर दिया जाए। दुर्भाग्य मे लोग सर्व-साधारण की प्रसन्नता और समृद्धि के विचार की अपेक्षा आने वाले सकट के भय के कारण अधिक तत्परता के साथ सगठित हो जाते हैं। यहाँ तक कि पशुओ के झुण्ड भी सामान्यत. खतरे के समय इकट्ठे हो जाते हैं और सुरक्षा के समय वे बिखर जाते है। 'सहानुभूति' का अर्थ संकट मे समुदाय-निर्माण है। किसी हित वाले कार्य के लिए व्यापक समुदाय बनाना अत्यधिक कठिन है। ऐसा दीखता है कि इस प्रकार का कार्य तभी संभव हो सकता है, जब इस प्रकार की भावना पैदा की जाए जिसे धार्मिक भावना कहते हैं। परन्तु इस बात का कोई बदल खोजने के लिए हमे वही करना पड़ेगा जैसा कि जर्मन लोगो ने किया था। विशेषतः ई० ड्यूरिंग ने धर्म के बदल के सम्बन्ध मे एक पुस्तक (Ersatz der Religion) लिखी है। यहाँ तक कि ब्रिटेन में डार्विन का यह विचार था कि धर्म का स्थान विज्ञान और गृहस्थ-सम्बन्धी प्रेम ही ले सकते है, परन्तु यदि हम धर्म का अर्थ, जैसा हम पूर्व अध्यायो मे वर्णित कर चुके है, वैसा लेते है, तो कोई भी चीज़ उसका सही बदल नही हो सकती। सत्य, शिव और सुन्दर का स्थान कोई भी चीज़ ग्रहण नही कर सकती। धर्म का बदल अपने पूर्ण अर्थ मे धर्म ही है। और जब मानव की महत्त्वाकांक्षाएँ भ्रमित हो जाती हैं और उनके प्रयास निराशापूर्ण हो जाते है तब उनका स्थान धर्म ही ग्रहण कर सकता है। हमको स्वीकार करना पडेगा कि धर्म सम्बन्धी एक वास्तविक कठिनाई हमारे सामने यहाँ आती है। यदि धर्म का लक्ष्य पूर्वोक्त है, तो वह ऐसा होना चाहिए जो बिना प्रतिबन्ध के मानव-मात्र को आकर्षित कर सके। उसे प्रतिमा-पूजन और अन्धविश्वास-जैसे कलको से पूर्णतः निर्मल होना चाहिए। उसका सामञ्जस्य हमारे स्वय तथा विश्व-सम्बन्धी ज्ञान के

१. काण्ट, जो शायद चिरस्थायी शान्ति के महान् प्रचारकों में थे, इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे।

साथ पूरी तरह से होना चाहिए। परन्तु यह तुरन्त कार्य-रूप मे परिणत हो सकेगा, इसकी हम आशा नही कर सकते और जो लोग इस बात के अभाव को बहुत अनुभव करते है, उन्हे कुछ धैर्य रखना पडेगा। धर्म जितना अधिक मानव हितो से ऊँचा होता है, उतना अधिक ही उसके दोषो को सहन करना असह्य हो जाता है। यह भी सही है कि उसके किसी सार्वजनिक रूप मे दोष अवश्य उत्पन्न हो जाते है। और फिर कभी ऐसा समय भी आता है, जब इस प्रकार के दोष विशेष रूप से स्पष्ट हो उठते हैं। कभी-कभी तो कुछ जीर्ण-शीर्ण मत इतने घृणास्पद हो उठते है और रोमन ओगरो की तरह उनके पुजारी उपहासास्पद बन जाते है। उस समय वाल्टेयर जैसे सुधारको को सामने आना पड़ता है। परन्तु धर्म के विशेष विरोधी और उसके समर्थको को भी सहनशील होना चाहिए। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि विभिन्न धर्म मानव-विकास के विभिन्न स्तरो के लिए उपयुक्त रहे है और किसी को कोई अच्छा धर्म दिये बिना उसके अपने धर्म से वचित करना उसमे से दिल निकाल लेने के समान होगा। नीत्शे वाली प्रवृत्ति निश्चय ही प्रोत्साहन देने योग्य नही, वह एक पागलपन ही है। सामान्यतः यह मान लेना गलती है कि जीर्ण-शीर्ण धर्मों को कुछ पुजारियो की धूर्त्ततापूर्ण युक्तियो ने जीवित रखा है। ऐसे धर्मों की तो उन अधूरे ढग से शिक्षित लोगो को आवश्यकता थी और वही उन्हें बचाये हुए थे, जबकि बुद्धि उन्हें मानने को तैयार न थी। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि दुर्बल बुद्धि वालो की देखभाल धर्म के प्रमुख कार्यों मे से एक है। दूसरी ओर बुद्धि की दुर्बलता आरम्भिक शिक्षा के दोष-पूर्ण होने के कारण ही होती है और इस दोष को दूर करना धार्मिक सस्थाओ का ही कार्य है। इससे इन्कार नही किया जा सकता कि शैक्षणिक उन्नति मे रुकावट उन लोगो ने डाली है जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे पूर्ण विकास के इच्छुक हैं। यह स्वीकार करने की बात है कि इस मामले मे कोई सार्वभौम समझौता नही हो सकेगा और न यह आशा की जा सकती है कि कोई सगठन यह कहदे कि वह ज्ञान सत्यो से पूर्णतः युक्त है। प्रतीकवाद, दृष्टान्त-कथाओ और मन्द धार्मिक प्रकाश की सदैव आवश्यकता रहती है। धर्म के सम्बन्ध मे सबसे बडी आवश्यक चीज सहिष्णुता और निश्छलता की आवश्यकता है। मैं इस सम्बन्ध मे सिजविक[1] के शब्दो को अन्तिम मानता हूँ—"धर्मोपदेशक ने कहा है कि एक समय होता है जब बोलना चाहिए और दूसरा ऐसा समय होता है जब शान्त रहना चाहिए, परन्तु इस प्राचीन ज्ञान को अभी तक अमल मे नही लाया गया। पर उस प्रचारक ने यह नही कहा, कि एक समय सत्य बोलना चाहिए और दूसरे समय मे झूठ। और मैं यह सोचता हूँ कि धार्मिक मामलो मे ईसाई लोग भी इस दूसरी बात को नहीं मानेंगे।" जब

१. 'प्रैक्टीकल एथिक्स' पृ० १७६—८।

धर्म का रूप इतना भ्रष्ट हो जाता है और उसमे ऐसी कोई बात नही रह जाती जिस पर विश्वास किया जा सके, ऐसी अवस्था मे हम यह कह सकते है—

"दो हाथों वाला इन्जन द्वार पर खड़ा है तैयार
टक्कर मारकर नाश करने को, एक ही बार नाश करने को।"[1]

एक उच्च स्तर की वस्तु का भ्रष्ट होना लम्बे काल तक सहन नही किया जा सकता।

इन सभी बातों पर चिन्तन के उपरान्त हम यह कह सकते है कि मानव-जीवन को आगे बढ़ाने के लिए प्रयास सरल काम नही है, और यहाँ हम मानव-जीवन की प्रगति मे आने वाली कठिनाइयों पर विचार करेंगे।

४. प्रमुख खतरे

निश्चय ही एक आदर्श-विश्व अथवा आदर्श राज्य की स्थापना सरल कार्य नही और उसके लिए कोई भी सुनिश्चित राज मार्ग भी नही[2] अथवा वह व्यवस्था या सौन्दर्य स्थापन भी सरल नही जैसा ब्लेक ने जेरूसलम के महल के सम्बन्ध मे वर्णित किया है, क्योकि अलादीन ने भी जब जादू का महल खडाकर लिया तो एक दुष्ट जादूगर उसे दूर देश मे उड़ा ले गया। और जब अलादीन को वह महल फिर से मिल गया, तो उसे महल मे एक पक्षी का अण्डा लटकाने को राजी कर लिया गया, जो लगभग उसका विनाश सिद्ध हुआ। ऐसे दुष्ट जादूगर और ऐसे ही विनाशकारी अण्डे सदैव हमारे साथ रहते हैं, अथवा सैद्धान्तिक भाषा मे हमारी गणना भी राक्षसों मे होती है परन्तु राक्षस अनेक रूप धारण करता हैं, परन्तु हम यह आशा नही कर सकते कि हम उसे सभी रूपों मे पहचान लेंगे या उसका पीछा कर सकेंगे। प्रगति से सम्बन्धित प्रमुख खतरों की ओर सकेत हम पहले भी कर चुके है। पतन का मार्ग उन्नति के मार्ग से विपरीत होता है परन्तु हमारे लिए यह जानना कठिन होता है कि वास्तव में हम किस मार्ग पर चल रहे हैं। हम पतन की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों पर सक्षेप मे प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे—

(१) **वर्धी आवश्यकताओं की प्रमुखता**—हमारी सभी आवश्यकताओ मे आर्थिक आवश्यकताएँ सार्वभौम और स्थायी रूप से सर्वाग्रही हैं और उनसे

---

१. Two-handed engine at the door
Stands ready to smite onee and smite no more.

२ I will not cease from mental fight.
Nor shall the sword sleep in my hand,
Till we have built Jerusalem
In England's green and pleasant land
(मैं रूकूँगा नही मानसिक-संघर्ष से, नहीं तलवार सो जाएगी मेरे हाथ में,
जब तक हम बना नहीं लेते हैं जेरूशलम, इगलैण्ड की हरित व स्वर्णिम भूमि में।)

निरन्तर यह भय बना रहता है कि कहीं वे अन्य सभी से प्रमुख न हो जाएँ। बहुत-से लोग केवल अपने अस्तित्व के सघर्ष के अतिरिक्त और कुछ कर ही नही सकते और यद्यपि धन के लिए सघर्ष सामान्यत सुख और शक्ति के लिए सघर्ष होता है, कभी-कभी वह स्वतन्त्रता और सौन्दर्य, और कभी केवल जीवन के अस्तित्व की अपेक्षा-श्रेष्ठ हितो के लिए भी होता है, फिर भी प्राथमिक रूप से वह भौतिक पदार्थों से ही सम्बन्धित होता है और शक्ति भी अधिकाशत. इन पर अधिकार और स्वामित्व प्राप्त करने पर ही प्राप्त होती है। मानव-जीवन पर इस घटक का इतना प्रभाव है कि लगभग सरकार की प्रत्येक पद्धति कुछ अशो में धनिकतन्त्रात्मक होती है। किसी ऐसी पद्धति का निर्माण अत्यधिक कठिन है, जो इस बात को पूर्णत रोक सके। फिर भी इससे अधिक सामान्य हित के लिए घातक कोई और चीज़ नही हो सकती। यद्यपि यह पूर्णत. सत्य है कि सभी सघर्ष आर्थिक होते है, पर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि उन सभी के साथ आर्थिक भावनाएँ भी मिली हुई रहती हैं।

(२) **पाशविक प्रवृत्तियों की प्रबलता**—प्रमुख पाशविक प्रवृत्तियां प्रेम और सघर्ष हैं। इन दोनों का ही मानव-प्रकृति से गहरा सम्बन्ध है। प्रेम स्वत ही एकत्व की ओर ले जाता है, परन्तु सामान्यत इस प्रकार की एकता सीमित होती है। एक प्रकार की एकता दूसरो का विरोध करना है और इस प्रकार वह अत्यधिक तीव्र सघर्ष का आधार बनती है। व्यक्तियो मे प्रेम कभी-कभी ईर्ष्या और द्वेष का कारण भी बन जाता है, कुछ लोगों की एकता दूसरों के विरोध को भड़काती है, यहाँ तक कि मानव-भ्रातृत्व की भावना रोष और असहिष्णुता का स्थान ग्रहण कर लेती है। कार्लाइल के अनुसार घृणा एक प्रकार का 'परिवर्तित-प्रेम' होता है। "ये भी आदम के बच्चे हैं—अरे, हाँ मैं इन्हें सदैव याद रखूंगा अत क्रोध और शोक को, कभी नही भूलूंगा।"[1] मानव-प्रकृति से सघर्ष को समाप्त करना, इसकी एक सजीव शक्ति को नाश करने के समान होगा। हमे युद्ध की नैतिक समप्रभावी वस्तु निर्दोष प्रतिद्वन्द्विता मे प्राप्त हो सकती है, परन्तु खेल-को घातक सुविधा द्वारा ही सरलता मे बदला जा सकता है। लोग सैनिक संघर्षों को तब तक पसन्द नही कर सकते जब तक उनमे "केवल युद्ध को ही महत्वपूर्ण" समझने की प्रवृत्ति पैदा न हो जाए। संघर्ष को एक नवीन उत्साह द्वारा ही रोका जा सकता है परन्तु नवीन उत्साह को पैदा करना सरल कार्य नही है, और फिर नवीन उत्साह "शान्ति नहीं, सघर्ष पैदा करेगा।"

(३) **यान्त्रिक प्रवीणता**—मानव की निम्न प्रकृति पर नियन्त्रण करने की चेष्टा भी विनाशात्मक प्रवृत्ति की ओर प्रेरित कर सकती है। जीवन तत्त्वत: एक वर्द्धमान वस्तु है, उसे यन्त्रों के भार के नीचे सरलता से कुचला जा सकता है—

१. 'लैटरडे पैम्फलैट', २।

चाहे वह यन्त्र बहुत ही पूर्ण क्यो न हो। कभी-कभी विचार उस पाण्डित्य द्वारा लगभग नष्ट कर दिये जाते है, जो पाण्डित्य कभी-कभी सिद्धान्तवाद का रूप धारण कर सकता है, जैसे कठोर धनिक-तन्त्र के द्वारा नियन्त्रित औद्योगिक-मशीनरी का प्रयोग लाभ की जगह हानिप्रद अधिक हो सकता है। इसी प्रकार से राष्ट्रीय-जीवन का स्वतन्त्र विकास निरकुशता के आखिरी सहारे आत्माहीन नौकरशाही द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। आधुनिक काल मे संगठन के व्यापक विकास के शानदार उदाहरण जर्मनी और जापान है।[1] और इन दोनों देशों मे राष्ट्रीय जीवन की विशेषताओ का विनाश ही हुआ है। ब्रिटेन मे भी एक बार यह विशेष खतरा पैदा हो गया था, पर अब वैसा भय नही रहा। हीने ने कहा है कि इगलेंड में मशीनें जीवित लोगों के समान हैं, और जीवित लोग लगभग मशीनो की तरह बन गए है। परन्तु इस समय यान्त्रिक पूर्णता की आशा हम जर्मनी से ही कर सकते है।

(४) **अराजकता**—यह मान लेना भी निरर्थक है कि सगठन के इन खतरो से मुक्ति हमे अराजकता से मिल जाएगी। प्रो० बर्गसन ने व्यवस्था के विरुद्ध यान्त्रिक स्वरूप को असन्तोषप्रद बताया है, परन्तु उन्होने इस जैव-शक्ति के अन्ध-कर्तृत्व की बात को प्रोत्साहन भी बहुत दिया है। इस तरह की जैव-शक्ति मे एकता नही होती, अपितु उसमे अनेको सघर्षात्मक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, और उन्हे विचार-शक्ति द्वारा नियन्त्रित करना पडता है। हम यह भी आशा नही कर सकते कि हमे केवल वैयक्तिक विचारों को व्यवहार मे लाने से मुक्ति मिल जाएगी। मै सोचता हूँ कि प्रो० स्माल ने यह सही ही कहा है[2] कि "समाजीकरण के आग्रह द्वारा व्यष्टिकरण की कल्पना की अपेक्षा समाजीकरण के गुणों द्वारा व्यष्टिकरण का नियम हमारी पीढी की आवश्यकता के लिए एक विशेष शिक्षाप्रद हो सकता है।" व्यष्टिवाद के स्थूल रूप को अमान्य ठहराया जा चुका है। ब्रिटेन मे भी लोगो की इस प्रवृत्ति का चित्रण अतिरजन ही होगा, जैसा मैथ्यू आर्नंड ने कहा है[3] "एक अग्रेज जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है, जिससे चाहे वह घृणा करे, जिसे चाहे उसे धमकी दे, जिसे वह चाहे नष्ट करे।" परन्तु वहाँ के भी कुछ विशेष समाजो मे कुछ व्यक्तिगत लोगों के प्रति कोमल धारणाएँ होती हैं जिससे संघर्ष से बचकर अपने व्यक्तित्व की संस्कृति मे शान्ति प्राप्त करने का प्रयास होता है। नि.सन्देह यह बात

---

१. बेंजामिन किड महोदय ने अपनी अभी प्रकाशित कृति "साइन्स आफ़ पावर" पृ० सं० १०७—९ में इस पर बलपूर्वक प्रकाश डाला है। बर्गसन का निबन्ध भी देखिए, इस में ऐसे संगठन के दोषों पर बल दिया गया है।

२. "जनरल सोशियालाजी" पृ० सं० ४७८।

३. "कल्चर एण्ड अनार्की।"

पश्चिम की अपेक्षा पूर्व मे अधिक सामान्य रही है। भारतीय रहस्यवादी अथवा मध्यकालीन साधु-महात्मा उस जीवन से बहुत दूर थे, जिस जीवन से हम आज परिचित हैं। पर अब भी वे लोग ऐसे कलाकार अथवा स्वप्नद्रष्टाओ को नही चाहेंगे जो अपने लिए पूर्णतः अभिन्न लाभ नही चाहते। यह अधिक उत्तम है कि वे अल्पकालिक कार्यसाधको को अपनाएँ और इसके उपरान्त वे अपने ज्ञान की खोज के परिणामों से समृद्ध हो सामान्य-जीवन मे पुन' लौटें, अन्यथा उनकी स्थिति हेगेल द्वारा वर्णित "अज्ञान के अपराधी" की-सी होगी और वे मानव-जीवन की समस्याओ को सुलझाने की अपेक्षा उलझाएँगे ही। फिर भी यह स्वीकार्य होना चाहिए कि वैयक्तिक आत्म-विकास में एकाग्रता के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई रूप नही है, जिसमे प्रकाश के देवता की तरह चमकता हुआ असुरत्व स्वय अवतार धारण करके आता है।

(५) **रूढ़िवाद**—यदि कोई सभ्यता ऊपर गिनाए खतरो से बचकर अपना निर्माण करती है, तो वह अपने ऊर्ध्वगामी प्रयासो को निरन्तर नवीन बनाए बिना सुरक्षित नहीं रह सकती। एक सुदृढ सभ्यता के लिए सबसे बडा खतरा सामान्यत. यही है कि वह अपने भूतकाल पर आधारित रहती है। यूरोप की पुरानी सभ्यताओ मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। हम लोग अपनी संस्थाओ और अपनी जीवन-पद्धतियों से अत्यधिक सन्तुष्ट रहे हैं। ब्रिटेन के लोग प्रधान रूप से अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट रहे हैं और वह कुछ परम्पराओ मे बँध से गए हैं। उनकी परम्पराएँ भी लगभग मनोवृत्त्यात्मक होती है, इस प्रकार से उनकी कुछ सार्वजनिक पद्धतियाँ और कुछ खेलने के ढंग तक भी परम्परागत बन गए हैं। फ्रास मे लोग सामाजिक व्यवस्था से इसी प्रकार अत्यधिक सन्तुष्ट हैं और उसी को सही बताते हैं। उनके दृष्टिकोण उसी से मार्ग-ग्रहण करते हैं। ऐसे समाजो में यदि किसी का मूल्याकन होता है तो वह कम या अधिक हित-सम्बन्धी होता है और वह ऐसा हो सकता है जो अच्छाई का विरोधी हो। ऐसे समाज देखने मे तो रूढिवादी प्रतीत होते हैं, परन्तु अपने अन्तर मे पतन का विस्फोट लिये हुए होते हैं क्योकि उनमे उच्चतर-विकास के स्पष्ट दृष्टिकोण का अभाव होता है। मैं सोचता हूँ कि कुछ अशो मे एक अर्द्ध-शुभ के प्रति इसी प्रकार की आत्म-तुष्टि और सन्तोष तथा अपने आदर्शों मे ताजगी के अभाव ने ही रोमन-साम्राज्य को विनाश के गर्त मे मिला दिया। समाज व्यक्तियो की तरह अनिवार्यत उत्थान और पतन के भागी नही होते, परन्तु अतीत काल की उपलब्धियो से ही सन्तुष्ट हो जाना मृत्यु के पथ पर बढना है।[1]

१ इसके उदाहरण में चीन को लिया जा सकता है। परन्तु यह सोचना गलत ही होगा कि चीन में कोई प्रगति नहीं हुई। उसके निरन्तर जीवित रहने का रहस्य उसकी प्रगति ही है, यद्यपि वह कठिनता से प्राप्त स्वतन्त्रता का अच्छा उदाहरण नहीं है।

समाज-विकास के मार्ग में ये कुछ बड़े खतरे हैं। कुछ ऐसे जमाने भी आए हैं जब एक तेज झटके के साथ लोगों के मस्तिष्क को इन खतरों की ओर आकर्षित किया है। फ्रांस की क्रान्ति तथा उसके बाद आने वाले वर्ष कुछ ऐसे ही दिन थे और जिनके दूसरे दौर मे हम स्वय प्रविष्ट हो रहे हैं। गेटे ने फ्रास की क्रान्ति का जो वर्णन किया है, उसे वर्तमान काल के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है—

> "उस समय सब कुछ ऐसी हलचल मे था, मानो व्यवस्थित विश्व पुन अव्यवस्था और अन्धकार में बदल जाएगा, और उसके बाद फिर व्यवस्था एक नवीन रूप धारण करेगी।"

और प्रायः कोई भी यह कहने मे संकोच करेगा कि "स्थिति ने पूर्णतः कोई नवीन रूप धारण किया है।" फिर ऐसी बुराइयो में से कुछ अच्छाइयाँ उत्पन्न होती हैं। वे हमे एक सुन्दर विश्व के पुनर्निर्माण के लिए कुछ सोचने और कुछ खोजने के लिए बाध्य करती हैं। क्या हमारे पास यह विश्वास करने का कुछ आधार है कि इस प्रकार का पुनर्निर्माण सम्भव है? इस सम्बन्ध मे कुछ शब्द कहने ही पर्याप्त होगे।[1]

इन कुछ विषादपूर्ण फलानुमानों पर अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त अब हमें इस विचार के उज्ज्वल-पक्ष की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए।

५. आशा के मुख्य आधार फ्राँस की क्रान्ति के समय की तरह इस हलचल वाले वर्तमान-काल मे भी संसार आशावान है कि जीवन की नवीन और श्रेष्ठ पद्धति का उद्भव हो सकता है, यद्यपि आशा छलना होती है और भय मिथ्या भी हो सकते हैं। फ्रांस की क्रान्ति ने कुछ अंशों में विश्व को निर्मल बना दिया और यह आशा करने के पूर्ण आधार हैं कि कठिन प्रयास द्वारा समर्थित सुन्दर आदर्श पूर्णतः व्यर्थ सिद्ध नही हो सकते हैं, जागरण लाने वाले विचार मर नही सकते हैं, परन्तु यह हो सकता है कि उनकी कार्यरूप में परिणति मे देर हो। मानव-जीवन में प्रगति होना अनिवार्य है, यद्यपि उसे प्रायः अवरुद्ध कर दिया जाता और रुकावट डाल दी जाती है। ग्रीस और रोम की सभ्यता और उन से पहले अन्य सभ्यताओ के नाश

१. पुनर्निर्माण की समस्या पर इस समय काफी लिखा जा चुका है, और इस पर मैं अपना मत देने का अधिकारी भी नहीं हूँ। रसेल महोदय की पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ़ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' अपनी प्रसदात्मकता और प्रभावात्मकता के लिए प्रशंसनीय है, परन्तु उसका मनोवैज्ञानिक आधार आपत्तिजनक है और उपसंहार अराजकतापूर्ण। युद्धोपरान्त समस्याएँ विषय पर कुछ सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वानों के लेखों का सम्पादन डब्लू० एच० डासन ने किया है; इसी तरह सभी प्रो० चैम्पमैन ने 'युद्धोपरान्त श्रम और पूंजी' पुस्तक को प्रकाशित किया है। ह्वाटले कमेटी की प्रथम मूल्यवान रिपोर्ट को भी सम्मिलित किया गया है।

भी, निस्सन्देह विश्व के लिए दुर्भाग्यपूर्ण सकट थे, परन्तु आधुनिक ससार ने अपने-आपको उन सकटो से काफी हद तक बचा लिया है। अधिकाश मे आज भी उन लोगो के काव्य और कलाएँ हमारे काम मे आ रहे है और आज भी हमे अपने आध्यात्मिक जीवन को अनुप्राणित करने के लिए सहायता मिल रही है। अब भी हम उत्साह भरने वाले सुकरात के विवादो, प्लेटो की काल्पनिक सूझ, और अरस्तू के समन्वयात्मक तथा समृद्ध ज्ञान से बौद्धिक प्रोत्साहन प्राप्त करते है, और रोमन लोगो के नियम अब भी न्याय और व्यवस्था के मापदण्ड बने हुए है। आज भी हम यहूदी लोगो की धार्मिक प्रेरणाओ से लाभ उठाते हैं और कुछ प्राचीन-धर्म अब भी हम लोगो के लिए अधिक अनुभवगम्य हो रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नही है, यद्यपि यह एक सोचने की बात है कि आने वाली पीढियाँ इसी तरह से हमारी वर्तमान सभ्यता के ध्वसावशेषो से कुछ स्थायी लाभो को प्राप्त कर सकेंगी। परन्तु हमे उससे कुछ अच्छी बातो की ही आशा करनी चाहिए। अखिल विश्व अतीत की अपेक्षा आज अधिक सगठित है और अब हम सरलतापूर्वक आशा कर सकते हैं कि सम्पूर्ण विश्व की यह एकता अपने किसी भी भाग को नष्ट होने से बचा सकेगी, कम-से-कम मुझे वर्तमान समय मे आशा का आधार यही दिखाई देता है। विनाश की ओर ले जाने वाली शक्तियो की अपेक्षा व्यवस्था की ओर प्रेरित करने वाली शक्तियाँ अधिक दृढ होती हैं। अधिकार अनिवार्यत शक्ति का रूप धारण नही करते, वे अपने चारो तरफ कुछ शक्ति इकट्ठी करने की प्रवृत्ति अवश्य रखते है। अतिक्रमणकारियो का मार्ग कठिन नही होता है, परन्तु सामान्यतया विभाजित होता है। मनुष्य अपनी सामान्य-हित की अवधरणा की अपेक्षा किसी और बात के लिए अधिक सरलता से सगठित नही होते[1]। यह सब कुछ कैसे होता है, इसे हम देख चुके हैं, उसे केवल राज्य-व्यवस्था मे ही नही, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माण मे भी देख चुके हैं। पुनर्निर्माण की रूपरेखाओ को विस्तृत रूप मे तैयार करना तो व्यावहारिक राजनीतिज्ञो और समाज-सुधारको का काम है और यह बहाना बनाना कि यह तो एक सरल काम है व्यर्थ की बात होगी। हम लोग हरबर्ट स्पेन्सर की तरह यह विश्वास करने के अधिकारी नही कि विकासशील शक्तियाँ हमे अवश्य ही पूर्णता तक ले जाएँगी। हम यह जान चुके हैं कि विकास कुछ धीमा और अनिश्चित होता है। योग्य अथवा जो सामर्थ्य युक्त है वही जीएगा, चाहे व्यक्ति हो या समाज, यह नियम सदैव उपयुक्त नही होता। हमारे चेतनापूर्ण चयन और प्रयासो से ही हम यह आशा कर सकते हैं कि वे सर्वोत्तम की सृष्टि और

---

१. शुभ की ओर ले जाने वाली शक्तियाँ अशुभ की ओर ले जाने वाली शक्तियों से किस तरह अधिक बलवान होता है, इस विषय पर कुछ शिक्षणात्मक कथन डा० वार्ड महोदय की पुस्तक "रैल्म ऑफ एण्ड्स" पृ० स० १०३-७ में पाया जा सकता है।

सुरक्षा होती है। यदि हम वज्रमूर्ख नही हैं, तो अवश्य ही अपनी पुरानी भूल, मूर्खताओं और अपराधों से तथा अपनी महान् उपलब्धियों से लाभ उठाने से नही चूकेगे। इन विचारों के कारण हम यह विश्वास करने का साहस कर सकते है कि इन खतरों के बावजूद भी निकट-भविष्य में यह संभव हो सकता है कि हम एक सुन्दर, स्थिर और सुव्यस्थित समाज का निर्माण करने में समर्थ हो सकेंगे। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की सुव्यवस्था किसी प्रजा का कोई विशेष अधिकार नही होगा, वह अपने पूर्ण अर्थों मे सामान्य हित होगी। विभिन्न प्रकार के लोग सदैव विभिन्न प्रकार की भाषाएँ, विभिन्न शिष्टाचार, विभिन्न कानून, विभिन्न विचार और क्रियाओ से युक्त रहेगे और हम उनका सही मूल्याकन कर सकेंगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि अब वे दिन लद गए, जब लोग-सोचा करते थे कि जर्मनी सब प्राचीन देशों मे परम-श्रेष्ठ राज्य है, अथवा ब्रिटेन सातों समुद्रो का राजा है, अथवा फ्रेंच भूमि सभ्यता की एकाकी स्वामिनी है अथवा रोम, एथेन्स या मक्का अथवा अन्य कोई पवित्र स्थल निष्ठा का एकमात्र स्थान है[१]। अब सारी धरती हमारा देश है, और यहाँ के सभी निवासी हमारे पड़ौसी-नागरिक है, और अन्त मे, यही मान्यता हमे परम शान्ति का अधिकारी बनाएगी। सम्भवतः एक समय था जब प्रशिया का सैनिक-शासन सामान्यतः इस शान्त विश्व मे मुख्य रूप से गड़बड़ करने वाला समझा जाता था। (मैं ठीक ही सोचता हूँ) उस समय जर्मनी से आती हुई इस आवाज से हमे बहुत प्रेरणाएँ मिल सकती है, यह एक ऐसी आवाज थी, जिसने यूरोप मे उठती हुई भयकर राष्ट्रीयता को रोक दिया था—

> भविष्य में झांक रहे हैं।
> सुख और दुःख,
> हम उलझ रहे हैं,
> अभी व्यर्थ की चीजों में जो,
> अवरुद्ध किये हैं, आगे बढ़ने से।[२]

---

१. यह ध्यान रखना अच्छा रहेगा कि यह वर्डसवर्थ अथवा मेजिनी के राष्ट्रीयतावाद से किसी भी तरह से विरुद्ध नहीं है। ऐसे लेखक अपनी राष्ट्रीयता का जो दावा करते हैं, वह अन्यों के लिए भी वैसा ही होता है।

२. The future hides in it
Gladness and sorrow:
We press still thorow,
Naught that abides in it
Daunting us, onward.
—Carlyle

निरन्तर सघर्ष द्वारा ही हम अच्छाई और हित को सुरक्षित रख सकेंगे। हमे यह स्वीकार करना चाहिए, जैसा बोसांके[1] ने कहा है कि कैसी भी परिस्थितियाँ क्यो न आएँ, "हमे भविष्य मे पूर्ण आशा है, वह इसलिए नही कि हम आने वाली बात को जानते हैं, अपितु इसलिए कि कुछ भी क्यो न हो, हम प्रेरणा से अनुप्राणित हैं, कष्ट सहने और सशक्त रहने के लिए तैयार हैं, ऐसी अवस्था मे अच्छाई अथवा हित के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नही होगा।" यह विश्वास तो नागरिकता और नैतिकता की शिक्षा का जन-जन मे प्रचार करने पर ही उत्पन्न हो सकता है। इसी आधारभूत शर्त पर हमारी आशाएँ लगी हुई हैं। मानव-प्रगति हमारे अन्दर से ही होगी। वह किन्ही बाह्य परिस्थितियो से जन्म नही लेगी, पर उसके लिए सभी लोगो द्वारा एक सामान्य हित के लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ संगठन की आवश्यकता है।

---

१ "सोशल एण्ड इण्टरनेशनल आइडियल" पृ० सं० १८८। रोबर्टसन की पुस्तक "दि जर्मन्स" पृ० सं० २०३-६।

परिशिष्ट (क)

प्लेटो के 'रिपब्लिक' पर कुछ टिप्पणियाँ

समाज-दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या का एक प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण प्लेटो के 'रिपब्लिक' का हमारे लिए एक विशेष मूल्य है। वह अब भी अनेकों पहलुओ मे इस विषय पर अत्यधिक उत्कृष्ट तथा प्रेरणादायक कृति है—कुछ अशो मे इसलिए कि सुकरात और प्लेटो दो महान् मेधावी मानव थे (संयुक्त भी, अकेले भी) जो दार्शनिक अध्ययन मे अनुरक्त थे और कुछ अंशों मे इसलिए भी कि आधुनिक समय की जटिल अवस्था की अपेक्षा ग्रीस के छोटे नगर-राज्यों की सरलतम अवस्थाओं ने नागरिक-जीवन के एक समग्र सर्वेक्षण को सरल बना दिया था। अत: मैंने अपनी इन रूपरेखाओं मे पग-पग पर प्लेटो के कथनों का उल्लेख किया है और मेरी यह मान्यता है कि जो व्यक्ति इन विषयों का सम्पूर्ण अध्ययन करना चाहता है, वह कुछ अंशो मे प्लेटो के विश्लेषण का गम्भीर अध्ययन अवश्य करे। प्लेटो के विवरण सामान्यत: विलक्षण रूप से स्पष्टता एवं असाधारण रूप से दृष्टव्य उदाहरणो से युक्त हैं। फिर भी कुछ बातो मे उनको गलत समझा जाने की सम्भावना है और ऐसी ही गलतफहमी से बचाने के लिए उनके सामान्य-विवाद पर कुछ टिप्पणियाँ जोड़ देना अधिक अच्छा रहेगा, जैसा कि मैंने विश्लेषण किया है।[1]

१. प्रारम्भिक परिचय

'रिपब्लिक' के सम्बन्ध मे गलतफहमी होने की सम्भावना मुख्यत: उसके कथोपकथन मे लिखे गये रूप के कारण है। पाठक यह मान सकते हैं कि कथोपकथन के अनेक स्थानों पर सुकरात के द्वारा दिये गए विवरण प्लेटो की अन्तिम

---

१. इस पर आगे विशेष जानकारी के लिए, नेटलशिप और बोसाके की टिप्पणियों का तथा श्री अर्नेस्ट बारकर की पुस्तक "दि पोलिटिकल थॉट आफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटल" का उल्लेख किया जा सकता है। शैक्षणिक विषय पर, श्री के० जे० फ्रीमैन की "स्कूल्स आफ हेलास" को देखा जा सकता है। प्रो० पी० एस० बरेल द्वारा "माइण्ड' (१९१६) में प्रस्तुत "दि प्लॉट आफ प्लेटोज रिपब्लिक" नामक लेख का उल्लेख किया जाता है।

अभिव्यक्ति के रूप मे ग्रहण किये जा सकते है। यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने इस प्रकार के कथोपकथनो मे अपनी पुस्तक को इसलिए लिखा, ताकि गलत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना को दूर किया जा सके। कई जगहो पर उसने यह भी सकेत किया है कि वह अपनी इस विधि को अन्तिम रूप से सन्तोषप्रद नही समझता। कुछ लोग उसकी इस प्रकार की कथोपकथन की पद्धति को एक गम्भीर दोष मान सकते है, परन्तु मेरे विचार से तो यह उसकी एक श्रेष्ठतम विशेषता है। चाहे, कोई व्यक्ति कितना ही ज्ञानवान् और योग्य क्यो न हो, यदि वह ऐसे विषयो पर अपने शब्दो को अन्तिम समझता है, तो वह उसकी सबसे बडी मूर्खता होगी। सुकरात ने कहा है कि वह स्वय जो कुछ जानता है वह यह है, कि वह कुछ नही जानता। वास्तव मे वही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस प्रकार की गलतियो मे नही पड सका था। प्लेटो शायद अपनी सूझ पर अपेक्षाकृत अधिक विश्वास रखता था और इसका कारण भी है, परन्तु उसने इस सम्बन्ध मे अपने गुरु का घनिष्ठता के साथ अनुगमन किया। अतएव यह मानना गलत होगा कि उसकी कथोपकथन की पद्धति अन्ध-सिद्धान्तवाद का प्रतिपादन करती है, वरन् उसे अपने कठिन विषयो पर कुछ सम्भावित निर्णयो के सुझावो के साथ एक बहस-मात्र कहा जा सकता है। इसीलिए तो जैसे ही हम अन्त मे पहुँचते हैं, उसका दृष्टिकोण क्या है, यह स्पष्ट समझ लेते हैं और एक अन्तिम सूक्ति के रूप मे उसका कथन भी प्राप्त कर लेते है। उसे प्राचीन रस्किन के रूप मे समझना एक बहुत ही गलत विचार होगा, (यद्यपि रस्किन स्वय उससे पर्याप्त प्रेरणा पा सका था।)

अत विशेष रूप से, यद्यपि उसकी कृति एक आदर्श-राज्य की रूपरेखा को लिये हुए है, परन्तु उसे आधुनिक समय मे निर्मित विविध प्रकार के काल्पनिक आदर्श-राज्यो (Utopias) के समान बिलकुल नही समझना चाहिए, यद्यपि वे लोग कभी-कभी अपनी कृतियो मे प्लेटो के कथनो को अपने आदर्श के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो ने यह बिलकुल स्पष्ट कहा है, कि उसने अपनी रूपरेखा को पूर्ण राज्य के निर्माण के लिए एक व्यावहारिक योजना के रूप मे नही बनाया है। वह तो अपेक्षाकृत उसके सुपरिचित नगर-राज्यो का एक अध्ययन है। उसमे उन राज्यो की मुख्य-मुख्य विशेषताओ के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही उसमे निहित प्रमुख सकटो की ओर सकेत किया गया है तथा उनसे बचाव के लिए सम्भावित सुझाव दिये गए हैं। आधुनिक समय में प्राप्त विभिन्न प्रकार के समुदायो के ज्ञान के साथ हमे यह नही सोच लेना चाहिए, कि उसने विवेचनात्मक अथवा सम्भावित सुधार की दृष्टि से जो कुछ कहा है, वह हमारे लिए बडे महत्त्व का है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियाँ

इतनी जटिल हैं कि एक सरल योजना का अध्ययन हमारे लिए अति हितकर होगा।

इस प्रकार की सावधानियो के लिए पूर्णरूप से कथोपकथन के सम्बन्ध में ही ध्यान रखना आवश्यक नही है, वरन् प्लेटो की विविध विशेष बातो, जैसे, उसके शिक्षा-सम्बन्धी विवेचन, कला का स्थान, स्त्रियों की दशा और अमरता की अवधारणा आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए। इन विषयो पर उसके विश्वास अत्यधिक दृढ और तत्परतापूर्ण है, तथा उसके अधिकांश सुझाव बडे मूल्यवान् हैं, परन्तु यदि उसके कथनो को हम अक्षरशः ग्रहण करे तो हम भटक-कर कही-के-कही पहुँच जाएँगे। अनेको स्थानों पर उसने नितान्त निश्चित रूप से यह सकेत भी किया है कि उसके विवेचनो को अक्षरशः ग्रहण नही किया जाना चाहिए। मेरे अपने विश्वास के अनुसार हमे यह स्वीकार्य होना चाहिए, कि कुछ स्थानो पर उसने पक्षपातपूर्ण विश्वासों से प्रभावित होने की साक्षी दी है, जिसे संभवतः आज के अधिकाश पाठक स्वीकार नही करेंगे। प्लेटो सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्यो मे से एक थे, इसमे कोई सन्देह नही है, तथा वह अपने साथ सुकरात का भी सदुपयोग कर सका। एक विशेष वरदान जिसे हम "कल्पनात्मक-चिन्तन" कहते है, उसमे वह, मेरी मान्यता के अनुसार, विश्व के लेखको मे अद्वितीय था, परन्तु निरन्तर गुजरती हुई पीढियो के विचारो तथा अनुभूतियो की भी हमे अवहेलना नही करनी चाहिए।

आगे मैं उसकी कृति मे से कुछ ऐसे स्थलो की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा, जिनकी रचना मे विशेषतः भ्रान्ति की सम्भावना होती है।

२. प्रथम पुस्तक का विवेचन

प्रथम पुस्तक में न्याय की सामान्य अवधारणा की व्याख्या की गई है, जिसका अभिप्राय समुदाय की उचित व्यवस्था की अपेक्षा व्यक्तिगत सदाचार मे अधिक अन्तर्निहित है। न्याय के अर्थ मे प्रयुक्त यूनानी भाषा के एक शब्द की अस्पष्टता से कुछ अश मे सर्वत्र गडबड़ी फैलती है। अरस्तू महोदय ने इसे बहुत ही अच्छी तरह से स्पष्ट किया है[1]। प्रथम पुस्तक मे प्रस्तुत किये गए विचारो को इस प्रकार से कौशलपूर्वक सजाया गया है, कि रसमे काव्यात्मक विश्लेषण द्वारा साधारण सामान्य अर्थ से लेकर हेत्वा-भास पूर्ण सिद्धान्त तक उपस्थित हो जाते है। इन विचारो के विरुद्ध दिया गया तर्क भी स्वय कुछ अशो मे कुतर्क है। कभी-कभी उनकी रक्षा एक मूर्ख को उसकी मूर्खता के अनुसार उत्तर देने के सिद्धान्त के अनुसार ही की जा सकती है[2]। परन्तु वे तर्क यह प्रदर्शित करने मे पर्याप्त होगे, कि जो परिभाषाएँ दी

१. "एथिक्स" V.

२. मेरा विश्वास है कि प्लेटो स्वयं युक्ति की इस विधि के असंतोष से खूब परिचित था।

गई हैं वे गड़बड़ और असतोषजनक हैं, तथा वे आगे की पुस्तको के लिए विस्तृत विवेचन का मार्ग तैयार करने वाली हैं।

प्रथम पुस्तक ही एक ऐसी है जिसमे सुकरात की सुपरिचित विधि के अनुसार वाद-विवाद प्रस्तुत किये गए है, परन्तु यहाँ भी यह विश्वास करना अत्यधिक कठिन हो जाता है कि कोई वास्तविक विवेचन, जो कि वर्ण्य-विषय की सामयिकता के अनुसार स्वत उद्भूत हुआ है, कलात्मकता के रूप को इतनी ही पूर्णता के साथ प्राप्त कर सका है; परन्तु शायद वह सुकरात के सामान्य मत और विधि को अत्यधिक सही रूप से प्रस्तुत करता है। यह कहना अत्यधिक सन्देहास्पद है कि आगे आने वाली पुस्तको मे वर्णित विषय के बारे मे भी इतना कुछ कहा जा सकता है या नही। यह असभव है कि उनमे से कोई भी बात जो सुकरात से सम्बन्धित बताई गई है, वास्तव मे वह उसके विचारने और बोलने के विरुद्ध रही हो? उसके चरित्र को निस्सन्देह सुरक्षित रखा गया है, परन्तु हम लोग मुश्किल से ही यह मान लेने के अधिकारी है, कि उसको उक्तियो के रूप मे जो कुछ प्रस्तुत किया गया है, वह किसके विचारो की सही अभिव्यक्ति है, उसके अथवा प्लेटो के। मेरे विचार मे यह वही है जिसे सुकरात ने सम्भवत कहा होगा तथा जिसे प्लेटो ने भी कहना उचित समझा होगा और जैसा कि प्रथम पुस्तक मे है। यह सब ऐसे कलात्मक ढग से सजोकर रखा गया है जिससे तर्क एक के बाद दूसरी बात को लेकर निरन्तर आगे बढता रहे।

द्वितीय पुस्तक मे, पूर्व पुस्तक मे ग्रहीत विवेचन-विधि को विपरीत आलोचना का विषय बनाया गया है, और अधिक सूक्ष्म विधि को गहण किया गया है।

३. द्वितीय-चतुर्थ पुस्तको का विवेचन

सामाजिक सविदा का सिद्धान्त सुझाया गया है, और उसे पहले ही एक ऐसे निश्चित रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसका बाद मे हॉब्स ने प्रतिपादन किया है। इस विचार का समावेश मुख्य समस्या को व्यक्तिगत औचित्य से सामाजिक न्याय के रूप मे बदल देता है और समाज के सामान्य-ढाँचे के बारे मे विचार करने को आवश्यक बना देता है। सुकरात अब एक आलोचक न रहकर सृष्टा बन जाता है। वह इस बात पर जोर देता है कि एक समुदाय का अस्तित्व इसलिए आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं होता और फिर उसे प्रतिपादित करता चला जाता है कि आत्म-निर्भरता का आधारभूत सिद्धान्त सहकारिता और श्रम-विभाजन हैं। इसके उपरान्त इन्ही महत्त्वपूर्ण पहलुओ वाले एक सरल समाज की एक सक्षिप्त एव आकर्षक रूपरेखा खीची जाती है। परन्तु ऐसे समाज की अमानवीय होने के रूप मे भर्त्सना की गई है, और कुछ भी हो,

---

कुछ इसी प्रकार का समान विवेचन, यद्यपि कुछ कम विस्तृत, गोरजियाज में सीधे रूप से प्रकट किया गया है।

एक सुव्यवस्थित राज्य के जीवन पर अधिक प्रकाश नही डाला गया है इसकी। व्याख्या करने के आशय से विलास के तत्त्व का समावेश करना पड़ा है। विलासिता-पूर्ण विकासात्मक रुचियाँ अन्य समुदायों के साथ व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता उत्पन्न करती है, और अन्त मे वे विस्तार की माँग की ओर ले जाती हैं। इसी से युद्ध को जन्म मिलता है, और उसके लिए प्रभावशाली सैन्य-वर्ग के स्थायी अस्तित्व की आवश्यकता होती है।

इस विषय मे प्लेटो का गलत विश्लेषण करना सरल है। उसके मन्तव्य को दो विरोधी तरीकों से समझा जा सकता है, जो संभवत: दोनों ही ग़लत हैं। एक तरफ, वह एक सरल समुदाय को स्वस्थ और एक जटिल समुदाय को रुग्ण वर्णित करता है तथा रुग्णावस्था को युद्ध और वर्गों के भेद का जनक वतलाता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि एक सरल समुदाय ही आदर्श होता हैं। दूसरी तरफ, इस बात पर बल दिया गया है कि वह एक जटिल-समुदाय को ही आदर्श राज्य के रूप मे मानता है और फिर सर्वत्र यह प्रतिपादित करता है, कि ऐसा राज्य निरन्तर युद्ध अथवा उसकी तैयारी मे ही सलग्न रहेगा। प्लेटो के अभिप्राय को कौन-सा विचार सही व्यक्त करता है? मैं सोचता हूँ, सही विचार यह है कि वास्तव मे, वह एक सार्वभौम आदर्श का निर्माण करने की बिलकुल चेष्टा नही करता, वरन् मानव-समाज की प्रकृति को समझने की चेष्टा करता है। इस दृष्टिकोण को समझाने के आशय से हमे मानव-प्रकृति के सभी जटिल तत्वों का वर्णन करना पड़ेगा, चाहे वे रुग्णता के स्रोत ही क्यों न हों।[1] दूसरे प्रकार से इसे हम यों कह सकते है, कि आदर्श समाज का वर्णन करते हुए वह यह नही मान लेता, कि वह समाज आदर्श मनुष्यों से ही निर्मित होगा। इसकी बजाय वह यह मानता है कि उसके समुदाय के सभी सदस्यो को एक कठिन अनुशासन की आवश्यकता होगी। उससे अन्त में, वे आत्म-नियन्त्रण की प्रवृत्ति की ओर जाएँगे, और इस प्रकार की प्रवृत्ति को पैदा करने मे अधिकाश सदस्य नितान्त असमर्थ रहेगे। अत एक आदर्श समुदाय भी पूरी

---

१ यदि वह राज्य को एक सार्वभौम आदर्श के रूप में उपस्थित करने के लिए उत्सुक होता, तो वह इस पर बल देता कि युद्ध और सरकार की आवश्यकता की उत्पत्ति आन्तरिक रुग्णावस्था की अपेक्षा परिवृत्त समुदायों में विलास के कारण तथा परिणामस्वरूप विस्तार की आवश्यकता के कारण होती है। आन्तरिक रुग्णावस्था को स्वीकार करने की उसकी प्रवृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वह एक सार्वभौम आदर्श राज्य की अपेक्षा एक विशेष राज्य का वर्णन कर रहा है। प्लेटो के सरल समुदाय को मोंएटेन के निबन्ध में प्रस्तुत समुदाय के साथ अन्तर प्रदर्शित करके देखना बड़ा रोचक रहेगा। मोएटेन के समुदाय में सरकार का स्थान नहीं है, कोई श्रम-विभाजन भी मुश्किल से ही है, पर साथ ही संघर्ष का अभाव भी नहीं है।

तरह से स्वस्थ तथा अपने सभी भागों में आदर्श नहीं होगा। उसका स्वस्थ होना इसी बात पर निर्भर करेगा कि शासकीय भाग स्वस्थ है और वह उसके अन्य भागो मे व्याप्त रोग को रोकने मे समर्थ है, ताकि वह फलस्वरूप समस्त समुदाय के जीवन को गंभीरतापूर्वक प्रभावित न कर सके। अत महत्त्वपूर्ण विचार उस प्रकार के जीवन पर निर्भर करता है जो शासकीय वर्ग मे सम्बन्धित होता है। इसके लिए प्राथमिक रूप मे यह आवश्यक हो जाता है कि शासक गण सावधानी से चुने हुए तथा पूर्णरूप से शिक्षित होने चाहिए क्योंकि उनका कार्य संरक्षण तथा शासन के रूप मे दुगना होता है। सुकरात का भी कदाचित् यह मत नहीं था कि इन दोनो कार्यों को भिन्न समझा जाए, और वे विभिन्न प्रकार के लोगों को दिये जाने चाहिए। इसी तरह, जिस प्रकार कि वह कुछ ही बाद में, शुद्ध सैद्धान्तिक अध्ययन तथा व्यवहार मे उसकी परिणति के अन्तर को पर्याप्त रूप से मान्यता देता हुआ दिखाई नहीं देता। इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है, कि श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर पर्याप्त रूप से प्रकाश नहीं डाला गया। बाद मे अरस्तू ने इनको सही रूप देने का प्रयास किया है।

प्लेटो ने आगे भी प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो लोग राज्य की रक्षा तथा उसके शासन के लिए तैयार किये जाएँ उन्हें निम्न स्तर की प्रकृति के ससर्ग से पृथक् करके रखना चाहिए, और उन्हे समस्त समुदाय के हित में अपने-आपको अनन्य-रूप से समर्पण करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार का शिक्षण निजी सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन के उन्मूलन का कारण बन जाता है। इसके महत्त्व पर इस पुस्तक मे पर्याप्त रूप मे प्रकाश डाला जा चुका है। इसी मे राज्य मे न्याय की प्रकृति तथा वैयक्तिक लोगों के विभाजन के सामान्य विवेचन को भी सम्मिलित किया गया है। व्यक्तिगत सम्बन्ध मे न्याय की व्याख्या समान स्पष्टता के साथ नहीं की गई है। प्लेटो के विवरण मे इसे आत्म-संयम से पृथक् करना कुछ कठिन है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक व्यक्ति, एक राज्य के अन्य पृथक्-पृथक् सदस्यो से सम्बन्धित भागो के कार्यों को ठीक नही कर सकता, परन्तु इसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

कुछ पाठक प्लेटो के इस कथन पर असतोष व्यक्त कर सकते हैं, कि लोगो को उनके उचित स्थान मे रखने के लिए औषधि के रूप मे झूठ का प्रयोग आवश्यक होता है, परन्तु, वास्तव मे गिरजाघरो ने सभी युगो मे यही किया है, विशेषत तब जबकि वे राज्य के नियन्त्रण मे रहे। गिब्बन के कहने का भी यही तात्पर्य था कि सभी धर्म एक न्यायाधीश के लिए लाभदायक होते हैं। जर्मनी के सम्राट की अपेक्षा अन्य कोई भी लोगो मे पवित्रता को प्रोत्साहन देने के लिए इतना उत्सुक नही होगा। प्लेटो के कथन की वास्तविकता उनके शाब्दिक झूठ और आत्मा के झूठ के भेद मे निहित है। वैधानिक असत्य की

अपेक्षा धार्मिक-असत्य उस सूरत मे खराब नही होता जब कि उनकी प्रकृति तात्त्विक यथार्थता पर बल देने की होती है। उदाहरण के लिए, यह असत्य होगा कि दुष्ट व्यक्तियों को पाताल मे ले जाकर दण्ड दिया जाएगा परन्तु यह सत्य है कि उनके दुष्ट कार्यों का ऐसा परिणाम होता है जो स्वय उनके लिए तथा दूसरों के लिए अतिशय दुर्भाग्य-पूर्ण होते हैं। मानव-जीवन को प्रभावित करने वाले बृहद् प्रश्नों की व्याख्या पर्याप्त रूप से मुश्किल से ही की जा सकती है और मुश्किल से ही अत्यधिक सही भाषा मे उसके उत्तर दिये जा सकते हैं। उनके महत्त्व को समझाने के लिए प्राय. सबसे अच्छा तरीका काल्पनिक-कथाएँ होती हैं। निश्चय ही प्लेटो के सुझाव उन अनेको मतो से अधिक अतिरंजित नही है जो हमारे मध्य प्रचलित है।

शासकीय वर्ग को दी जाने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए,[1] कि होमर के प्रति की गई कठोर आलोचना पर अत्यधिक गभीरता से ध्यान नही देना चाहिए। यह स्मरण रहे, कि प्लेटो के जमाने मे होमर यूनान का केवल शेक्सपीयर ही नही था, वरन् वह वहाँ की धार्मिक और काल्पनिक-कथाओं मे भी व्यापक था। प्लेटो को, होमर को कवि के रूप मे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है, परन्तु वह उसे बाइबिल के रूप मे मान्य तथा बच्चों के लिये कथाओ की सामग्री जुटाने वाले के रूप मे असतोषजनक पाता है। आधुनिक जगत् मे बहुत लोग कथाएँ लिखते हैं, परन्तु शायद उन लोगो के लिए भी प्लेटो का कथन विचारणीय होना चाहिए। जहाँ तक धार्मिक पुस्तकों का सम्बन्ध है, दुर्भाग्य से उन्हे बदलना सरल काम नही होता, पर उनकी आलोचना और व्याख्या अथवा व्याख्यान्तर किया जा सकता है। प्लेटो ने वही कार्य किया है, जो कि आजकल व्याख्याकारों और टीकाकारो का होता है।

नाट्य-कला की आलोचना अधिक गम्भीर रूप मे की गई है। इसका कारण प्लेटो की यही चिन्ता थी, कि राज्य के शासकगण अपनी निष्ठा मे एकमत हो। अनेकपक्षता उनके कर्त्तव्यों के उचित वहन मे घातक होती है। प्लेटो स्पष्टतः कुछ अनिच्छापूर्वक ही (स्वयं एक नाट्यकार होते हुए भी) इस प्रवृत्ति को ग्रहण करने के लिए बाध्य हुआ था। यह विलक्षण बात है कि गेटे ने इसका अनुसरण कर उससे भी कहीं अधिक अनिच्छा का स्पष्ट परिचय दिया है।[2] उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट-रूप में समझा जा सकता है। यदि हमे शासक-वर्ग

---

१. प्लेटो की शैक्षणिक योजना पर कुछ सामान्य आलोचनाएँ प्रो० डेवी की "डिमाक्रेसी एण्ड एज्यूकेशन" पृ० सं० १०२-६ में प्राप्त हो सकती हैं।

२. "विलहेल्म मीस्टरर्स ट्रैवल्स" अ० १४। प्रारंभिक शिक्षा में नाट्य-प्रदर्शन के महत्त्व पर श्री एच० काल्डवेल कुक ने अपनी पुस्तक "दि प्ले वे" में अच्छी तरह से प्रकाश डाला है।

को रखना है तो उनमे कुछ निश्चित मात्रा मे कठोर अनुशासन होना चाहिए। उन्हें चार्ल्स सम्राटो की अपेक्षा क्रॉमवेल अथवा फ्रेडरिक के समान अधिक होना चाहिए। प्लेटो का यह कथन कि शासक वर्ग के लोगों के पास रोगी होने का समय नही होना चाहिए, उसकी कठोरता को चरम-सीमा पर पहुँचा देता है। सुकरात और प्लेटो दोनो में ही कठोर तपस्वीपन के तत्त्व मिलते हैं।[1] यद्यपि सुकरात मे उनकी कुछ अच्छी प्रकृति तथा मस्त कर देने वाले उपहास की मात्रा विशेषत' पाई जाती है, जिसे उन्होंने स्वयं अपने ऊपर प्रयुक्त हो जाने पर भी सकोच नही किया।[2]

शासकीय-वर्ग के परिवार के उन्मूलन के लिए पचम पुस्तक मे अधिक दृढता के साथ आग्रह किया गया है, और फिर महिलाओ की स्थिति पर विचार किया गया है। प्लेटो कभी-कभी महिलाओ को नागरिक अधिकार देने वाला प्रथम नेता समझा जाता है। यह सन्देश स्पष्ट है कि क्या वास्तव मे, उसे यह गौरवपूर्ण सम्मान दिया जाना चाहिए। उसकी दृष्टि लगभग सर्वत्र परिवार से मुक्त होने के अपने एकमात्र निर्णय की ओर रही है और महिलाओ के स्थान-विषयक उसकी अवधारणा 'महिलाएँ निम्नतर कोटि की हैं,' पर आधारित है। उसकी यह विचारधारा टिम्मेअसमे अधिक स्पष्टरूप से सामने आती है, (४२ बी०) वह इस विषय पर बडी विलक्षणता और कुटिलता से कार्यों के स्पष्ट भेदो की अवहेलना करता हुआ-सा प्रतीत होता है। वह छोटे बच्चो की शिक्षा और उनकी देखभाल के लिए तथा गृहस्थ के प्रबन्ध के लिए महिलाओं की विशेष योग्यता का कोई विवरण नही देता। यहाँ तक कि इस विषय मे वह होमर से कुछ सीख सकता है।[3]

४. चतुर्थ-सप्तम पुस्तकों का विवेचन

१. इस पर आगे के उदाहरण के लिए फीडो को विशेष रूप से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। सुकरात की शायद यही सर्वोत्तम विशेषता थी, जिसमें उसने शारीरिक-सहिष्णुता की विलक्षण-शक्ति को सम्बद्ध किया। यह जान पड़ता है, कि वह गरमी अथवा शीत अथवा शराब की किसी भी मात्रा को सह सकता था।

२. इसके अच्छे उदाहरण थेटिटस तथा सिम्पोजियम में प्राप्त किये जा सकते हैं। यह कहा जाता है, कि जब एरिस्टोफान ने उसकी नकल प्रदर्शित की, तो श्रोताओं में से सुकरात उठकर खड़े हो गये, इसलिए कि दर्शक गण असली आदमी की तुलना उसकी नकल के साथ करने के लिए एक अच्छा अवसर प्राप्त कर सकें। कोई मुश्किल से ही यह कल्पना कर सकता है, कि प्लेटो ऐसा कर सकता था। सुकरात के सामान्य चरित्र और प्रभाव का उत्तम वर्णन श्री आर० निकोल क्रोस के द्वारा "सॉक्रेटीज दि मैन एण्ड हिज मिशन" में विद्वत्तापूर्वक तथा लोकप्रिय ढंग से किया गया है, (यद्यपि, वह आधुनिक उदाहरणों के द्वारा शायद दब-सा गया है)।

३. मुख्य रूप से ओडीसी में, यद्यपि वह सेम्युअल बटलर के अनुसार एक महिला द्वारा रचित है।

दार्शनिक-राजा की विचारधारा से हमे भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। प्लेटो वास्तव मे किसी फ्रैडरिक महान् जैसे व्यक्ति के बारे में नही सोचता। मेरे विचार मे उसके तात्पर्य के लिए बर्क तथा प्रेसिडेण्ट विलसन उदाहरण के रूप मे बहुत अच्छे रहेगे, जिन्होंने राज्य की प्रकृति के बारे में उच्चकोटि का अध्ययन किया तथा उससे शासन के लिए एक विचारणीय अनुभूति प्राप्त की। यह ध्यान रखना चाहिए कि 'विशेषज्ञ' शब्द का प्रयोग अनुभूति के इन दो पहलुओं के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति को पैदा करने वाला हो सकता है। कभी-कभी हम लोग विशेषज्ञ से केवल यह तात्पर्य लेते हैं कि वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसने किसी प्रकार के कार्य मे एक लम्बे अर्से तक अभ्यास किया है। इस अर्थ मे तो "लोक-सभा का एक पुराना सदस्य" भी राजनीति मे एक विशेषज्ञ कहलाएगा। दूसरी तरफ, विशेषज्ञ से हमारा तात्पर्य यह होगा कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने कुछ विशेष कार्यों से सम्बन्धित सिद्धान्तों के उच्च व प्रचुर अध्ययन मे अपना जीवन समर्पण कर दिया हो। इस अर्थ मे पेरीक्लीज की अपेक्षा अरस्तू विशेषज्ञ कहलाएगा। इसके अन्तर पर प्रो० डायसी ने अपनी पुस्तक "दी स्टेटमैनशिप ऑफ वर्डसवर्थ" मे अच्छा विश्लेषण किया है। प्रथम अर्थ के अनुसार वर्डस्वर्थ विशेषज्ञ नही था, परन्तु उसने राजनीतिक समस्याओ पर प्रचुरमात्रा मे चिन्तन किया था, और अपने समय की राजनीतिक हलचलो को ध्यानपूर्वक देखा था। प्रो० डायसी ने बलपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि कई महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर, उसने उस समय के व्यावहारिक राजनीतिज्ञो की अपेक्षा अधिक वास्तविक सूझ प्रदर्शित की थी। निस्सन्देह एक विशेषज्ञ वही होता है, जो प्रायः उन दोनो अर्थों मे विशेषज्ञ हो। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि बर्क को उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है, परन्तु प्रो० डायसी ने स्वयं बर्क का एक कथन उद्धृत किया है, जिसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि कभी-कभी व्यावहारिक अनुभूति लगभग अयोग्यता की सूचक होती है। बर्क दृढता से प्रस्तुत करता है,[1] कि "यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि कार्यालयों मे काम करने वाले अत्यधिक निपुण लोगों मे विरला ही ऐसा होता हैं जो विलक्षण तौर पर सुलझे हुए दिमाग का हो। उनकी कार्यालय मे काम करने की आदत, उन्हे किसी कार्य करने में, जिस रूप मे वह व्यवहृत होती रही है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से सोचने के लिए समय नही देती। यह ढग सामान्य अवसरो के लिए अपनाया जाता है, अतः ऐसे लोग जो कार्यालयो मे पलतें हैं, वे तभी तक सही ढग से कार्य करते हैं, जब तक व्यवस्था अपने सामान्य ढंग से चलती रहती हैं; परन्तु जब विशाल जनपथ टूट जाते हैं, बाढ आजाती है, और जब एक नया हलचलमय दृश्य उपस्थित हो जाता है, व्यवस्था

१. "दी स्टेट्समैनशिप ऑफ वर्ड्सवर्थ" पृ० सं० ६३-४ से उद्धृत।

अपने पूर्वानुक्रम को छोड देती है उस समय मानव-जाति के विशाल ज्ञान को रखने वाले ऐसे व्यक्ति की, जो सभी वस्तुओ को विस्तृत रूप से समझने वाला होता है, जिसे कभी कार्यालय ने नही बनाया, अथवा जिसे वह कभी बना भी नही सकता, आवश्यकता पडती है।" ठीक इसी "मानव जाति के ज्ञान" तथा "वस्तुओ की विस्तृत समझ" को ही प्लेटो अपने शासक वर्ग मे देखने के लिए चिन्तित था। उसके मस्तिष्क मे पूर्णतः एक शिक्षित अभिजात्य-तत्र था, और वह उसकी आवश्यकतानुसार शिक्षा की तरक्की के लिए उपाय बताता है। यह उसके शिक्षा सम्बन्धी पहले विवेचन मे एक मोड़ ला देता है। वैज्ञानिक चिन्तन के सस्कारों पर, विशेषतौर से गणित तथा अध्यात्म विज्ञान के द्वारा, विशेष बल दिया जाता है। आधुनिक मस्तिष्क शिक्षणात्मक तथा प्रयोगात्मक विज्ञान और मानव इतिहास के अध्ययन को स्वभावत भुला सकता है, परन्तु प्लेटो को मुश्किल से ही इस तरह की भूल के लिए उपालम्भ दिया जा सकता है। अरस्तू के अधिक समन्वयात्मक मस्तिष्क ने कुछ बीच के खाली स्थानो की पूर्ति करदी है। दूसरी तरफ यह ध्यान देने योग्य बात है, कि प्लेटो ने इस आधुनिक विचार को पहले ही प्रकट कर दिया था कि गणित का प्रारभिक अध्ययन खेल मे होना चाहिए।

प्लेटो का उद्देश्य एक राज्य को समझने का रहा है बजाय इसके कि वह हमारे सामने केवल एक आदर्श को स्थापित करे। यह उसके सविधान के उन रूपो को, जिन्हें वह दोषपूर्ण समझता है, सावधानी से प्रकट करने से स्पष्ट हो जाता है। वह यह कहता है कि दोषपूर्ण पद्धतियां श्रेष्ठतम के पतन से उद्भूत होती हैं, जैसे कि एक अनियमित वक्र-रेखाओं को एक वृत्त से विभक्त प्रतिपादित किया जा सकता है। उनके बारे मे इस प्रकार का दृष्टिकोण प्लेटो जैसे व्यक्ति, जो गणित मे निपुण था, के लिए स्वाभाविक ही है। यह बहुत-से आधुनिक मस्तिष्को को एक प्राकृतिक व्यवस्था पर प्रहार के रूप मे आकर्षित करता है। विकासवाद का सिद्धान्त हमे राज्य के उस चिन्तन की ओर ले जाता है जिसके अनुसार वह धीरे-धीरे एक आदर्शपद्धति की ओर बढता है, इसकी बजाय कि वह धीरे-धीरे उससे अलग हो रहा है। आधुनिक विज्ञान भी यह शिक्षा देता है कि जीवो को यदि किसी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम चुनाव के द्वारा सुरक्षित नही रखा जाता तो उनका ह्रास होता है। उत्थानोन्मुखी प्रवृत्ति की तरह उनको पतनोन्मुखी प्रवृत्ति भी है।[1] प्लेटो ने अपनी चयन और शिक्षा की पद्धति के द्वारा उसी पतनोन्मुखी प्रवृत्ति को रोकने की आशा की थी; और शायद वह अपने इस चिन्तन मे

५. अष्टम एवं नवम पुस्तक का विवेचन

१. इस सम्बन्ध में हक्सले की "इवोल्यूशन ऑफ एथिक्स" का उल्लेख किया जा सकता है।

तत्त्वतः सही था, कि ऐसे ही साधनो द्वारा उनको रोका जा सकता है। निश्चय ही विकासोन्मुखी मार्ग मे उसका अविश्वास नहीं था, उसका यह विश्वास था कि उत्थान के लिए सघर्ष करना अधिक कठिन होता है। उसके लिए निरन्तर चिन्तन तथा निरीक्षण के अभ्यास की आवश्यकता होती है।

उसका यह कथन कि आदर्श-राज्य का पतन संभवतः सौजिनिकी के सिद्धान्त की अवहेलना करने से हो सकता है, जो कम-से-कम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आधुनिक सिद्धान्त है। यहाँ तथा नवम पुस्तक में आनन्द की मात्रा के विवेचन में दोनों जगह वह स्थानीय दशा की गणना के लिए गणित सम्बन्धी फार्मूले प्रस्तुत करता है। मेरे विचार मे उनको गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना आवश्यक नही है। कुछ अंशों मे उनका प्रयोग प्लेटो के कथनानुसार इसलिए किया गया था, कि स्थानीय दशा की गणना करना अधिक कठिन होता है, तथा कुछ अंशो मे जैसा कि मुझे सन्देह है कि पैथागोरस के गणित सम्बन्धी प्रयोगो को कुछ व्यग्योक्ति के रूप मे प्रकट किया गया था।

अपूर्ण सविधान के सम्बन्ध मे, उसके ध्यान मे कुछ ऐतिहासिक परिवर्तन थे, जिनके बारे मे उसे पूर्ण जानकारी थी, और यह अच्छी तरह स्पष्ट है कि वह उस लोकतन्त्र के रूप की, जो उसकी आँखो के सामने था, आलोचना करने के लिए विशेषतः सचेष्ट दिखाई देता है। यह स्मरण रहे कि वह रूप उस लोकतन्त्र की पद्धति के समान नही था जिससे आधुनिक समय मे सामान्यतया हम प्रतिनिधि सरकार की पद्धति को समझते हैं।[1] हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि प्राचीन लोकतन्त्र मे सपूर्ण जनता सरकार मे भाग नही लेती थी। जो लोग हमारे आज के मजदूरों के सन्निकट समझे जाते है, वे एक विचारणीय हद तक दासों के रूप मे समझे जाते थे। अत. साराश मे, प्लेटो जिसे लोकतन्त्र समझता था, उसका अधिकाश मे आजकल के लोग धनिको के शासन के रूप मे वर्णन करेंगे। परन्तु आधुनिक लोकतन्त्र का अधिकांश भाग भी उसी प्रकार का है।[2]

---

१. ब्राइस अमेरिकन कॉमनवेल्थ में प्रजातन्त्र का प्लेटो द्वारा प्रस्तुत चित्र से एकदम भिन्न दिखाता है। वह उसमें यह दिखाता है, (विशेषतः अध्याय ७० में), कि वह एकता की विचारधारा से एकदम ग्रस्त है, इसकी बजाय प्लेटो में खूब विविधता का वर्णन है। आधुनिक समय में प्रजातन्त्र से जो हम अभिप्राय लेते हैं वह मुद्रण-आविष्कार से पूर्व मुश्किल से ही संभव हो सका है। अब भी इसके कार्य में, बहुत सारे लोगों के वास्तविक रूप में ठीक न पढ़ सकने के कारण बहुत अधिक बाधा पहुँचती है।

२. कभी-कभी ऐसा कहा जाता है—उदाहरण के लिए जैसे विशेषतः प्रो. ए. के रोजर्स ने अपनी पुस्तक "स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री आफ फिलासफी" पृ० ७१ में कहा है, कि प्लेटो की अपेक्षा सुकरात अपनी सहानुभूतियों में अधिक प्रजातान्त्रिक है।" ऐसे विचार

प्लेटो की कई बातो के लिए बाद के इतिहास से उदाहरण देना सरल होगा। कथोलिक धर्म के अनुयायियो के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन के साथ, सामन्त-शाही पद्धति प्लेटो के आदर्श सिद्धान्त से कुछ मिलती-जुलती है। यद्यपि एक विशाल पैमाने पर यह देखना रोचक रहेगा कि उसने कई बार शुद्ध सैनिक-शासन को तथा इसके बाद मे बहुतन्त्र और लोकतन्त्र के कुछ रूपो को स्थान दिया है। नेपोलियन के उद्भव का एक ऐसा उदाहरण लिया जा सकता है, जिसमे लोकतन्त्र निरकुशता में बदल जाता है, और आधुनिक समय मे इसके कुछ उदाहरण शायद रूस मे प्राप्त हो सकते हैं। इसमे थोडा-सा सदेह है कि प्लेटो ने इन प्रवृत्तियो के विवरण मे अपनी पूरी सूझ से काम लिया है। परन्तु इस विषय का अधिक विवेचन हम यहाँ नही करेंगे।

यह कहना कि विभिन्न प्रकार के जीवन की प्रसन्नता के मूल्यांकन में हम उन्हीं लोगों के निर्णय को स्वीकार कर सकते हैं, जो सभी प्रकार के आनन्दो की अनुभूति रखते हैं,[१] एक ऐसा कथन था जिसे आगे चलकर जे० एस० मिल ने प्रस्थापित किया। प्लेटो इसका प्रयोग मिल से भी अधिक दृढतापूर्वक कर सकता था, परन्तु वह प्रसन्नता को मूल्य का अन्यतम माप नही समझता था। परन्तु इस पर विचार करना भी अपने क्षेत्र से बाहर की बात है।

नवम पुस्तक के अन्त में प्लेटो निश्चित निर्देश देता है, कि वह अपने आदर्श राज्य को वास्तव में कार्यान्वित होने वाला नही समझता, और वास्तव मे वह इस बात को पहले भी कह चुका था। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसके द्वारा एक अच्छा नागरिक, जो किसी राज्य-विशेष का सुधार करना चाहता है, पथ-प्रदर्शन पा सकता है। और यह भी सकेत किया जा चुका है कि एक अच्छा नागरिक शायद, सामान्यत एक राजनीतिज्ञ नही होगा, वरन् वह राजनीति से अपना सम्बन्ध केवल तभी स्थापित करेगा जब वह राजनीति मे महत्त्वपूर्ण सुधारों का समावेश करने का अवसर देखेगा। इस प्रकार अन्त मे राज्य के जीवन की अपेक्षा व्यक्तिगत जीवन मे ही आदर्श को प्राथमिक रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उपलब्धि पृथक्-पृथक् व्यक्तियो मे नही, अपितु

के लिए बहुत थोड़ा आधार दिखाई देता है। मेरा विचार है, कि सुकरात की सरल प्रकृति थी. और अधिक उदार-मानवता, परन्तु राजनैतिक अर्थ में, ऐसे किसी भेद के लिए कोई आधार नहीं दिखाई देता। रिपब्लिक स्टेट्समैन, 'द ला' की साक्षी पर मैं यह सोचता हूँ, मेरे विचार में यह स्पष्ट है, कि अरस्तू उन दोनों से भी अधिक प्रजातन्त्रिक था। परन्तु—उन सबकी प्रकृति—जहाँ तक प्राचीन विचारों के आधुनिक विचारों के साथ सन्तुलन का प्रश्न है—वे मिल और स्पेन्सर की अपेक्षा कार्लाइल और रस्किन के समान अधिक समव हैं।

२, परन्तु एक्लेसियास्टीज का लेखक, जिसने स्पष्टत. बहुत अधिक कोशिश की थी इनमें से किसी के सबन्ध में कुछ भी नहीं सोचा प्रतीत होता।

सामाजीकृत व्यक्तियों में ही संभव हो सकती है, ऐसे व्यक्ति से जो स्वर्ग के साम्राज्य को अपने हृदय मे संजोये रखता है। इसी पर अगली पुस्तक में फिर बल दिया गया है।

यह कथन कि आदर्श राज्य की पद्धति स्वर्ग में ही स्थापित होती है, आधुनिक पाठक के लिए असंतोषप्रद बात हो सकती है। निस्सन्देह, यह कुछ आलकारिक है, किन्तु यह ग्रीन[1] के उस कथन से तत्त्वत. अधिक सत्य है जिसके अनुसार "इसकी सृष्टि पूर्णतः चेतना मे होती है।" जैसा कि मैं प्लेटो के आशय को समझा हूँ, वह वस्तु की प्रकृति मे व्याप्त है, और धीरे-धीरे उसका अनुसंधान तथा कुछ अंशों मे साक्षात्कार किया जा सकता है।

दशम पुस्तक का विश्लेषण करना अत्यधिक कठिन है, और मेरा विश्वास है कि उसका अर्थ सदैव गलत समझा गया है। पहले तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यदि यह एक परिशिष्ट है, तो वह एक ऐसाहै, जो दो असम्बद्ध विषयों की व्याख्या करता है, और जो अपेक्षाकृत इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण भाग नही है, और यह इस कृति के लिए जो, अन्यथा इतने कलात्मक रूप से संयोजित की गई है, एक विलक्षण-सी बात होगी। परन्तु मैं सोचता हूँ कि विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह तो विचार विमर्श को अपने स्वाभाविक रूप मे लाकर समाप्त कर देना है और यह शेष भाग की अपेक्षा कम कलात्मक नही है।

६. दशम पुस्तक का विवेचन

हमें यह सब समझने मे जो बाधा उपस्थित करती है वह है इस सपूर्ण ग्रंथ में प्रयुक्त कथोपकथन की शैली, जिसे कुछ अशों मे हम पहचानने में असमर्थ रहते हैं। कुछ अंशों में सर्वाधिक बाधक विचार ये रहे हैं कि प्लेटो का मुख्य उद्देश्य एक पूर्ण-राज्य का वर्णन करने का था, और शायद सबसे ज्यादा बाधा प्लेटो द्वारा अपनायी गई विधि में हास्य का पुट है, जिसका मूल्यांकन करने की लोगो मे योग्यता नही है, अथवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि वह सुकरात की विधि है। प्लेटो विशेषतः, जब सुकरात के नाम से लिखते हैं, तो वे गभीर विषय की व्याख्या को हास्य के एक ऐसे आवरण से युक्त कर देते हैं कि उनको समझ पाना कठिन हो जाता है। परन्तु वे लोग जो इस सम्बन्ध मे उसकी विधि से परिचित है, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि जब वह किसी विशेष हास्यात्मक शैली से समृद्ध होकर आगे बढता है तो वह अपेक्षाकृत एक गंभीर उद्देश्य को सुलझाता है, अथवा उसे कोई गभीर विषय सुलझाना पडता है, तो वह एक हास्यात्मक शैली को अपनाता है। दशम पुस्तक के अन्त मे हमारा परिचय

१. "प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लीगेशन्स," इस सम्बन्ध में प्रो० बोसाके द्वारा सत्य और झूठ के बीच में प्रस्तुत भेद का उल्लेख किया जा सकता है—देखिए "सोशल एण्ड इन्टरनेशनल आइडियाज" अध्याय ५।

अमरत्व के सिद्धान्त से करवाया जाता है, जिसके बारे मे हम उसकी अन्य रचनाओ द्वारा यह समझ पाते हैं कि प्लेटो इसे अत्यधिक महत्त्व देता है। परन्तु यह कुछ आश्चर्यजनक-सा लगता है कि उसने इस सिद्धान्त का समावेश ऐसी पुस्तक मे किया है जो मुख्यत राज्यो के सविधान से सम्बन्धित है। परन्तु क्या यह मुख्यत राज्यो के सविधान से ही सम्बन्धित है ? मेरे विचार मे प्लेटो ने बताया है कि यह मुख्यत मानव-जीवन मे औचित्य के मूल्य से सम्बन्धित है, और कुछ अशो मे,—और शायद अत्यधिक स्पष्ट रूप से —राज्य के जीवन मे देखा जा सकता है और उसका पूर्ण साक्षात्कार आत्मा के विकास मे किया जा सकता है।

परन्तु यह पूछा जा सकता है कि नाट्य अथवा अनुकरणात्मक कला का उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? हमारे लिए शायद कुछ नही, परन्तु प्लेटो के लिए निश्चय ही बहुत अधिक है। राज्य सम्बन्धी पूरा-का-पूरा विवरण विशाल रूप से, चित्रात्मक और नाट्यात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। हमारे सामने प्रत्येक मोड पर काल्पनिक चित्र उपस्थित किये गए है—नवम पुस्तक मे भी कम मात्रा मे नही—और, प्लेटो भी व्याख्या की इस असतोषपूर्ण पद्धति के प्रति ध्यान आकर्षित करने के लिए उत्सुक है। इसी को प्रस्तुत करने के आशय से वह यह आग्रह करता है कि कला का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, परन्तु उसका वह कार्य अभिव्यजना करने का है, न कि सीधा-सादा शाब्दिक विवरण प्रस्तुत करना है। शिक्षा मे कला के स्थान का विवरण देते समय उसने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। परन्तु—अब, वह उस पर फिर नये ढग से बल देता है और वास्तविक कला के विविध रूपो पर विचार करते हुए उसे समझाने का प्रयास करता है। मेरे विचार मे उसके उद्देश्य को, यहाँ पर सामान्यतया गलत समझा गया है। यह निश्चय ही कुछ परेशानी की बात होगी, (विशेष तौर से, यदि हम यह भुला दें कि यहाँ सुकरात को बोलते हुए माना गया है), कि कला के अभिव्यजनात्मक कार्य के अधिक विधेयात्मक विचार की उत्पत्ति के स्थान पर वह अपेक्षाकृत कलात्मक उत्पादन के अधिक शुद्ध अनुकरणात्मक रूपो की निषेधात्मक आलोचना की उत्पत्ति करता है। इसके अलावा अब, वह उन पर अपने प्रहार मे हेरोड को भी अतिक्रमित करता हुआ प्रतीत होता है, वह न केवल अधिक यथार्थवादी नाट्य-कार, जो अपने सही मार्ग पर होते हैं, उन्ही का ही परित्याग करता है, वरन् होमर तथा अन्य सभी कलाकारो को भी, जहाँ तक वे केवल या मुख्य रूप से अनुकरणात्मकला को अपनाते हैं। प्रत्येक पाठक अनुभव करता है कि इसमे बहुत कुछ अतिरजन है। परन्तु निश्चय ही आश्चर्य की बात यह नही है कि प्लेटो ने यह इतना सब लिखा है, वरन् अपेक्षाकृत यह समझा

जाना कि जो बात प्रत्येक पाठक के लिए स्पष्ट है, वह प्लेटो के लिए स्वय स्पष्ट नही थी, और कि उसकी यह प्रवृत्ति भी नही थी, कि उसके पाठको के लिए यह स्पष्ट हो। प्लेटो की आदत स्पष्ट रूप मे यह कहने की नही थी कि "यह एक मजाक है," अथवा "यह एक पौराणिक कथा है" अथवा यह कि यह भ्रान्तिपूर्ण है। परन्तु मेरे विचार में एक व्यक्ति जो उसकी कृति को पढता है, अथवा बहुत सारे लोग जो उसकी कृतियों को पढते हैं, वे—चाहे जर्मनी के टीकाकार ही क्यों न हो, वे सब उसमें एक मज़ाक अथवा भ्रान्ति पाएँगे ही। निश्चय ही, उसने अपने हास्यात्मक उद्देश्य को इस विशेष बात तक नही छिपाया है, बल्कि इसे और अधिक स्पष्ट करके बताने के लिए विशेष चेष्टा की है। वह न केवल बेहूदा बातें इकट्ठी करता चला जाता है, वह न केवल यह प्रकट करता है कि कविगण उसके समर्थन के लिए पर्याप्त समर्थ हैं, वरन् वह वास्तव मे, अपने होमर-सम्बन्धी भद्दी मज़ाक को अपने आदर्श सिद्धान्त सम्बन्धी भद्दी मज़ाक के साथ समन्वित कर देता है। उसने इसे एक ऐसा अर्थ दिया है, कि वास्तविक मच एक ही है और उसे ईश्वर ने बनाया है। यदि प्लेटो ने कभी यह समझा होता कि उसका तात्पर्य कुछ इसी तरह का अर्थ देता है (जिस पर मैं सन्देह करने का साहस करता हूँ); निश्चय ही उसने कम-से-कम उस समय तो नहीं समझा था जब उसने रिपब्लिक को लिखा था। मेरे विचार मे उसके कहने का तात्पर्य केवल यही था कि उसके आदर्श सिद्धान्त का ऐसा विश्लेषण करना, होमर के उस विश्लेषण के समान ही होगा, जिस पर कि वह विचार कर रहा था। वह साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रचना पर आक्षेप की वर्षा करता है। उसका पूरा-का-पूरा ग्रंथ मुझे ऐसा लगता है, जैसे, कि वह नितान्त स्पष्ट रूप से 'कोलाहलपूर्ण मज़ाक'—या 'सुहावनी मूर्खता' का एक दृश्य हो—किन्तु उसके लिखने की विधि एकदम सुकरात की पद्धति के अनुसार है, तथा वह एक गम्भीर उद्देश्य को लिये हुए है। सुकरात अतिरंजित सुखान्त नाटकों के जमाने मे रहते थे, जो सब उनकी खिल्ली उड़ाने के लिए लिखे जाते थे तथा सुकरात कदाचित् यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह उन सब का प्रत्युत्तर देने के लिए पूर्ण रूप से समर्थ था। वास्तव मे, वह यही हम से कहता भी है कि उसका यही उद्देश्य था। प्लेटो (अथवा सुकरात) का होमर के साथ कोई वास्तविक झगड़ा नही था; यद्यपि वह अपेक्षाकृत दाते अथवा गेटे-जैसे कवि को प्राथमिकता देता। उसका झगड़ा वास्तव में कला में भ्रान्त-यथार्थवाद के साथ था (जिस यथार्थवाद के हमे, अपने समय में भी बहुत नमूने मिल जाएँगे) और उससे भी ज्यादा उसका झगड़ा शायद, कला में यथार्थ शुभ का मिथ्या रूप से यथार्थ विश्लेषण करने के साथ था। वह उस मूर्खता पर प्रकाश डालना चाहता है, जिसमे यह मान लिया जाता है, कि यथार्थ काव्य अथवा

र्थ कला सामान्यतया शुद्ध रूप से अथवा मुख्य रूप से अनुकरणात्मक होता है। यद्यपि वह यह मानता था (जैसा कि मेरे विचार मे प्रत्येक को मानना ही चाहिए) कि सर्वोत्तम कला भी अनुकरण के तत्त्व से मुक्त नही होती, परन्तु उसका विश्वास, मैं सोचता हूँ, केवल उसी अर्थ मे था, जिसमे शेक्सपीयर विश्वास करता था, और जिसे उसने (लगभग प्लेटो की ही भाषा मे) हेमलेट के मुँह से व्यक्त किया है,—"अभिनय का उद्देश्य, जिसका अन्त, दोनो पहले और अब, भूत और वर्तमान मे, यह प्रतिपादित करना होता है, जैसे, वह प्रकृति को दर्पण दिखाना, गणो को स्वय अपनी आकृति का आभास कराना, अपनी स्वय की प्रतिमा का तिरस्कार करना और उसी युग तथा उसी काल की अपनी पद्धति और दबावो को प्रकट करना होता है।"

प्लूटार्क का कहना है[1] कि एक स्पार्टा निवासी को जब यह कहा गया, कि वह एक कलाकार को एक बुलबुल की तरह गाते हुआ सुन सकता है, तो उसने उत्तर दिया, "मैं ने तो स्वय बुलबुल को गाते सुना है।" इसी तरह का समान उत्तर कला के सभी दावो के प्रति दिया जा सकता है। यदि कला का उद्देश्य केवल उन वस्तुओ का अनुकरण करना ही है, जो देखी या सुनी जा सकती हैं, और प्लेटो का होमर पर, अथवा होमर के कुछ विश्लेषणकर्त्ताओ पर (जो उसी प्रकार मूढ और पाण्डित्यपूर्ण रहे दीखते है, जैसे कोई भी आधुनिक समय मे किये गए चुभते हुए मधुर व्यग्य का आशय इसी बात को स्पष्ट करना है। यह सही है कि कीट्स की 'ओड टू दी नाईटिंगेल' अथवा शैले की 'स्काईलार्क' मे एक पक्षी के गीत का अनुकरण है, परन्तु कवि वास्तव मे हमे जो कुछ प्रदान करता है, वह गाने की ध्वनि नही, वरन्, गाने के द्वारा जिन विचारो और भावनाओ का अभिव्यजन होता है, उन्हे प्रदान करता है। मैं सोचता हूँ कि प्लेटो का अभिप्राय भी काव्य के इसी कार्य से था। काव्य वास्तव मे उन सब वस्तुओ को स्थानीय बस्तियो और नामो के साथ जोड देता है, जो वायवीय शून्यता से सम्बन्धित नही होते, वरन् अदृश्य और अश्रव्य होते है तथा उन्हे शुद्ध तार्किक ढँग से वर्णित या सिद्ध नही किया जा सकता। प्लेटो यह प्रदर्शित करना चाहता है, जैसा कि अन्यत्र कही किया भी गया है, कि किस प्रकार के काव्य को दर्शन के लिए और दर्शन को काव्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, और अवश्य ही यह कहा जा सकता है, कि आधुनिक कविगण इस पाठ को सीखने मे तो कम-से-कम पीछे नही रहे हैं। क्या दाते और गेटे, स्पेन्सर और वर्ड्स वर्थ तथा शैले और टिनसन (दूसरो का नाम न भी लें, तो) सब-के-सब-कुछ अशो मे, उसके शिष्य नही हैं ?

इस प्रकार से, काव्य तथा कला के अन्य रूपो के सही कार्य के विषय मे

१. लाइकरगस की जीवनी

उसका विश्वास क्या है, यह प्रदर्शित करने के उपरान्त वह उसे समझाने के लिए आत्मा की शाश्वतता के सम्बन्ध मे एक पौराणिक कथा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। हमे उसके इस वर्णन में दाते की 'डिवाइन कामेडी' में वर्णित विषय का यद्यपि थोडा, किन्तु, कुछ अंशों मे, अधिक गहन और अभिव्यञ्जनात्मक रूप का पूर्वाभास मिल जाता है। प्लेटो ने अपनी महान् समस्याओ की व्याख्या करने मे इस प्रकार की पौराणिक कथा-पद्धति का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया है, और उसका महत्त्व अब बहुत अच्छी तरह से स्वीकार किया गया है शायद मुख्यत उसी समय से जब मे इस विषय पर प्रो० जे' एस० स्टिवार्ट की श्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित हुई है। यहाँ हम इस विशेष उदाहरण पर विस्तृत विचार करने के लिए आगे नही बढेंगे, क्योंकि इसका सामान्य उद्देश्य पर्याप्त स्पष्ट है। उसका ध्येय यह है कि इस अस्तित्वशील विश्व मे, अथवा अस्तित्व मे आने की सम्भावना वाले किसी भी विश्व मे सच्चा व्यक्ति, सामान्यतया, किसी भी राजनैतिक कार्य मे सीधे रूप से भाग लेने मे अथवा लगभग अपनी हृदय की इच्छा के अनुसार समाज के जीवन को आकार देने मे समर्थ नही होगा, कम से-कम उसे अपने आपको जिस राज्य विशेष मे वह रह रहा है, उसकी अपेक्षा स्वर्ग के राज्य का नागरिक समझना होगा, और ऐसे राज्य का सदस्य बनने पर ही हम यह दिखाने की आशा कर सकते हैं, जो अन्तिम रूप से विश्वास-दायक हो, कि उसका जीवन वास्तव में आनन्दपूर्ण और विजयी है। हमे तब उसे किसी एक राज्य के सदस्य के रूप मे नही वरन् समस्त ब्रह्माण्ड के सदस्य के रूप मे समझना होगा। प्लेटो का कहना तो यह है कि सदस्य होने के नाते उसका आनन्द इस बात पर निर्भर करता है कि वह विकासोन्मुख मार्ग पर है, और विश्व के अन्तिम ध्येय के साथ उसका सामञ्जस्य है। वह उसे पौराणिक कथा के रूप मे प्रकट करता है, क्योकि इस विषय पर उसका अपना कोई निश्चित सिद्धान्त नही है हालाकि उसका यह दृढ विश्वास है, कि वैयक्तिक आत्मा का जीवन उस विधि का एक आवश्यक अग है जो अपने-आपमे शाश्वत है। अपने इसी दृढ-विश्वास के साथ वह बड़ी सूक्ष्मता और भव्यता के साथ कला, हास्य, राज-नयज्ञता, धर्म और दर्शन के विलक्षण समन्वय से प्रस्तुत विषय को समाप्त करता है। इस प्रकार वह एक ऐसा आश्चर्ययुक्त समन्वय प्रस्तुत करता है, जो विश्व ने कभी देखा नही।

परिशिष्ट (ख)

सुकरात तथा प्लेटो पर टिप्पणी

अपने पूर्वलिखित विवरण मे मैंने कई स्थलो पर ठीक से समझ न पाने के कारण, यह उल्लेख किया है कि यह बताना कठिन है कि 'रिपब्लिक' का कितना वर्ण्य-विषय सुकरात से सम्बन्धित है और कितना प्लेटो से। यह एक ऐसा विषय है, जिसकी खूब व्याख्या की गई है, फिर भी यह कहना कठिन है कि हम किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच सके हैं। कभी-कभी हम वक्ता को प्लेटोक्रेटीज[1] कहने का लोभ सवरण नही कर पाते, क्योकि अपनी अनभिज्ञता के कारण हम एक दूसरे को पहचान पाने मे असमर्थ रहे हैं। यहाँ मेरा अभिधेय, जिसे मैं प्रकट करना चाहता हूँ और जिसकी ओर मैं सकेत भी कर चुका हूँ, वह यह है कि इन मे से कोई भी वास्तविक वक्तव्य कभी सुकरात द्वारा दिया गया था ऐसा हम मान लेने के अधिकारी नही हैं। परन्तु पहली पुस्तक मे वह इस प्रकार से बोलता हुआ प्रस्तुत किया जाता है, जिस प्रकार वह वास्तव मे बोला करता था, और शेष कथोपकथन मे सर्वत्र उसके बोलने के लहजे की अधिक या कम मात्रा मे रक्षा की गई है, परन्तु उसमे सोचने और बोलने के प्रकार का एक ऐसे ढग से समावेश करवाया गया है, जो अपेक्षाकृत स्वय प्लेटो का ही है। मैं इस निर्णय पर प्रधान रूप से उसकी शैली के ही आधार पर पहुँच सका हूँ। सिम्पोजियम मे एलसीवियाडीज को सुकरात की शैली का वर्णन करते हुए निम्नलिखित

---

१. इसमें कोई महान् दोष नहीं होगा (प्लेटो विस्तृत अर्थ में) एक उपनाम से अधिक कुछ नहीं था। मैं सोचता हूँ कि ग्लोकन (नीला) भी एक उपनाम है। उसके पात्र के बारे में यह सोचते हुए मजा आता है, कि वह कथोपकथन में गाढी नीली आँखों वाला एक उत्सुक नवयुवक था। यह स्मरण रहे कि ग्लोकन और एडिमेण्टस प्लेटो के भाई थे। यह बताया जा सकता है कि कथोपकथन में सभी पात्र वास्तविक व्यक्ति थे। प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्टोक्लीज था। यूनानी लोगों के कुछ नाम अपने अर्थों में विलक्षण रूप से सारगर्भित है, जैसे सॉक्रेटीज (सुरक्षित शक्ति) एरिस्टोक्लीज (भविष्यकला की उत्तम वाणी), एरिस्टोटलीज (उत्तम अन्त) इनके साथ इसमें एरिस्टोफानीज (उत्तम-प्रदर्शन) को भी जोड़ा जा सकता है।

शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, "उसके शब्द जब तुम पहली बार सुनते हो तो वे उपहासास्पद से लगते हैं। वह अपने चारो ओर ऐसी भाषा का परिधान लपेटता है जो विलासी 'वन-देवता' की त्वचा के समान होता है, क्योंकि उसकी बातें गधे लादने वालों और लुहारों तथा मोचियो और चमारों की-सी होती हैं, और वह हमेशा एक ही बात को उन्ही शब्दो मे दोहराता है, जिससे कि एक ऐसा मनुष्य भी जो उसे नही जानता, उसका उपहास करने के लिए प्रवृत्त हो जाए; परन्तु जो पर्दे को हटाकर देखता है कि अन्दर क्या है, वह समझ पाता है कि वे ऐसे ही सारगर्भित शब्द हैं, जो अपने में गम्भीर एव पवित्र अर्थों को धारण किये हुए हैं, जो ठीक होते हैं तथा जो एक भले और आदरणीय मानव के सम्पूर्ण कर्त्तव्यो को प्रकट करने का विशालतम सम्भाषण हैं।"[1] मेरे विचार मे हम यह मान सकते हैं कि सुकरात के बोलने के ढग का यह एक सुन्दर रूप मे सही विवरण है। यह सिनोफन के द्वारा प्रस्तुत किये गए अभिलेखो से तथा प्लेटो के कथोपकथन के एक विशाल भाग, जिसमे 'रिपब्लिक' की प्रथम पुस्तक को सम्मिलित किया गया है, सर्वत्र ठीक संगत बैठता है। परन्तु बाद की अधिकांश पुस्तको मे तथा अन्य कथपोकथनों मे ऐसा बहुत कुछ है, जिन पर निश्चय ही इस वर्णन को प्रयोग मे नही लाया जा सकता। मेरे विचार मे इस कथोपकथन मे प्रयुक्त अधिक समृद्ध स्वय प्लेटो की अपनी शैली है। यह, मैं इसलिए कहता हूँ कि वह अपने अन्य नेतृत्त्व करने वाले पात्रों को कभी-कभी जब वे अधीर हो उठते हैं, तो उसी शैली मे बुलवाता है। ठीक वैसे ही, जैसे कि ऐसी ही परिस्थितियों मे शेक्सपीयर अपने पात्रों को स्वय अपनी शैली प्रदान करता था। इस विश्लेषण के साथ मैं इतना स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि मेरी सामान्य धारणा इसकी शैली पर आधारित है और इसकी पुष्टि उसकी विधि और रात में होने व ले परिवर्तन से होती है किन्तु इससे अधिक मे इस जटिल प्रश्न पर कोई फैसला देने योग्य अपने आपको नही समझता। इस विषय पर प्रो० बर्नें तथा ए० ई टेलर[2] की रचनाओ का उल्लेख किया जा सकता है।

---

१. यह इंगलिश में जावेट का अनुवाद है। मेरे विचार में उनका यह अनुवाद अच्छा तो नही है, किन्तु मैं इसे बदलने का साहस भी नहीं कर सका।

२ 'वेरिया सोक्रेटिका' तथा प्लेटो की 'बायोग्राफी ऑफ सॉक्रेटीज'। प्रो० टेलर के विचार मुझे कुछ अतिरंजित प्रतीत होते है। श्री जी० सी० फील्ड की 'सॉक्रेटीज एण्ड प्लेटो' पुस्तक में उसकी कुछ आलोचनाएँ हैं। इसी प्रकार की आलोचनाएँ श्री निकोल क्रोस की पूर्व उद्धृत पुस्तक में भी हैं। उस विषय पर को कुछ ज्ञात था, उसे संक्षेप में प्रो० बर्नेट की ग्रीक फिलासफी में उत्कृष्ट तथा बहुत अच्छे संतुलनात्मक ढग से प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट (ग)

पुस्तक-सूची

निम्नलिखित पुस्तकें इस विषय पर अध्ययन के लिए उल्लेखनीय हैं :

१. सामान्य समाज-शास्त्र पर—

J J Findlay, An Introduction to Sociology for Social Workers and General Readers.

E. A. Ross, Foundations of Sociology

E. Barker, Political Thought from Spencer to the Present day

G P. Gooch, Political Thought from Bacon to Halifax

२. सामाजिक पहलू मे मानव-प्रकृति पर—

W. McDougall, An Introduction to Social Psychology.

G Wallas, Human Nature in Politics.

Bhagavan Das, The Science of Social Organization.

Rudolf Steiner, The Three fold State.

३. सामाजिक एकता पर—

H. J W Hetherington and J H Muirhead, Social Purpose

W. McDougall, The Group Mind

G. Wallas, Our Social Heritage.

Sir Henry Jones, The Principles of Citizenship

E M. White, The Philosophy of Citizenship

J. M E. McTaggart, Studies in Hegelian Cosmology (chap vii)

४. सामाजिक संस्थाओ पर—

R M MacIver, Community.

F. H Bradley, Ethical Studies

G D. H Cole, Social Theory

Ramiro de Maeztu, Authority, Liberty and Function.

५. परिवार पर—

W Goodsell, The Family as a Social and Educational Institution.

W F. Lofthouse, Ethics and the Family.

Ellen Key, The Women Movement.
Love and Marriage.
The Century of the child.
W.C.D. and C.D. Whetham, The Family and the Nation.

६. शैक्षणिक संस्थाओ पर—

J. Dewey, Democracy and Education.
J J. Findlay, The School.
A. Ferriene, L' Autonomie des Ecoliers.
J. M. Guyau, Education and Heredity.
J. MacCunn, The Making of Character.
M. E. Sadler, Moral Instruction and Training in Schools.
S. G. Hobson, National Guilds and the State.

७. औद्योगिक-संस्थाओं पर—

S. J. and B. Webb, Industrial Democracy.
G. D. H. Cole, The World of Labour.
B. A W. Russell, Roads to Freedom.
J.G. Brooks, Labour's Challenge to the Social Order.
G. C. Field, Guild Socialism.
W. Smart, Second Thoughts of an Economist.
Sir H. Jones, The Working Faith of the Social Reformer.
A. J. Penty, A Guildsman's Interpretation of History.
J. W. Scott, Syndicalism and Philosophical Realism.

८. राज्य पर—

B. Bosanquet, The Philosophical Theory of the State.
J. H Muirhead, The Service of the State.
M. P. Follett, The New State.
E. Jenks, The State and the Nation.
L. T. Hobhouse, The Metaphysical Theory of the State.
F. W. Maitland, Collected Papers, Vol III
C. D. Burns, Government and Industry.
D. G. Ritchie, Principles of State Interference.

९. न्याय पर—

W. Jethio Brown, The Underlying Principles of Modern Legislation.
D. G. Ritchie, Natural Rights.
L. Duguit, Law in the Modern State.

१०. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर—

J. Westlake, International Law.
Collected Papers on Public International Law.
G. L. Dickinson, The Choice Before Us.

L. S. Woolf, International Government
The Framework of a Lasting Peace.
I A. Hobson, Problems of a New World.
T. Veblen, The Nature of Peace.
J J Rousseau, A Lasting Peace (स० C. E. Vaughan)
I. Kant, Perpetual Peace

११ धर्म पर—

B Bosanquet, What Religion Is.
A Clutton-Brock, Studies in Christianity.
J. N Figgis, Churches in the Modern State.
S. Coit, National Idealism and a State Church.
E J Urwick, The Message of Plato
E Caird, Social Philosophy and Religion of Comte.
J B Crozier, Civilization and Progress.

१२ परम आदर्शों पर—

F J. C. Hearnshaw, Democracy at the Crossways
Prince Kropotkin, Fields, Factories and Workshops.
B A. W. Russell, Principles of Social Reconstruction
Sir H Jones, Idealism as a Practical Creed.
B Bosanquet, Social and International Ideals.
C D. Burns, Political Ideals
E Carpenter, The Healing of the Nations,
Dean Inge, Outspoken Essays.
B. Brandford, Janus and Vesta.
P. Geddes and G. Slater, Ideas at War.
J. B Crozier Sociology applied to Practical Politics.
A. J Penty, Old Worlds for New.
W. H. Dawson, After-War Problems.
Lord Leverhulme, The Six-hour Day and Other Industrial Questions.